एम.ए. उत्तरार्द्ध

इतिहास, आठवां प्रश्नपत्र

भारत में राज्य

(STATES IN INDIA)

मध्यप्रदेश भोज (मुक्त) विश्वविद्यालय – भोपाल

MADHYA PRADESH BHOJ (OPEN) UNIVERSITY - BHOPAL

Reviewer Committee

1. Dr. Manisha Sharma
   Associate Professor
   Govt. (P.G.) College, Beena (M.P.)

2. Dr. Mamta Chansoria
   Associate Professor
   Govt. MLB College, Bhopal (M.P.)

3. Dr. Amita Singh
   Associate Professor
   Govt. MLB College, Bhopal (M.P.)

Advisory Committee

1. Dr. Jayant Sonwalkar
   Hon'ble Vice Chancellor
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (M.P.)

2. Dr. L.S. Solanki
   Registrar
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (M.P.)

3. Dr. L.P. Jharia
   Director
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (M.P.)

4. Dr. Manisha Sharma
   Associate Professor
   Govt. (P.G.) College, Beena (M.P.)

5. Dr. Mamta Chansoria
   Associate Professor
   Govt. MLB College, Bhopal (M.P.)

6. Dr. Amita Singh
   Associate Professor
   Govt. MLB College, Bhopal (M.P.)

COURSE WRITERS

Dr Jugalkishor V Dubey, Assistant Professor, Department of History, Moolji Jaitha College (Autonomous), Jalgaon, Maharashtra
Units (1-5)

Copyright © Reserved, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal

All rights reserved. No part of this publication which is material protected by this copyright notice may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the Registrar, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal.

Information contained in this book has been published by VIKAS® Publishing House Pvt. Ltd. and has been obtained by its Authors from sources believed to be reliable and are correct to the best of their knowledge. However, the Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal, Publisher and its Authors shall in no event be liable for any errors, omissions or damages arising out of use of this information and specifically disclaim any implied warranties or merchantability or fitness for any particular use.

Published by Registrar, MP Bhoj (Open) University, Bhopal in 2020

VIKAS®

Vikas® is the registered trademark of Vikas® Publishing House Pvt. Ltd.

VIKAS® PUBLISHING HOUSE PVT. LTD.
E-28, Sector-8, Noida - 201301 (UP)
Phone: 0120-4078900 • Fax: 0120-4078999
Regd. Office: A-27, 2nd Floor, Mohan Co-operative Industrial Estate, New Delhi 1100 44
• Website: www.vikaspublishing.com • Email: helpline@vikaspublishing.com

SYLLABI-BOOK MAPPING TABLE

भारत में राज्य

Syllabi	Mapping in Book
इकाई–1 राज्यों के गठन की ओर आद्य राज्य उत्तर वैदिक कालीन प्रमुख क्षेत्र तथा उनका स्वरूप बुद्ध काल के प्रादेशिक राज्य मौर्य साम्राज्य : सामाजिक–आर्थिक आधार	**इकाई 1** : उत्तर वैदिक काल में राज्य और मौर्य साम्राज्य का सामाजिक–आर्थिक आधार **(पृष्ठ 3–42)**
इकाई–2 गुप्त साम्राज्य का उत्थान गुप्त साम्राज्य का प्रशासनिक संगठन गुप्त साम्राज्य की सहायक प्रणाली गुप्त साम्राज्य के सामाजिक–आर्थिक सुधार दक्षिण भारत में राज्य गठन : प्रमुख क्षेत्र एवं चोल राज्य प्रमुख क्षेत्र दक्षिण का चोल राज्य	**इकाई 2** : गुप्तकालीन साम्राज्य **(पृष्ठ 43–88)**
इकाई–3 दिल्ली सल्तनत के अंतर्गत राज्य की प्रकृति और कार्य राज्य के इस्लामी सिद्धांत विजयनगर राज्य : संरचना, विशेषताएं और प्रकृति	**इकाई 3** : दिल्ली सल्तनत, विजयनगर और इस्लामी राज्य : प्रकृति, कार्य एवं सिद्धांत **(पृष्ठ 89–144)**
इकाई–4 मुगल राज्य के प्रशासनिक संस्थान मनसबदारी प्रणाली सामाजिक–आर्थिक आधार औपनिवेशिक राज्य : राजनीतिक अर्थव्यवस्था, राज्य संयंत्र एवं वैधीकरण	**इकाई 4** : मुगल राज्य एवं औपनिवेशिक राज्य **(पृष्ठ 145–236)**
इकाई–5 भारत में राष्ट्र–राज्य के विकास की अवस्थाएं उपनिवेश शासनकाल से पूर्व भारत राष्ट्र निर्माण के लिए आवश्यक तत्व भारत में राष्ट्रीयता की भावना का निर्माण स्वतंत्र भारत में राज्य निरंतरता एवं परिवर्तन	**इकाई 5** : भारत में राष्ट्र–राज्य का विकास एवं स्वतंत्र भारत में राज्य **(पृष्ठ 237–265)**

विषय–सूची

परिचय **1–2**

इकाई 1 उत्तर वैदिक काल में राज्य और मौर्य साम्राज्य का सामाजिक–आर्थिक आधार 3–42

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 राज्यों के गठन की ओर
  1.2.1 आद्य राज्य
  1.2.2 उत्तर वैदिक कालीन प्रमुख क्षेत्र तथा उनका स्वरूप
1.3 बुद्ध काल के प्रादेशिक राज्य
1.4 मौर्य साम्राज्य : सामाजिक–आर्थिक आधार
1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.6 सारांश
1.7 मुख्य शब्दावली
1.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 2 गुप्तकालीन साम्राज्य **43–88**

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 गुप्त साम्राज्य का उत्थान
  2.2.1 गुप्त साम्राज्य का प्रशासनिक संगठन
  2.2.2 गुप्त साम्राज्य की सहायक प्रणाली
  2.2.3 गुप्त साम्राज्य के सामाजिक–आर्थिक सुधार
2.3 दक्षिण भारत में राज्य गठन : प्रमुख क्षेत्र एवं चोल राज्य
  2.3.1 प्रमुख क्षेत्र
  2.3.2 दक्षिण का चोल राज्य
2.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.5 सारांश
2.6 मुख्य शब्दावली
2.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.8 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 3 दिल्ली सल्तनत, विजयनगर और इस्लामी राज्य : प्रकृति, कार्य एवं सिद्धांत 89–144

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 दिल्ली सल्तनत के अंतर्गत राज्य की प्रकृति और कार्य
3.3 राज्य के इस्लामी सिद्धांत
3.4 विजयनगर राज्य : संरचना, विशेषताएं और प्रकृति
3.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.6 सारांश
3.7 मुख्य शब्दावली

3.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.9 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 4 मुगल राज्य एवं औपनिवेशिक राज्य **145–236**

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 मुगल राज्य के प्रशासनिक संस्थान
4.2.1 मनसबदारी प्रणाली
4.2.2 सामाजिक–आर्थिक आधार
4.3 औपनिवेशिक राज्य : राजनीतिक अर्थव्यवस्था, राज्य संयंत्र एवं वैधीकरण
4.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.5 सारांश
4.6 मुख्य शब्दावली
4.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.8 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 5 भारत में राष्ट्र–राज्य का विकास एवं स्वतंत्र भारत में राज्य **237–265**

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 भारत में राष्ट्र–राज्य के विकास की अवस्थाएं
5.2.1 उपनिवेश शासनकाल से पूर्व भारत
5.2.2 राष्ट्र निर्माण के लिए आवश्यक तत्व
5.2.3 भारत में राष्ट्रीयता की भावना का निर्माण
5.3 स्वतंत्र भारत में राज्य
5.4 निरंतरता एवं परिवर्तन
5.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.6 सारांश
5.7 मुख्य शब्दावली
5.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.9 सहायक पाठ्य सामग्री

परिचय

टिप्पणी

यह पुस्तक 'भारत में राज्य' विश्वविद्यालय द्वारा निर्धारित एम.ए. इतिहास (उत्तरार्द्ध) के पाठ्यक्रम के अनुरूप लिखी गई है। इस पुस्तक में प्राचीन काल के भारतीय राज्यों के स्वरूप एवं सांस्कृतिक विविधता का वर्णन किया गया है। प्राचीन भारतीय राज्य स्वयं में एक राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक संस्था को रूपायित करते थे। इन सभी आयामों के परिप्रेक्ष्य में भारतीय राज्यों के स्वरूप को समझा जा सकता है। राज्य और समाज का स्वरूप प्रगतिशील इतिहास के साथ–साथ निरंतर विकसित होता रहा है। इस पुस्तक में भारतीय राज्यों की उत्पत्ति, प्रकृति एवं उत्तरोत्तर विकास का विस्तृत वर्णन किया गया है।

यह पुस्तक पांच इकाइयों में विभक्त है। प्रत्येक इकाई के आरंभ में विषय की विवेचना करने से पूर्व उसके निहित उद्देश्यों को स्पष्ट किया गया है। इकाइयों के बीच–बीच में 'अपनी प्रगति जांचिए' के प्रश्नों के माध्यम से विद्यार्थियों को अपनी योग्यता को परखने का अवसर प्रदान किया गया है। सभी इकाइयों के अंत में पाठ का सारांश, मुख्य शब्दावली तथा लघु व दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न भी दिए गए हैं।

पहली इकाई के अंतर्गत उत्तर वैदिक काल में राज्यों के निर्माण के अध्ययन के अलावा बुद्ध काल के प्रादेशिक राज्य और मौर्य साम्राज्य के सामाजिक–आर्थिक आधारों का विस्तृत विवेचन किया गया है।

दूसरी इकाई गुप्तकालीन साम्राज्य पर केंद्रित है, जिसमें गुप्त साम्राज्य के प्रशासनिक संगठन तथा सहायक प्रणाली और उसके सामाजिक–आर्थिक सुधारों पर प्रकाश डाला गया है। इसके अलावा दक्षिण भारत में राज्य गठन व चोल राज्य का भी अध्ययन किया गया है।

तीसरी इकाई दिल्ली सल्तनत, विजयनगर और इस्लामी राज्य की प्रकृति, कार्य एवं सिद्धांत पर केंद्रित है। इस इकाई में राज्य के इस्लामी सिद्धांतों तथा विजयनगर राज्य की संरचना और विशेषताओं की विवेचना की गई है।

चौथी इकाई मुगल राज्य एवं औपनिवेशिक राज्य पर आधारित है। इस इकाई में मुगल साम्राज्य की मनसबदारी प्रणाली तथा औपनिवेशिक राज्य की अर्थव्यवस्था व राज्य संयंत्र आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है।

पांचवीं इकाई भारत में राष्ट्र–राज्य के विकास से संबंधित है। इसमें राष्ट्र–राज्य के विकास की अवस्थाओं तथा स्वतंत्र भारत में राज्यों के गठन का अध्ययन किया गया है तथा उपनिवेश शासनकाल से पूर्व भारत की स्थिति पर प्रकाश डाला गया है।

इस पुस्तक की भाषा अत्यंत रोचक, सरल एवं बोधगम्य है ताकि विद्यार्थी प्राचीन भारतीय राज्यों के स्वरूप को सुगमता से समझ सकें। हमें पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक विद्यार्थियों के लिए सार्थक, रुचिकर एवं उपयोगी सिद्ध होगी। पुस्तक की उपादेयता बढ़ाने के लिए उत्तम सुझावों का सदैव स्वागत किया जाएगा।

इकाई 1 उत्तर वैदिक काल में राज्य और मौर्य साम्राज्य का सामाजिक-आर्थिक आधार

संरचना

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 राज्यों के गठन की ओर
  1.2.1 आद्य राज्य
  1.2.2 उत्तर वैदिक कालीन प्रमुख क्षेत्र तथा उनका स्वरूप
1.3 बुद्ध काल के प्रादेशिक राज्य
1.4 मौर्य साम्राज्य : सामाजिक-आर्थिक आधार
1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.6 सारांश
1.7 मुख्य शब्दावली
1.8 स्व-मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1.0 परिचय

मनुष्य के सामाजिक एवं राजनीतिक विकास के इतिहास पर नजर डालें तो पाएंगे कि मनुष्य ने सबसे पहले परिवार के रूप में रहना शुरू किया। यह एक परिवार या कुछ परिवार कालांतर में कबीले की तरह पहचाने गए। यह राज्य बनने से पूर्व की अवस्था थी। वर्तमान प्रशासन के मूल हमें उत्तर वैदिक काल में षोडश महाजनपदों के रूप में दिखाई पड़ते हैं।

पहले विद्वानों का मत था कि प्राचीन भारत में केवल राजतंत्र ही था, परंतु नई खोजों से यह तथ्य सामने आया कि प्राचीन भारत में राजतंत्रों के साथ-साथ गण अथवा संघ राज्यों का भी अस्तित्व था। इन तमाम राज्यों का उल्लेख बौद्ध धर्म से संबंधित धार्मिक ग्रंथों में मिलता है।

मगध साम्राज्य के उत्थान की जो प्रक्रिया बिंबिसार से प्रारंभ हुई वह मौर्य सम्राटों के अधीन पूर्णता तक पहुंची। एक चक्रवर्ती साम्राज्य की स्थापना हुई और राजनीतिक एकता और सुदृढ़ता के वातावरण में भौतिक एवं सांस्कृतिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त हुआ। इससे एक प्रकार की राजनीतिक स्थिरता भी आई।

गुप्त राजाओं का शासन काल प्राचीन भारत के सर्वाधिक गौरवशाली युग का प्रतिनिधित्व करता है। इस काल को हिंदू संस्कृति का 'स्वर्ण युग' या 'क्लासिकल युग' भी कहा जाता है।

प्रस्तुत इकाई में हम आद्य राज्यों, बुद्ध काल के प्रादेशिक राज्यों और मौर्य साम्राज्य के सामाजिक व आर्थिक आधारों का अध्ययन करेंगे।

1.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- आद्य राज्य के बारे में जान पाएंगे;
- सरदारी राज्य और उनके स्वरूप को समझ पाएंगे;
- बुद्ध काल के प्रादेशिक राज्यों के बारे में जान पाएंगे;
- मौर्य साम्राज्य के सामाजिक–आर्थिक आधारों से परिचित हो पाएंगे।

1.2 राज्यों के गठन की ओर

भारत के सांस्कृतिक इतिहास का प्रारंभ अति प्राचीन काल में हुआ किंतु उसके राजनीतिक इतिहास का प्रारंभ अपेक्षाकृत बहुत बाद में हुआ। राजनीतिक इतिहास का मुख्य आधार सुनिश्चित तिथिक्रम (Chronology) होता है और इस दृष्टि से भारत के राजनीतिक इतिहास का प्रारंभ हम ईसा पूर्व सातवीं शती के मध्य (650 ई. पू.) के पहले नहीं मान सकते। उत्तर वैदिक काल में हमें विभिन्न जनपदों का अस्तित्व दिखाई देता है। इस काल तक पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा पश्चिमी बिहार में लोहे का व्यापक रूप से प्रयोग किया जाने लगा था। लौह तकनीक ने लोगों के भौतिक जीवन में बड़ा परिवर्तन उत्पन्न कर दिया तथा इससे स्थायी जीवन–यापन की प्रवृत्ति सुदृढ़ हो गई। कृषि, उद्योग, व्यापार–वाणिज्य आदि के विकास ने प्राचीन जन जातीय व्यवस्था को जर्जर बना दिया तथा छोटे–छोटे जनों का स्थान जनपदों ने ग्रहण कर लिया। ईसा पूर्व छठी शताब्दी तक आते–आते जनपद, महाजनपदों के रूप में विकसित हो गए।

1.2.1 आद्य राज्य

प्राचीन भारतीय राज्य का एक सुनिश्चित स्वरूप प्रस्तुत कर पाना सरल कार्य नहीं है क्योंकि भारतवर्ष अपने प्रत्येक क्षेत्र चाहे वह भौगोलिक हो या सांस्कृतिक अथवा पुरातन, उनमें बहुत विशाल एवं धनी रहा है और क्योंकि प्राचीन भारतीय राज्य स्वयं में एक राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक (नैतिक मूल्य) संस्था थी और ये सब आयाम राज्य संस्था के अंग थे इसलिए जैसा कि रामामूर्ति ने कहा है प्राचीन राज्य संस्था को सही ढंग से समझने के लिए इन सभी आयामों को समझना अत्यन्त आवश्यक है। जैसा कि रुजेल्फ और रुडोल्फ का मत है कि 'राज्य निर्माण और रखरखाव इतिहास में अवस्थित एक निरन्तर प्रक्रिया है जो किसी राज्य की प्रकृति पूर्वनिश्चित सिद्धान्तों से नहीं जानी जा सकती क्योंकि राज्य और समाज के बीच ऐतिहासिकता परिस्थितयों के साथ–साथ बदलती रहती है, राज्य निर्माण और रखरखाव की निरन्तर प्रक्रिया बहुरूपीय अस्तित्वों को जन्म देती है, यानी राज्य अनेक आकारों, स्वरूपों और चरित्रों में घटित होते हैं। राज्य के इस विशाल अर्थ एवं स्वरूप में प्राचीन भारतीय राज्य संस्थाओं का वर्णन करना संभव है तथा उसकी उत्पत्ति, प्रकृति व विकास को समझा जा सकता है।'

राज्यों का निर्माण एक दिन में हो पाना संभव नहीं इसका अर्थ यह है कि राज्यों का निर्माण एक सतत गतिमान प्रक्रिया का परिणाम है और राज्य सदैव से ही एक सामाजिक संस्था रहा है। पूर्ण विश्वास के साथ यह कह पाना संभव नहीं है कि समाज कब और

कैसे 'राज्य' में परिवर्तित हुए तथापि प्राप्त प्रमाणों के आधार पर, सामान्यत: वैदिक राज्य को ही भारतीय राज्य संस्था का प्रारम्भ मानते हैं। ऋगवेद में प्राप्त होने वाले विचारों के अनुसार राज्य की सत्ता के सूचक तत्त्व जैसे निश्चित भूमि, सार्वजनिक सत्ता, कर तथा अधिकारी गण इत्यादि के संकेतक उपलब्ध नहीं हैं अपितु एक अर्ध घुमंतू जन समुदाय और पशुपालन पर आधारित अर्थव्यवस्था के संकेत मिलते हैं। अत: जिस प्रकार सत्ता संगठन के प्रमाण हमें ऋग्वेद से मिलते हैं उस आधार पर तो उसे जैसा कि रामशरण शर्मा ने कहा है 'जनजातीय सत्ता' अधिक से अधिक 'जनजातीय सरदारी' ही कही जा सकती है। दूसरे शब्दों में ऋग्वैदिक सत्ता को राज्य का दर्जा न देकर आद्य राज्य (Proto-State) का दर्जा ही दिया जा सकता है। इस बात की पुष्टि निम्न विस्तृत वर्णन से भी हो जाती है।

जिन लोगों ने ऋग्वैदिक काल के राजनीतिक संगठन का विकास किया, उनके भौतिक एवं सामाजिक जीवन के संदर्भ से अलग रखकर उस संगठन को नहीं समझा जा सकता है। यदि हम 'ऋग्वेद' के साक्ष्यों का भरोसा करके चलें तो स्पष्ट है कि आर्यों और हड़प्पा सभ्यता के निर्माताओं के बीच मुख्य भौतिक अंतर यह था कि नवागंतुओं के पास घोड़े और रथ थे। जिनके पास घोड़ों द्वारा खींचे जाने वाले रथ थे और जो उन रथों पर आरूढ़ होकर लड़ते थे, वे उस समाज के श्रीमंत वर्ग के लोग थे। यही चीज हमें पश्चिम एशिया में मितानियों और हिकसस लोगों में देखने को मिलती है। दूसरी और घोड़ों पर चढ़कर लड़नेवाले साधारण सैनिक समाज के सामन्य जन थे। ऋग्वैदिक लोगों को आयस् नामक किसी धातु का ज्ञान था, लेकिन वह तांबा था या कांसा, यह बताना कठिन है। ऐसा समझा जाता है कि वे कांसे का उपयोग करते थे और लगभग 1200 ई.पू. से फारस में इस धातु के व्यापक उपयोग को देखते हुए यह अनुमान निराधार प्रतीत नहीं होता। ऋग्वैदिक लोग अर्ध खानाबदोश थे और आर्थिक दृष्टि से वे मुख्यत: पशुपालन की अवस्था में थे। उन्हें लोहे का ज्ञान नहीं था और इसलिए हल से बहुत जोत-गोड़कर की जाने वाली खेती वे कम करते थे।

कृषि की अपेक्षा पशुपालन जीविका का अधिक महत्वपूर्ण साधन था और मवेशी उनकी सबसे मूल्यवान संपत्ति थे। सामाजिक तथा सैनिक संगठन पर पशुपालन का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए एक गोष्ठ (गुहाल) में रहने वाले लोग एक गोत्र के हो गए। ऋग्वैदिक काल में गोत्र शब्द का अर्थ एक ही पूर्वज के वंशज नहीं होता था। फिर, चूँकि गोधन जनजातीय युद्धों का मुख्य कारण हुआ करता था, इसलिए युद्ध के पर्याय के रूप में गविष्टि- अर्थात 'गाय की खोज' शब्द का चलन हुआ। चूँकि वे अर्ध खानाबदोशी की व्यवस्था में थे और गोधन के लिए बराबर आपस में लड़ते रहते थे, इसलिए उन्हें सदा अपने स्थान बदलते रहने पड़ते थे। यह चीज स्वभावत: उनके द्वारा स्थिर और स्थायी राज्यों के निर्माण में बाधक थी और इसी कारण से उनके सामाजिक संबंधों में कठोरता और वर्ग विभाजन नहीं आ पाया। इन परिस्थितयों में छोटे-छोटे जनजातीय मंडलों (प्रिंसिपैलिटी) का अस्तित्व कायम होना स्वाभाविक था।

ऋग्वैदिक लोगों का सामाजिक संगठन जनजातीय अवस्था को पार नहीं कर पाया था। राजपद सामाजिक संगठन का आधार था। जनजातीय जीवन की प्रमुखता का संकेत इस बात से मिलता है कि 'ऋग्वेद' में जन और विश् शब्द का प्रयोग बार-बार हुआ है। जन शब्द इसमें 275 बार आया है और विश् 170 बार। पांच जनों के अर्थ में हमें पंचजना: शब्द का उल्लेख भी मिलता है। वैदिक जन सबसे ऊँची सामाजिक इकाई था

टिप्पणी

और यह रोम के समाज के 'जेंस' और यूनानी समाज के 'जेनस' का, आर एस. शर्मा के अनुसार, भारतीय प्रतिरूप था।

जन विशों में विभक्त होता था। जन पूरे समुदाय का द्योतक था और विश् गोत्र का। वैदिक विश् और रोम के समाज के 'ट्राईबस' तथा 'फिलई' में कोई साम्य है अथवा नहीं, हम नहीं कह सकते। लेकिन इसमें संदेह नहीं कि होमरकालीन यूनान प्राचीन जर्मनी के लड़ाकू दलों की तरह विश् भी कुटुंबी जनों की लड़ाकू टुकड़ी था। कुछ विद्वानों की राय है कि विश् ग्रामों में विभक्त होता था, लेकिन इस विभाजन का व्यापक चलन नहीं था, क्योंकि ग्राम का उल्लेख 'ऋग्वेद' में केवल 13 स्थलों पर हुआ है। इस काल में ग्राम का प्रयोग सामान्यत: आज के गांव के अर्थ में नहीं बल्कि ऐसे छोटे-छोटे जनजातीय लड़ाकू समूहों के अर्थ में हुआ है जिनके सदस्यों को संग्राम के लिए एकजुट किया जाता था।

संभव है, परिवार सबसे छोटी इकाई रहा हो, लेकिन यह कोई सुस्थित संस्था नहीं बन पाया था और निश्चय ही आज की तरह एकविवाही इकाई तो, जैसा कि आर.एस. शर्मा कहते हैं, नहीं ही था। कुल शब्द का प्रयोग 'ऋग्वेद' में स्वतंत्र रूप में नहीं हुआ है। लेकिन कुलपा या परिवार प्रधान के हिस्से के रूप में एक स्थल पर इसका प्रयोग अवश्य हुआ है। लेकिन कुलपा का वर्णन भी साधारण गृहस्थ के रूप में नहीं, बल्कि योद्धा के रूप में ही हुआ है। गृह की चर्चा ऋग्वेद में अनेक बार परिवार के अर्थ में आयी है। हमें इस बात की जानकारी नहीं है कि ऋग्वैदिक परिवार अपने सदस्यों की संख्या में कितनी वृद्धि होने तक एक बना रहता था। लेकिन, नि:संदेह, वह एक बड़ी पितृसत्तात्मक इकाई था, जिसमें तीन-तीन पीढ़ियों के लोग एक ही छत के नीचे रहते थे।

ऋग्वैदिक परिवार पितृसत्तात्मक था, इस बात पर जोर देने की आवश्यकता नहीं है। 'ऋग्वेद' में प्रजा की कामना की गई है। प्रजा शब्द में वैसे तो पुत्र-पुत्री दोनों शामिल हैं, किन्तु लोगों को युद्ध करने वाले सुवीरों की कामना अधिक रहती थी। लेकिन ऋग्वैदिक समाज के पितृसत्तात्मक स्वरूप को बढ़ा-चढ़ाकर देखना गलत होगा। यदि इस ग्रंथ में पिता शब्द का उल्लेख 335 स्थलों पर हुआ है तो माता का भी 234 स्थानों पर हुआ है। इसके अतिरिक्त, हमें अनेक देवियों का उल्लेख भी मिलता है, जिससे नारी का महत्व भासित होता है। ऐसे भी उल्लेख मिलते हैं जिनसे प्रकट होता है कि स्त्रियों को प्रेम संबंध रखने की पूरी छूट थी। वह अपने पति के साथ यज्ञ में भाग ले सकती थी और कुछ स्त्रियों को तो वैदिक मंत्रों की रचना करने का भी श्रेय दिया गया है। स्पष्ट ही, ऋग्वैदिक काल में पितृ अधिकार इतना प्रबल नहीं हो पाया था कि वह मातृ अधिकार को पूरी तरह समाप्त कर देता और यह चीज जनजातीय समाजों आदि के गठन में प्रतिबिंबित होती है।

ऋग्वैदिक काल में वंशानुगत पेशे के आधार पर या किसानों तथा कारीगरों के उत्पादन के अतिरिक्त अंश को हड़पकर लोगों द्वारा संचित की गई संपत्ति की बुनियाद पर खड़े सामाजिक वर्गों का स्पष्ट उदय नहीं हो पाया था। एक परिवार के सदस्य अलग-अलग व्यवसाय करते थे। उदाहरण के लिए, एक परिवार में पिता पुरोहित था, माता अन्न पीसती थी और पुत्र वैद्य था, किंतु ये सब सुखपूर्वक एकसाथ रहते थे। सम्भवत: इस काल का राजनीतिक संगठन वर्ण पर आधारित भेदभाव से सामान्यत: मुक्त था। ऋग्वैदिक समाज में जो कुछ भी असमानता पनप पाई, उसका कारण पराजित लोगों

पर विजयी लोगों के आधिपत्य की स्थापना थी। विजेताओं ने बहुत लोगों को दास बना लिया और उन्हें इसी स्थिति में रखा। इनमें स्त्रियों की संख्या अधिक होती थी। वे दासी स्त्रियां पुरोहितों की सेवा के लिए अर्पित कर देते थे। लेकिन शायद विजेता लोग भी दो वर्गों में बंटे हुए थे। एक में रथों से सज्जित शासक समूह के लोग थे और दूसरे में सामान्य जनजातीय बंधुजन, जो अपने श्रेष्ठजनों के अनुगामी थे। इस असमानता से जनजातीय सरदारों की शक्ति में वृद्धि हुई और यह चीज यदा–कदा ऋग्वैदिक सभा आदि में भी प्रतिबिंबित होती थी।

इस प्रकार के भौतिक तथा सामाजिक जीवन के सहारे वैदिक लोग कोई ऐसा उन्नत राजनीतिक ढांचा विकसित नहीं कर सकते थे जिसे प्राचीन भारतीय या आधुनिक अर्थ में राज्य कहा जा सके। सप्तसिंधु देश, जिसमें आधुनिक पंजाब तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश के कुछ हिस्से शामिल थे, छोटे–छोटे जनजातीय मंडलों के अधिकार में था। इन मंडलों में से पांच को हम पंचजना: के रूप में जानते हैं। यद्यपि ऋग्वैदिक नरेशों के लिए राजन् शब्द का प्रयोग हुआ है, लेकिन ऋग्वैदिक राजत्व का स्वरूप इस प्रकार के राजतंत्र से मूलत: भिन्न था जिसका विकास उत्तर वैदिकयुग और उसके परवर्ती काल में हुआ। वह कोई ऐसा क्षेत्रीय राजतंत्र नहीं था जिसमें क्षेत्र विशेष के छोटे–बड़े, अमीर–गरीब सभी निवासी राजा के विषय में यह मानते हैं कि जिस देश में वे रहते हैं, उस पर प्रयुक्त होने वाली सत्ता का वह प्रतीक है। ऋग्वैदिक नरेश किसी क्षेत्र के लिए नहीं बल्कि गौओं के लिए लड़ते हैं। क्षेत्र के पर्यायवाची शब्दों का इस ग्रंथ में विशेष प्रयोग नहीं हुआ है। यद्यपि जन शब्द का प्रयोग 275 बार हुआ है किंतु जनपद का एक बार भी नहीं हुआ है। राज्य शब्द केवल एक बार आया है और राष्ट्र सिर्फ दस बार। 'ऋग्वेद' के सबसे बाद वाले अंश–अर्थात दसवें मंडल में राजा से राष्ट्र की रक्षा करने को कहा गया है। इससे प्रकट होता है कि राष्ट्र के अंग के रूप में क्षेत्र की परिकल्पना लोगों के मन में इस काल के अंत में आई। ग्राम शब्द 'ऋग्वेद' में 13 स्थलों पर आया है लेकिन गांव के अर्थ में नहीं। मूलत: इसका अर्थ युद्ध के लिए एकत्र की गई जनजातीय इकाई था। यही कारण है कि जनजाति के सामूहिक चारागाह की देखरेख करने वाला प्रजापति, जो गोहरण के लिए किए जाने वाले युद्ध में सम्भवत: परिवार प्रधानों का नेतृत्व करता था, बाद में ग्रामणी के रूप में भी सामने आता है। ग्रामणी मूलत: गांव का नहीं, बल्कि ग्राम नामक जनजातीय इकाई का प्रधान होता था। उसे किसी ऐसे अधिकार के रूप में नहीं देखा जा सकता जिसकी उपाधि से ऐसा संकेत मिलता हो कि वह किसी क्षेत्रीय प्रशासनिक इकाई से संबद्ध था। इस सबसे स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक सरदारों के मन में क्षेत्रीय राज्य की कोई कल्पना नहीं थी।

ऋग्वैदिक राजत्व मुख्यत: जनजातीय संस्था था। राजा या सरदार का संबंध बार–बार जनजाति से बताया गया है। बुनियादी तौर पर वह जन का शासक है और इसलिए उसे जन का रक्षक–गोप जनस्य या गोपति जनस्य कहा गया है। गोप या गोपति शब्द से यह ध्वनित होता है कि जो व्यक्ति पहले गौओं के झुंडों का प्रधान था, वही धीरे–धीरे जन का प्रधान बन गया। अर्थात राजा या रानी की पहचान उनकी जन जाति के नाम से की जाती थी न कि क्षेत्र से। वैदिक राजा और उसके भाई बंदों के बीच बराबरी का रिश्ता होता था। राजा की वंशानुगत स्थिति विवाद से परे नहीं थी। कई अवतरणों से ध्वनित होता है कि राजा अपने पद के लिए जनसाधारण का मुखापोशी था। 'ऋग्वेद' के दसवे मंडल में

टिप्पणी

एक उपमा इस प्रकार है- 'जैसे प्रजा अपना राजा चुनती है। उसी के मंडल के अभिषेक मंत्र से संपूर्ण जनजाति द्वारा व्यक्ति विशेष के राजा के रूप में स्वीकृत किए जाने का संकेत मिलता है। जनजाति के सदस्यों द्वारा राजा के चुनाव के सबसे अधिक उल्लेख 'अथर्ववेद' में देखने को मिलते हैं। उससे प्रकट होता है कि पूर्ववर्ती अवस्था में जनजाति अपने निर्वाचन अधिकार का प्रयोग करती थी। दूसरी ओर, कुछ उल्लेखों से प्रकट होता है कि राजपद कुछ विशेष परिवारों के लोगों को ही प्राप्त होता था। त्रसदस्यु को राजपद अथवा जनजाति का प्रमुखत्व अपने पितामह से उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ था और उसका पिता शत्रुओं द्वारा किए गए आक्रमण में अपना सिंहासन खो बैठा था। सुदास के परिवार ने तीन पीढ़ियों तक राजपद का उपयोग किया। इस प्रकार जो वास्तविक उदाहरण मिलते हैं, उनसे भी यह प्रकट नहीं हो पाया था कि कोई परिवार तीन पीढ़ियों से अधिक काल तक राजपद का उपभोग कर सका। स्पष्ट है कि प्राचीनतम काल में यह सिद्धांत सुप्रतिष्ठित नहीं हो पाया था कि ज्येष्ठ पुत्र पिता का उत्तराधिकारी है। होमरकालीन यूनान के 'जेनस' में भी ऐसी स्थिति थी। जाहिर है कि ऋग्वैदिक काल में ज्येष्ठ-पुत्राधिकार सुपरिभाषित नहीं हो पाया था और यदि यह स्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं हो पाया था तो उसका कोई वास्तविक महत्व भी नहीं था। सुप्रतिष्ठित वंशानुगत उत्तराधिकार के अभाव में राजा या सरदार का अधिक शक्तिशाली हो पाना कठिन था। सभा और समिति, तथा ऐसी दूसरी जनजातीय संस्थाएं राजा के अधिकार को काफी मर्यादित कर देती थीं। राजा पर पुरोहित की सत्ता और प्रतिष्ठा का भी अंकुश रहता था। युद्धक्षेत्र में पुरोहित राजा के साथ रहता था और 'ऋग्वेद' के कई अवतरणों में राजा को ब्राह्मण या पुरोहित का विशेष ध्यान रखने और उसकी रक्षा करने की सलाह दी गई है, क्योंकि ऐसा करके ही वह अपने शत्रुओं तथा कुटुम्बियों की श्रीसंपत्ति का स्वामी बन सकता है। लेकिन इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि राजा पुरोहित के समर्थन पर आश्रित था। लगातार होती रहने वाली लड़ाइयों के कारण जनजातीय सरदारों की शक्ति में भी वृद्धि होती रहती थी। इन लड़ाइयों में पराजित लोगों को दास बनाकर वह उनसे सेवा लेता था। लड़ाइयों में उसे लूट का जो माल हाथ लगता था, उसमें से वह पुरोहितों को तरह-तरह के भेंट उपहार, जैसे गाय, घोड़े, सोने की सिलें और सुंदर वस्त्राभरणों से सज्जित दासियां देता था। बदले में पुरोहित लोग उसकी दानस्तुति करते थे, अर्थात नई-नई विधियों से उसका अभिषेक करते थे और उसकी प्रशंसा में ऋचाएं बनाते थे। इस सबसे राजप्रतिष्ठा की अभिवृद्धि होती थी और विजित लोगों तथा जनजातीय बंधु-बांधवों के बीच राजा के पराक्रम प्रभुता की पैठ बैठती थी। संपत्ति प्राप्त होने से जनजातीय सरदार आम लोगों की अपेक्षा अच्छे ढंग से रह सकता था। शायद वह बड़े मकान में निवास करता था, लेकिन साहित्यिक स्रोतों में उसके आवास के जो भव्य वर्णन मिलते हैं, उनके बावजूद ऐसा मानने का कोई आधार दिखाई नहीं देता कि इस काल में ऐसे भव्य भवन बनते होंगे।

ऋग्वैदिक लोगों के पास जो साधन और शिल्पज्ञान था, उसके सहारे वे कोई बड़ा प्रशासन तंत्र कायम नहीं कर सकते थे। वे मुख्यतः पशुपालक समुदायों के लोग थे और उनकी खेतीबाड़ी अविकसित अवस्था में थी। उस पैदावार के बल पर बहुत से राज्य कर्मचारी नहीं रखे जा सकते थे। राजा तथा उसके कर्मचारियों के भरणपोषण का एकमात्र साधन बलि के रूप में प्राप्त होने वाला उपज का बहुत छोटा अतिरिक्त अंश था। 'ऋग्वेद' में राजा को दी जाने वाली भेंट या देवताओं को अर्पित किए जाने वाले चढ़ावे के अर्थ में 'बलि' शब्द का उल्लेख अनेक स्थलों पर हुआ है। बलि अर्थात भेंट अन्न के रूप

में शायद विजित लोगों से और राजा के भाई-बंदों से भी ली जाती थी। युद्ध में पराजित शत्रु जनजातियों को बलि या किसी प्रकार की भेंट देने पर विवश किया जाता था। बलि एक नियमित अनिवार्य कर था या ऐच्छिक, यह कहना प्रमाणों के अभाव में कठिन है। ऋगवेद में करों का संग्रह करने वाले किसी अधिकारी का उल्लेख भी नहीं मिलता यद्यपि कर संग्रह राज्य का महत्वपूर्ण कार्य माना जाता है। ऋग्वैदिक समाज की कार्य प्रणाली को निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत समझा जा सकता है–

1. **सैनिक कार्य** - इसी प्रकार, यद्यपि सेनानी नामक पदाधिकारी का उल्लेख हमें मिलता है, लेकिन जिसका खर्च राजा द्वारा वसूल किए जाने वाले करों से चलता हो, ऐसी स्थायी सेना के अस्तित्व का भी कोई प्रमाण नहीं मिलता। 'ऋग्वेद' में सेना शब्द का उल्लेख बीस बार हुआ है, लेकिन संभवत: यह जरूरत पड़ने पर जनजाति, जैसा कि आस.एस. शर्मा मानते हैं, साधारण सदस्यों में से खड़ी कर ली जाने वाली सेना थी। वैदिक सभाएं जिनमें जनजाति के सदस्य उपस्थित हुआ करते थे, जिन कार्यों का संपादन करती थीं, उनमें सैनिक कार्यों का बड़ा महत्व था। स्पष्ट है कि जनजातीय लोग सामान्यत: हथियारबंद रहते थे और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें लड़ाई करने के लिए एकत्र कर लिया जाता था और फिर हथियार भी तो तीर धनुष होते थे जिन्हें रखना आसान था। जिन लोगों के पास रथ और कांसे के हथियार होते थे, वे कुछ अधिक अच्छी तरह शस्त्रसज्जित रहते थे; शेष सब समान थे। अपेक्षाकृत शांतिपूर्ण कार्यों में लगे कुछ लोग भी, जैसे गोचर, भूमि की देख रेख करने वाला व्रतपति और परिवार के मुखिया का दायित्व संभालने वाला कुलपा-सैनिक अधिकारियों के रूप में सामने आते थे। युद्ध में व्रजपति कुलपाओं का नेतृत्व करता था। ग्रामीण भी ऐसे ही कार्य संपादित करता था। इसलिए सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए राज्य के पास कोई स्थायी सैनिक अधिकारी नहीं होता था।

2. **पुलिस कार्य:** निजी संपत्ति की सुरक्षा के लिए कुछ पुलिस अधिकारी रखना आवश्यक था। दूसरों की जमीन पर जबरदस्ती दखल जमाने जैसे अपराध का कोई उल्लेख नहीं मिलता, लेकिन चोरी, सेंधमारी, बटमारी, जुए में बेईमानी और खासकर गोहरण के जिक्र बहुत मिलते हैं। राजा लोगों पर नजर रखने के लिए गुप्तचरों से काम लेता था, जो 'स्पस्' कहे जाते थे। उग्र और जीवगृभ नामक अधिकारियों का काम आर. एस. शर्मा के अनुसार, शायद अपराधियों पर नियंत्रण रखना था और मध्यमसी विवादों में मध्यस्थ का काम करने वाले अधिकारी का काम करता था।

3. **न्याय व्यवस्था:** सजाएं उतनी कड़ी नहीं होती थीं जितनी परवर्ती काल में होने लगीं। मनुष्य की हत्या करने की क्षतिपूर्ति के रूप में 100 गाएं देनी पड़ती थीं। चोरी के मामलों में दिए जाने वाले दंड में भी जिसकी क्षति होती थी उस व्यक्ति को संतुष्ट करने के सिद्धान्त से काम लिया जाता था। वेदोत्तर काल में चोरी की सजा के तौर पर मृत्युदंड तक दिया जा सकता था, लेकिन ऋग्वैदिक काल में निजी संपत्ति को इतना अधिक महत्व प्राप्त नहीं हो पाया था, कि उसके संबंध में किए गए अपराध का दंड कठोर होता। संक्षेप में, इस काल में दंड व्यवस्था उतनी सुगठित और कठोर नहीं थी।

4. **राज्य अधिकारीगण:** इन्हें सिविल अफसर कहा जा सकता है, ऐसे अधिकारियों की संख्या विशेष नहीं थी। लगभग आधे दर्जन राज्यधिकारियों का उल्लेख हमें

टिप्पणी

मिलता है जैसे- महिषी (शक्तिशालीनी), अर्थात पटरानी; पुरोहित; कोषाध्यक्ष; रथी, जो मूलत: राजकीय वस्तुओं राजकृपा का वितरण करता था, तक्षन् (बढ़ई, जिसका औजार कुल्हाड़ी होता था) और दूत। इन सबका उल्लेख उत्तर वैदिक काल के रत्निनों की सूची में हुआ है। इस सूची में ऋग्वैदिक कालीन सेनीनी भी शामिल है, जो शायद कुछ दीवानी कामकाज भी करता था। ऋग्वैदिक राज्य में रथों के महत्व के कारण 'ऋग्वेद' के सार भाग में भी रथी को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। लेकिन कुल मिलाकर इस काल में भी हमें एक ऐसे अपरिष्कृत तंत्र के प्रमाण अवश्य मिलते हैं जो शासन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता था। इस काल में हमें किसी विधिसंहिता की कोई जानकारी नहीं मिलती। चूंकि जनजातीय सभा संगठन पूरी तत्परता से काम करते थे और सभी जनजातीय मामलों की देखरेख करते थे, इसलिए राजा के करने के लिए कुछ विशेष रह नहीं जाता था और इसलिए राज्य कर्मचारियों की संख्या बहुत कम थी।

'सभा', 'समिति', गण तथा विदथ- यह जनजातीय संस्थाएं पूर्व जनों के जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती थीं। सभा और समिति को तो निश्चित तौर पर कतिपय राजनीतिक कार्य संपादित करने पड़ते थे और राजा उनके सहयोग तथा समर्थन के बिना शासन नहीं चला सकता था। गण का भी कुछ राजनीतिक महत्व अवश्य था, लेकिन विदथ की राजनीतिक भूमिका निश्चयपूर्वक नहीं बताई जा सकती। जो भी हो, इतना तो निश्चित है कि ये जनजातीय संस्थाएं एक प्रकार का प्रत्यक्ष लोकतंत्र चलाती थीं। इन संस्थाओं के सदस्य इनकी बैठकों में भाषण करते थे और सभी बातों का निर्णय सर्वसम्मति से करते थे। उनके विचार-विमर्श का एक मुख्य विषय युद्ध का सफल संचालन होता था। हर सदस्य योद्धा होता था। हर योद्धा को अपने आयुध स्वयं जुटाने होते थे और लड़ाई में लूटा गया माल उसकी जीविका का साधन होता था। लड़ाई करना जनजातीय संस्थाओं का सबसे महत्वपूर्ण कार्य था और ग्राम, ग्रामणी, सेनानी आदि अन्य ऋग्वैदिक संस्थाओं से भी उसका यही पक्ष उजागर होता है।

अत: 'ऋग्वेद' के अध्ययन से जिस राजनीतिक संगठन का आभास मिलता है, वह इतना विकसित नहीं जान पड़ता कि उसे राज्य कहा जा सके। अधिक से अधिक उसे 'जनजातीय सरदारी अर्थात आद्य राज्य' माना जा सकता है, जिसका स्वरूप मुख्यत: सैनिक था। जो राजत्व की गरिमा से विहीन था, जिसका कोई सुदृढ़ क्षेत्रीय आधार नहीं था और जो किसी न किसी प्रकार की कर प्रणाली, स्थायी सेना, स्थायी अधिकारतंत्र आदि उन तत्वों का विकास करने को प्रयत्नशील था जिन्हें प्राचीन भारतीय और आधुनिक दोनों दृष्टियों से राज्य के आवश्यक अंग माना गया है।

1.2.2 उत्तर वैदिक कालीन प्रमुख क्षेत्र तथा उनका स्वरूप

उत्तर वैदिक काल के समाज का भौतिक आधार ऋग्वैदिक समाज के भौतिक आधार से कुछ दृष्टियों से सर्वथा भिन्न था। अब आर्यों के क्रिया-कलापों का क्षेत्र पश्चिमी उत्तर प्रदेश था। इनके पहले इस क्षेत्र में तांबे का उपयोग करने वाले लोग रहते थे, जिनके औजारों और हथियारों के 18 संग्रह यहां मिले हैं। इन औजारों और हथियारों को 1700 ई. पू. से 1000 ई. पू. के बीच का माना गया है। इन लोगों को यहां से भगाकर खुद

इस इलाके में बस जाने में आर्यों द्वारा काम में लाए जाने वाले लोहे के औजार और हथियार उनके लिए बहुत सहायक हुए। पश्चिमी उत्तर प्रदेश में एटा जिले के अतरंजीखेड़ा नामक स्थान में ऐसे औजार और हथियार बड़ी तादाद में मिले हैं। इन्हें संभवत: 1000 ई. पू. के आसपास का माना गया है, लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि ये 800 ई. पू. से बाद के नहीं हैं। कुरू पंचाल देश या पश्चिमी उत्तर प्रदेश में रचित उत्तर वैदिक संहिताओं में लोहे के लिए श्याम अयस् शब्द का प्रयोग हुआ है। लौह शिल्प के विकास के फलस्वरूप आर्यों का घुमक्कड़ और पशुपालक जीवन प्राय: समाप्त हो गया और इस शिल्प की बदौलत वैदिक काल के अंत तक बिहार के विदेह क्षेत्र तक उनका प्रसार संभव हो सका। इसके कारण पश्चिमी उत्तर प्रदेश में कृषि को सुस्थिर आधार प्राप्त हुआ और शासकों को कृषि उत्पादन का अतिरिक्त भाग नियमित रूप से मिलने लगा जिससे वे क्षेत्रविशेष से बंध गए।

अतरंजीखेड़ा के लोहे के उपकरणों के साथ-साथ पश्चिमी उत्तर प्रदेश और पंजाब, दिल्ली क्षेत्र तथा राजस्थान के सीमावर्ती हिस्सों में लगभग 700 स्थानों में अलग से भी रंगे हुए भूरे बर्तनों के टुकड़े मिले हैं, जिससे प्रकट होता है कि 1000-500 ई.पू. के दौरान यह क्षेत्र स्थायी बाशिंदों से आबाद था।

उत्तर वैदिक काल में छोटे-छोटे समुदायों के आपस में मिलने से बड़ी-बड़ी इकाइयां बन गईं। ऋग्वैदिक काल के क्रिवि तथा पुरू लोगों के आपस में मिल जाने से कुरू जन का निर्माण हुआ। यह जन आगे चलकर पंचालों से जुड़ गया। इन दोनों ने मिलकर पूरे पश्चिमी उत्तर प्रदेश पर कब्जा कर लिया। अब शासकों को अनिश्चित भेंट नजराने पर निर्भर नहीं रहना पड़ता था, बल्कि शायद उन्हें, आर.एस.शर्मा के अनुसार, कृषि उत्पादन का एक निश्चित अंश प्राप्त होता था। नियमित आय होने से वे बहुत सारे पुरोहितों को राज्य की सेवा में लगा सकते थे। इन पुरोहितों ने कर्मकांडों का विकास किया, जो कि उत्तर वैदिक राज्य व्यवस्था का चित्र प्रस्तुत करने के हमारे एकमात्र साधन स्त्रोत बने। निश्चित क्षेत्रों में बस जाने पर वैदिक जन चार वर्णों में विभक्त हो गए। ब्राह्मणों को, जो मूलत: पुरोहितों के 16 वर्गों में से एक के सदस्य थे, शीर्षस्थ स्थान प्राप्त हुआ और उन्होंने जिस वैदिक कर्मकांड साहित्य की रचना की उसमें अपने को सामाजिक तथा राजनीतिक दोनों प्रकार के विशेषाधिकारों का पात्र बताया। शूद्रों में आर्य और प्राक्-आर्य लोग भी शामिल थे और इनका स्थान बहुत अनिश्चित था, जिसका प्रतिबिंब समाज और राजनीति दोनों में देखने को मिलता है। क्षत्रिय शासक का काम करते थे और वैश्य मुख्य कर दाता थे। राजनीति पर वर्णभेद तथा ब्राह्मणों के प्रभाव की झांकी पहले पहल उत्तर वैदिक काल में ही मिलती है। उत्तर वैदिक कालीन समाज के स्वरूप को निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत समझा जा सकता है–

1. **पितृसत्तात्मक परिवार :** परिवार अधिकाधिक पितृसत्तात्मक होता गया और विवाह पर पितृपक्ष से गोत्रीय प्रतिबंध लगने लगे। मातृ अधिकार की नींव उत्तरोत्तर कमजोर पड़ती गई और राजाओं में बहुपत्नीवाद का चलन आरंभ हुआ। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में राजा हरिशचन्द्र की सौ पत्नियों का उल्लेख है। नए पारिवारिक संबंधों का प्रभाव सार्वजनिक संस्थाओं तथा राज्य के अंगों के गठन में देखा जा सकता है।
2. **राजत्व स्वरूप में बदलाव :** इस काल में राजत्व का स्वरूप बदल गया। उत्तर वैदिक साहित्य में वर्णित कर्मकांडों से राजत्व के जनजातीय तथा प्रादेशिक पहलुओं के अंतर्द्वंद्व की स्पष्ट प्रतिध्वनि मिलती है। प्रदेश को परिवर्तनशील माना जाता था,

टिप्पणी

और इसलिए राजा को देवी-देवताओं के समक्ष उसके अपने नाम, माता-पिता के नाम तथा गोत्र के नाम से प्रस्तुत किया जाता था। रथ-धावन, गोहरण तथा द्यूत-क्रीड़ा जैसे अनुष्ठानों का उद्देश्य अपने गोत्र जनों की तुलना में राजा की श्रेष्ठता दिखाना है। राजा की अध्यक्षता में काम करने वाली पंचालों की परिषद का नाम किसी प्रदेश के नाम पर नहीं बल्कि उस जन के नाम पर रखा गया है।

लेकिन प्रादेशिक तत्व का जोर क्रमशः बढ़ता गया। 'अथर्ववेद' के निर्वाचनगान में ऐसी कामना की गई की राष्ट्र या प्रदेश राजा के अधिकार में रहे और वरुण तथा देवता बृहस्पति, इंद्र एवं अग्नि उसे दृढ़ता प्रदान करें। 15 परवर्ती संहिताओं में दो वर्ष तक चलने वाले राजसूय नामक अभिषेक यज्ञ का वर्णन हुआ है। स्पष्ट है कि यह यज्ञ करने के लिए कोई ऐसा निश्चित स्थान आवश्यक था जहाँ लोग स्थायी रूप से रहें। कुरू-पंचाल देश में जहाँ राजा का निवास था उस स्थान को राजधानी कहा जाने लगा। रत्नहवींषि संस्कार के क्रम में राजा को स्थायी-आवासों में रहने वाले गण्यमान्य व्यक्तियों के पास जाना पड़ता था। कई अभिषेक मंत्रों से भासित होता है कि राजा को अपनी प्रादेशिक स्थिति का भान था। 'यजुर्वेद' के एक आरंभिक अंश 'तैत्तिरीय संहिता' के अनुसार राजा को 'इस विश् (जनजाति) में', 'इस राष्ट्र (राज्य) में उपस्थित किया जाता है, जिससे प्रकट होता है कि जनजाति और उस जनजाति का निवास क्षेत्र दोनों एक ही अर्थ के बोधक होते जा रहे थे। उसी संहिता में यह भी कहा गया है कि किसी संस्कार के आंशिक संपादन से राजा विश् को प्राप्त कर लेता है, लेकिन राष्ट्र को नहीं और राष्ट्र की प्राप्ति उस संस्कार के संपूर्ण संपादन से ही संभव है।

सबसे बाद के वैदिक ग्रंथों को देखने से भी राजत्व के प्रादेशिक स्वरूप में कोई संदेह नहीं रह जाता। उदाहरणस्वरूप 'एकराज' का अर्थ ऐसे राजा से लगाया जाता है, जिसका राज्य एक समुद्र से दूसरे समुद्र तक फैला हो। शतपथ ब्राह्मण में राजा को राष्ट्र भूत कहा गया है।

लोगों के मानस में प्रदेश का महत्व प्रतिष्ठित हो जाने का एक परिणाम यह हुआ कि उत्तर वैदिक काल के अंतिम चरण में उनमें जमीन पर स्वामित्व स्थापित करने और उसे संपत्ति मानने की वृति जगी। अब राजा पुराहितों के बीच सिर्फ लड़ाई में लूटी गई वस्तुएं, मुख्यतः गोधन तथा दासियां, ही वितरित नहीं करता था, अब वह अपने गोत्र की सहमति से भूमि का हिस्सा भी अनुदान में देने का दावा करने लगा। यद्यपि इस काल में सचमुच ऐसा अनुदान शायद ही कभी दिया गया हो, लेकिन यह राजत्व के नए स्वरूप को संतुष्ट अवश्य करता है।

इस काल में एक नए सामाजिक ढांचे का उदय हो रहा था और उसने स्वभावतः राजत्व को भी प्रभावित किया। राजा जिस प्रदेश पर शासन करता था उसमें बराबर सिर्फ उसी विश् के लोग नहीं रहते थे जिसका राजा सदस्य होता है। इसके विपरीत उसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों के लोग रहते थे, जिनका उदय वैदिक जनजातियों के विघटन और अवैदिक जनों के वैदिक समाज में शामिल किए जाने के परिणामस्वरूप हुआ था। इसलिए यह आवश्यक जान पड़ा कि अभिषेक संस्कारों के द्वारा राजा इन सामाजिक वर्गों का समर्थन प्राप्त करे। स्पष्ट है कि राजा अब क्षत्रिय वर्ग का होता था और जनसाधारण पर प्रभुत्व कायम करने

के लिए उसके लिए आवश्यक केवल यह था कि वह पुरोहित वर्ग का समर्थन प्राप्त करे। राजा को ब्राह्मणों का रक्षक और जनसाधारण का भक्षक कहा जाता था। कुछ कर्मकांडों में पुरोहित की श्रेष्ठता पर जोर दिया गया है और कुछ में क्षत्रियों की प्रमुखता पर। लेकिन अंत में एक प्रकार के पारस्परिक समझौते में बंधकर दोनों प्रचलित व्यवस्था के रक्षक के रूप में सामने आते हैं। राजा को ब्राह्मण पुरोहित को यह वचन देना पड़ता है कि वह धर्म के अनुसार आचरण करेगा और धर्म की रक्षा करेगा और 'शतपथ ब्राह्मण' में कहा गया है कि राजा और क्षत्रिय दोनों मिलकर धर्म की रक्षा करते हैं।

3. **राजा का पद वंशानुगत होना :** यद्यपि अभिषेक संस्कारों में राजा के निर्वाचन की मूल पद्धति का अनुसरण किया गया है, किंतु 'ऐतरेय ब्राह्मण' में ऐसे मंत्रों का विधान है जिनके द्वारा एक, दो और तीन पीढ़ियों के लिए राजपद प्राप्त किया जा सकता है। 'शतपथ ब्राह्मण' का एक मंत्र तो इसकी अवधि दस पीढ़ियों तक ले जाता है। हमें राजपुत्र शब्द का उल्लेख भी देखने को मिलता है, जिसका अर्थ कई प्रसंगों में राजा का पुत्र लगाया जा सकता है। एक ही परिवार के लोगों के कई पीढ़ियों तक शासन करने के उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। इस प्रकार इस काल में राजपद वंशानुगत हो गया था।

4. **राजा का पद दैविक होना :** इस काल में एक और नई बात यह हुई कि राजा को दैवी तत्वों से युक्त किया जाने लगा। इस तरह का कोई साक्ष्य 'ऋग्वेद में' शायद ही कहीं मिले, लेकिन उत्तर वैदिक काल के अभिषेक संस्कारों में विभिन्न देवताओं का आवाहन किया गया है कि राजा को अपने-अपने गुणों से संपन्न करें। एक दो स्थलों पर राजा को देवता के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है।

5. **दान व कर प्रणाली का विकास :** उत्तर वैदिक राज्य-व्यवस्था का एक उल्लेखनीय पहलू राज्य के दो अंगों अर्थात कर प्रणाली और अधिकारीतंत्र का विकास है। स्थायी कृषि तथा प्रादेशिक शासन के आरंभ के परिणामस्वरूप स्पष्ट ही राज्य को उपज का काफी बड़ा अतिरिक्त हिस्सा जिंसों में सुलभ होने लगा। राजा के लिए प्रयुक्त 'विश्मता', अर्थात जनसाधारण का भक्षक, शब्द से प्रकट होता है कि वह जनता से वसूल किए गए करों पर निर्वाह करता था। अनुष्ठानों से पता चलता है कि राजन्य और ब्राह्मण मिलकर विश् अर्थात जनजातीय किसानों को अपने वश में लाने की चेष्टा करते थे। विश् और राजन्य तो एक ही जनजाति के होते थे पर ब्राह्मण के उदय का पता ठीक से नहीं चलता है। जो भी हो, राजन्य और ब्राह्मण जबरदस्ती विश् को अपने कब्जे में लाने का यत्न करते थे ताकि वे उपज का हिस्सा कर और दान के रूप में प्राप्त कर सकें।

6. **राज अधिकारियों के गुणों की संख्या में वृद्धि :** नियमित करों के फलस्वरूप इस काल में प्रशासनिक अधिकारियों की संख्या में भी वृद्धि हुई। कम से कम 12 रत्निन् राज्यधिकारी जान पड़ते हैं। उदाहरणार्थ सेनानी, ग्रामीण, भागदुघ (कराधान व खाद्य वितरण विभाग का अधिकारी), पुरोहित, सूत (रथ वाहक व युद्ध सलाहकार), संग्रहवत (कोषाधिकारी), अक्षवाप आदि। स्पष्ट ही इनका खर्च राज्य द्वारा वसूल किए करों से चलता था। अपराधों की रोकथाम से उनका संबंध नहीं था, लेकिन जनजातीय संस्थाओं से विरासत में मिले कई विध्यात्मक कार्य वे

अवश्य करते थे। उदाहरण के लिए, वे धातुकर्म, रथनिर्माण, मांस आपूर्ति, रथ संचालन आदि की देखरेख करते थे। ऐसे कार्यों के महत्व को उस समाज के भौतिक आधार को ध्यान में रखकर अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है जिसके वे अंग थे। ये अधिकारी शायद राज परिचरवृंद के सदस्य थे और वे राजा की घर-गृहस्थी से अलग ऐसे कर्मचारी नहीं थे जिन्हें आज सरकारी नौकर कहा जाता है। इन उच्च पदाधिकारियों में पुरोहित भी शामिल था, जिसे कई सूचियों में शीर्षस्थ स्थान दिया गया है।

7. **स्थायी सेना :** उत्तर वैदिक काल के अधिकतर भाग में सेनानी कोई छोटा अधिकारी ही प्रतीत होता है। इससे लगता है कि स्थायी सेना का महत्व अब भी गौण ही था। लेकिन चूँकि 'शतपथ ब्राह्मण' की सूचि में सेनानी को सबसे ऊँचा स्थान दिया गया है, इसलिए लगता है कि वैदिक काल के अंत में सेना महत्वपूर्ण तत्व के रूप में उभरी। इस तथ्य की पुष्टि इस बात से भी होती है कि अब इस सूचि में रथ निर्माताओं और सारथियों को भी शामिल कर लिया गया। किंतु इस अवस्था में भी सेना में राज परिवार के दायाद कुटुंबी ही हुआ करते थे। हम कुरूराज को 64 योद्धाओं से घिरा देखते हैं और ये सारे योद्धा उसके पुत्र या पौत्र हैं। लेकिन जब पंचाल राज एक धार्मिक संस्कार संपादित करता है, उस समय छः हजार तैंतीस कवचधारी योद्धा खड़े हो जाते हैं। यद्यपि यह एक रूढ़ संख्या है। फिर भी यहां जितने सैनिकों का उल्लेख हुआ है उनमें शायद ऐसे योद्धा भी शामिल रहे होंगे जो राजा के दायाद कुटुंबी नहीं थे। इस अर्थ में उत्तर वैदिक काल से एक प्रकार की स्थायी सेना रखने की प्रथा का आरंभ होता है।

8. **पुलिस व्यवस्था आंतरिक दंडव्यवस्था :** उदाहरण के लिए पुलिस व्यवस्था के विकास का कोई संकेत उत्तर वैदिक साहित्य से नहीं मिलता। शायद ऋग्वैदिक काल के पुलिस अधिकारी अब भी काम करते रहे। ब्राह्मणों को देश से निष्कासित करने, वैश्यों को निरस्त करने और शूद्रों को पीटने का राजा का दावा किसी दंड संगठन के बिना चरितार्थ नहीं हो सकता था। कुछ विद्वानों का विचार है कि स्थपति तथा शतपति के उल्लेखों से नियमित प्रांतीय शासन प्रणाली के आरंभ का संकेत मिलता है। लेकिन रत्निम् सूचि में न इन अधिकारियों का कोई जिक्र है और न अधिकृत का, जिसे राजा द्वारा नियुक्त ग्रामाधिकारी माना गया है।

9. **सभा समिति के स्वरूप में बदलाव :** प्रादेशिक राज्यों के उदय के फलस्वरूप लोक संस्थाओं के लिए पहले की तरह काम करना कठिन हो गया। राज्य के विभिन्न भागों के लोगों के लिए एक स्थान पर आकर मिलना असुविधाजनक हो गया होगा। जिन लोगों के लिए शक्य था और जो राजधानी में रहते थे वही आसानी से एकत्र हो सकते थे। शासकों के सामने अवैदिक लोगों को स्थान देने की भी समस्या थी। इन सब बातों के फलस्वरूप 'सभा' तथा 'समिति' पर आभिजात्य का रंग चढ़ गया। अब ये संस्थाएं विशुद्ध रूप से पितृसत्तात्मक बन गईं, क्योंकि इन बैठकों में स्त्रियों को स्थान देने का चलन मिट गया। लोकप्रिय संस्थाओं के कुछ काम नए राज्याधिकारियों के हाथों में चले गए और उनके आकार तथा दायित्व, दोनों में कमी आ गई। संक्षेप में, यद्यपि राजा की शक्ति और अधिकारों तथा

प्रशासनिक ढांचे की दृष्टि से ऋग्वैदिक राज्य व्यवस्था की तुलना में उत्तर वैदिक राज्य व्यवस्था ने काफी विकास किया, तथापि अभी यह सप्तांग राज्य सिद्धान्त की स्थिति तक नहीं पहुंच पाई थी। वस्तुत: यह ऐसा काल था जब जनजातीय संगठन के स्थान पर धीरे–धीरे वर्ण तथा प्रदेश पर आधारित संगठन की रचना हो रही थी और वैदिक काल के अन्तिम चरण में यह प्रक्रिया पूर्णता की स्थिति के बहुत निकट पहुंच चुकी थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋग्वैदिक कालीन व्यवस्था कबीलाई सरदारी संगठन से वर्ण आधारित प्रादेशिक राज्य में परिवर्तित होती जा रही थी। इस समय प्रशासनिक ढाँचा भी कहीं अधिक विकसित रूप लेकर उभरा। इस समय प्रशासनिक अधिकारियों की संख्या में वृद्धि हुई और सभा तथा समिति के स्वरूप में भी बदलती परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन आया। अब इनका स्वरूप अधिक कुलीन तथा पुरुष प्रधान हो गया।

यद्यपि अब छोटे–छोटे कुल आधारित समुदाय बड़ी–बड़ी इकाइयों में परिवर्तित हो रहे थे। तथा धीरे–धीरे भूखण्ड का महत्व बढ़ता जा रहा था जैसाकि अथर्ववेद में राजा को 'राष्ट्र का मालिक हो तथा वरुण, बृहस्पति, इन्द्र और अग्नि देवता इसे मजबूत करे' दुआ दी जाती थी। परन्तु अभी राजा कुल के नाम से ही जाना जाता था जैसे पांचाल राजा। इस समय राज्य के दूसरे दो अन्य अंग–कर तथा प्रशासन व्यवस्था भी साफ तौर पर उभर कर सामने आए।

सभा और समिति

सभा और समिति में वैदिक कालीन राज्य व्यवस्था के दो महत्वपूर्ण आधार थे। वैदिक युगीन राजनीतिक व्यवस्था के विकास का ये एक अन्य प्रमाण था। ऋग्वेद में सभा और समिति का अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलता है। सभा शब्द ऋगवेद में आठ बार तथा समिति शब्द का वर्णन छ: बार आया है। इन दोनों को प्रजापति की दो पुत्रियाँ कहा गया है। संभवत: समिति एक वृहदतर परिषद थी जिसमें राजा की अध्यक्षता में जन–समुदायों राजनीतिक मामलों पर विचार विमर्श करता था जबकि सभा में कुछ विशिष्ट अथवा चुने हुए लोग यथा ब्राह्मण व धनाढ्य वर्ग प्रशासनिक, राजनीतिक व अन्य उद्देश्यों यथा मनोरंजन हेतु एकत्र होते थे। ऋग्वेद में प्राप्त वर्णनों के आधार पर इतिहासकारों ने सभा और समिति के विषय में विविध मत प्रस्तुत किए हैं यथा सभा का आशय 'एकत्रित जन समुदाय' तथा 'सभा–स्थल' दोनों प्रतीत होता है। सभा की सदस्यता सीमित थी, सभा में राजनीतिक विचार–विमर्श के अतिरिक्त अन्य कार्यों का निष्पादन भी होता था जबकि समिति एक वृहदतर व जनप्रिय सदस्यता पर आधारित संस्था की द्योतक है जिसमें राजनीतिक विषयों पर निर्णय लिए जाते थे। जो भी हो, इतना स्पष्ट है कि इन दोनों संस्थाओं के पास पर्याप्त शक्तियां थीं जो राजा की शक्तियों पर अंकुश लगाने का कार्य भी करती थीं।

राजा के लिए आवश्यक था कि उसके संबंध सभा व समिति के साथ सौहार्दपूर्ण रहें। इससे भी प्रतीत होता है कि ये संस्थाएं राजा पर जन–नियंत्रण की प्रतीक थीं। बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों से 'सभा' और 'समिति' के विषय में कुछ और जानकारी प्राप्त होती है। अथर्ववेद और शतपथ ब्राह्मण में प्राप्त वर्णन के अनुसार राजा यह प्रार्थना करते थे कि प्रजापति की दोनों पुत्रियां सभा और समिति मेरी सहायता करें। इस प्रार्थना में दो

टिप्पणी

संकेतार्थ छिपे हैं। प्रथम, शतपथ और ऐतरेय ब्राह्मण में राजा को प्रजापति की रचना अथवा उसका प्रतिनिधि बताने से जो दैवीय स्थिति राजा को प्राप्त हो जाती है अर्थात ये दोनों संस्थाएं राजा के समकक्ष प्रतिस्थापित हो जाती हैं। द्वितीय, इन संस्थाओं की नियंत्रक सत्ता न केवल सामान्य प्रशासन तक सीमित थी अपितु राजा के व्यक्तिगत कार्य निर्वहन तक भी व्याप्त थी।

उत्तर वैदिक साहित्य में प्राप्त विवरण से सभा और समिति के विषय में यह भी ज्ञात होता है कि 'सभा' नाम का स्थल गंभीर राजनीतिक विचार-विमर्श, सामाजिक आदान-प्रदान, मनोरंजन एवं द्यूत क्रीड़ा (जुआ) के लिए भी प्रयोग किया जाता था। जब सभा यानी बैठक होती थी तो पहले सभा की ओर से यज्ञ अथवा बलि भेंट की जाती थी, जिसमें प्रयुक्त अग्नि को 'सभ्या' कहा जाता था। मैत्रायणी संहिता से यह ज्ञात होता है कि सभा में महिलाएं भाग नहीं लेती थीं। इसी संहिता में 'सभा' का प्रयोग न्यायालय के रूप में मिलता है जिसमें ग्राम्य-वादी अर्थात ग्रामीण न्यायकर्त्ता मिलते थे। ग्राम्य वादियों का उल्लेख यजुर्वेद की संहिताओं में भी मिलता है। साथ ही, उनमें सभासद, सभाचार व सभापति शब्दों का प्रयोग भी मिलता है जिससे यह अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है कि सभा एक सक्रिय संस्था थी जिसकी एक निश्चित आचरण-शैली, सदस्यों की अवस्थिति तथा नियत्रंण व कार्यान्वयन के लिए पदाधिकरी थे। तैत्तिरीय ब्राह्मण में 'सभा-पाल' का उल्लेख भी इसी तथ्य की ओर संकेत करता है। ग्राम्य वादियों का उल्लेख यह संकेत करता है कि सभा राजनीतिक के साथ-साथ वैधानिक कार्यों का निष्पादन भी करती थी। वी. एम. आप्टे अपने अध्ययन से इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि 'यद्यपि उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर सभा व समिति के कार्यों की भिन्नता के विषय पर किसी निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है, केवल इतना कहा जा सकता है कि हर प्रकार की नीति पर विचार विमर्श व निर्णय लेना तथा विधायन समिति के प्रमुख कार्य थे जो कि एक वृहद् संस्था थी जबकि न्यायिक कार्य मुख्यत: सभा के कार्य-क्षेत्र में आते थे यद्यपि वह सभी राजनीतिक मामलों पर विचार विमर्श का अधिकार भी रखती थी।'

मनुस्मृति के अनुसार, "राजा से अधिकार पाकर जिस स्थान पर तीनों वेदों को जानने वाले विद्वान ब्राह्मण बैठते हैं, उस स्थान को सभा कहते हैं। सभा में बैठने वालों को अधर्म से धर्म को बचाना चाहिए। असत्य भाषण नहीं करना चाहिए पक्षपात के कारण सत्य को नहीं छोड़ना चाहिए और असत्यवादियों को दंडित करना चाहिए।" इसी प्रकार मत्स्य-पुराण में यह स्पष्ट किया गया है कि 'शत्रु-मित्र के प्रति समदृष्टि रखने वाला, धर्मशास्त्र को जानने वाला, ब्राह्मण, श्रेष्ठ तथा कुलीन पुरुष न्यायाधीश बनने योग्य है तथा इसी के समान गुणवान व्यक्ति सभासद बनने योग्य है।' पाणिनी ने भी नागरिक के उन गुणों को वर्णन किया है जो उसे 'सभ्य' अर्थात सभा का सदस्य बनने के योग्य बनाते हैं। उनके अनुसार '18 वर्ष का होने पर एक क्षत्रिय कवच-हार अर्थात सैनिक कार्यों के योग्य हो जाता है और 21 वर्ष की आयु का होने पर वह सब राजनीतिक अधिकारों व कर्त्तव्यों के योग्य हो जाता है।' जातक कथाओं के अनुसार सभा की सदस्यता 6000 से 60,000 के बीच होती थी। महाभारत में प्राप्त उल्लेखों से ज्ञात होता है कि निश्चित दिनों पर सभा के नियमित सत्र होते थे और सहसा घटित घटना-क्रम पर विचार-विमर्श हेतु आपातकालीन बैठक का भी प्रावधान होता था यथा अर्जुन द्वारा सुभद्रा के अपहरण की

स्थिति में। ऐसे समय में सभापाल युद्ध-भेरी बजा कर नगर के सब नागरिकों की तत्काल सभा बुलाता था।

शामशास्त्री के अनुसार, "प्रारंभिक समय से ही ऐसा प्रतीत होता है कि एक नस्ल के रूप में आर्यों ने यह हार्दिक इच्छा प्रदर्शित की कि वे अपने सामाजिक, धार्मिक, अथवा राजनीतिक प्रश्नों को अपनी सभा में हल करें। यूनानियों की सभा एरियोपेगस (Areopagus) थी, रोमवासियों की क्यूरिया (Curia) और ऐंग्लो-सेक्सन की वीटेनागिमोट (Witanagemot)। इसी प्रकार भारत में आर्यों की ऐसी संस्था सभा और समिति थीं। सभा को दिए गए अन्य नामों में जनता और परिषद भी शामिल हैं। वैदिक काल में प्रचलित शब्द सभा समिति और जनता थे जबकि सूत्र काल में सामान्यतः प्रयुक्त शब्द परिषद हैं।" बृहस्पति, भृगु और नारद के ग्रंथों में अनेक प्रकार की छोटी-बड़ी सभाओं का उल्लेख मिलता है जिनमें चल और अचल सभाएं, ग्रामीण और शहरी (नगरीय) सभाएं, उपबंधित (Chartered) सभाएं, जातीय व व्यवसायगत सभाएं तथा राजा की अध्यक्षता वाली सुव्यवस्थित सभाएं इत्यादि उल्लेखनीय हैं। इन विवरणों के आधार पर शामशास्त्री यह निष्कर्ष निकालते हैं कि, 'ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक युग में भी राज्य की प्रधान सभा के अतिरिक्त कुछ लघु अथवा गौण सभाएं थीं जिनका निर्माण प्रत्येक वर्ग अपने सामाजिक व राजनीतिक प्रश्नों के समाधान हेतु करता था। यह भी प्रतीत होता है कि राजा सहित प्रधान सभा सब प्रश्नों पर अंतिम सत्ता रखती थी।'

सभा की सदस्यता के विषय में भी विविध उल्लेख प्राप्त होते हैं, जिनसे यह प्रतीत होता है कि सभा में ज्ञानी और अज्ञानी, युवा और प्रौढ़ सभी प्रकार के सदस्य होते थे जो परस्पर सौहार्द व सम्मान भी प्रदर्शित करते थे। यद्यपि सामान्यतः भाषण तथा निर्णय का अधिकार सबकी सहमति के आधार पर शिक्षित और प्रौढ़ व्यक्तियों को दिया जाता था, अन्य को भी मताभिव्यक्ति से वंचित नहीं किया जाता था। इसी आधार पर चरकसंहिता के लेखक ज्ञानी व बुद्धिमान पुरुषों की सभा, अज्ञानी पुरुषों की सभा, मित्र-सभा, तटस्थ-सभा व पक्षपात युक्त सभा इत्यादि का उल्लेख करते हैं।

निस्संदेह सभाओं की सदस्यता व वाक्पटुता का प्रदर्शन सम्माननीय और वांछनीय था। यजुर्वेद में उल्लेख मिलता है कि विविध आशीर्वचनों में से एक सभा के योग्य पुत्र (सभ्य) का आशीर्वाद भी था। वाकपटुता अथवा वक्तृत्व की कला का सभा में कितना महत्व था इसका संकेत ऋग्वेद और अथर्ववेद में उल्लिखित उन अनुष्ठानों/बली/यज्ञों से मिलता है जो सभा में विजय हेतु प्रभावशाली भाषण की कला प्राप्त करने के लिए किए जा सकते थे। इनसे यह संकेत भी मिलता है कि सभाओं की सदस्यता विशाल थी जिसमें सबको बोलने का अवसर प्रदान किया जाता था। सभा में पुरोहित अर्थात शिक्षित वर्ग, कुलीन अर्थात व्यापारी व कृषक वर्ग इत्यादि के प्रतिनिधि उपस्थित रहते थे। बृहस्पति के अनुसार सभा के दस घटक तत्वों में (1) राजा, (2) सभा के नियुक्त सदस्य, (3) स्मृति, (4) लेखापाल, (5) लेखक, (6) स्वर्ण, (7) अग्नि, (8) जल तथा (9) दोनों पक्षों के गवाह सम्मिलित थे। इनमें से राजा निर्णय हेतु; सदस्य परीक्षण और विमर्श हेतु; स्मृति विधि के ज्ञान हेतु; स्वर्ण और अग्नि शपथ हेतु; जल प्यास हेतु; लेखापाल हिसाब-किताब अथवा लेखाकर्म हेतु; लेखक वक्तव्यों को लिपिबद्ध करने हेतु और गवाह अभियोग की पुष्टि हेतु होते थे। इस वर्णन से एक तथ्य तो अत्यंत स्पष्ट हो जाता है कि सभा के कार्यों में न्याय करना व दोषी को दंड देना अत्यंत आवश्यक था।

सभा के अन्य कार्य क्षेत्रों में युद्ध, शांति, भूमि संबंधी विवाद, ऋण–वसूली, खेल में धोखा–धड़ी, उत्तराधिकार, महिलाओं का अपहरण, मानव व पशुओं की सुरक्षा/संरक्षण, पशुओं की चोरी, युद्ध में प्राप्त सामग्री का वितरण, चोरी, हमला और हत्या इत्यादि उल्लेखनीय हैं। सूत्र साहित्य में ऊपर लिखित विषय–क्षेत्र में कुछ और विषय भी सम्मिलित किए गए यथा फलदार वृक्षों का विनाश, गलत माप–तौल का प्रयोग, युद्ध में मारे गए सैनिकों की विधवाओं हेतु प्रावधान, ब्राह्मणों और विधवाओं की कराधान से मुक्ति, निर्धन, नपुंसक तथा विक्षिप्तों का रख–रखाव, झूठी गवाही हेतु दंड की व्यवस्था करना इत्यादि।

सभा की कार्यवाही एवं निर्णय प्रक्रिया में मतैक्य एवं परस्पर सहमति का महत्वपूर्ण स्थान था जो अथर्ववेद की निम्न ऋचा से स्पष्ट हो जाता है– संगच्छध्वं, सवंदध्वं, संवों मनांसि जानताम। मुद्रा के लिए ऋग्वेद में प्रयुक्त शब्द 'निष्क' है और स्वर्ण के लिए 'हिरण्य' जिनसे एक विकसित अर्थव्यवस्था का भी संकेत मिलता है। ऋगवेद में सभा को 'किल्विस्पृत' अर्थात 'पापों या अपराधों को दंड देने वाली' कहा गया है।

संपूर्ण विवरण से एक बात सुनिश्चित होती है कि वैदिक काल में सभा और राजा शासन व्यवस्था के दो महत्वपूर्ण तत्व थे। इनमें से भी सभा अधिक महत्वपूर्ण प्रतीत होती है क्योंकि राजा भी उसकी सहायता तथा उसके साथ सौहार्दपूर्ण संबंधों की कामना करता प्रतीत होता है। इसके भी प्रमाण हैं कि राजा की मृत्यु अथवा निर्वासन की स्थिति से उत्पन्न रिक्तता के समय सभा राज्य के कार्यों की देखरेख करती थी तथा राजा भी प्रायः सभा में उभरे मतैक्य को क्रियान्वित करने के लिए बाध्य थे।

अपनी प्रगति जांचिए

1. राजनीतिक इतिहास का मुख्य आधार क्या होता है?
   (क) अनिश्चित तिथिक्रम (ख) सुनिश्चित तिथिक्रम
   (ग) कार्यक्रम (घ) पराक्रम
2. किस काल में छोटे–छोटे समुदायों के आपस में मिलने से बड़ी–बड़ी इकाइयां बन गईं?
   (क) उत्तर वैदिक (ख) दक्षिण वैदिक
   (ग) पूरब वैदिक (घ) पश्चिम वैदिक

1.3 बुद्ध काल के प्रादेशिक राज्य

छठी शताब्दी ईसा पूर्व के प्रारंभ में उत्तर भारत में सार्वभौम सत्ता का पूर्णतया अभाव था। संपूर्ण प्रदेश अनेक स्वतंत्र राज्यों में विभक्त था। ये राज्य यद्यपि उत्तर–वैदिक कालीन राज्यों की अपेक्षा अधिक विस्तृत तथा शक्तिशाली थे तथापि इनमें से कोई भी देश को राजनीतिक एकता के सूत्र में संगठित करने में समर्थ नहीं था। बुद्ध काल की राजनीतिक स्थिति का प्रामाणिक विवरण यद्यपि हमें किसी भी साहित्यिक साक्ष्य से उपलब्ध नहीं होता, तथापि बौद्ध ग्रंथ अंगुत्तर निकाय से ज्ञात होता है कि गौतम बुद्ध के उदय के कुछ पूर्व समस्त उत्तरी भारत 16 बड़े राज्यों में विभाजित था। इन्हें 'सोलह महाजनपद' (षोडश महाजनपद) कहा गया है। इनके नाम इस प्रकार मिलते हैं–

(1) काशी (2) कोशल
(3) अंग (4) मगध
(5) वज्जि (6) मल्ल
(7) चेदि (8) वत्स
(9) कुरु (10) पंचाल
(11) मत्स्य (12) शूरसेन
(13) अश्मक (अस्मक) (14) अवंति
(15) गंधार (16) कंबोज

जैन ग्रंथ 'भगवतीसूत्र' में भी इन 16 महाजनपदों की सूची मिलती है, परंतु वहां नाम कुछ भिन्न प्रकार से दिए गए हैं–

(1) अंग (2) बंग
(3) मगह (मगध) (4) मलय
(5) मालव (6) अच्छ
(7) वच्छ (वत्स) (8) कोच्छ
(9) पाढ्य (10) लाढ़
(11) वज्जि (12) मोलि (मल्ल)
(13) काशी (14) कोशल
(15) अवध (16) संभुत्तर

उपर्युक्त दोनों सूचियों की तुलना करने पर ऐसा स्पष्ट होता है कि कुछ राज्यों के नाम, जैसे- अंग, मगध, काशी, कोशल, वत्स, वज्जि आदि दोनों में ही समान हैं। इतिहासकार हेमचंद्र राय चौधरी का विचार है कि भगवतीसूत्र की सूची में जिन राज्यों के नाम गिनाए गए हैं वे सुदूर-पूर्व तथा सुदूर-दक्षिण भारत की राजनीतिक स्थिति के सूचक हैं। उनका विस्तार यह सिद्ध करता है कि वे अंगुत्तर निकाय में उल्लिखित राज्यों के बाद के हैं। अत: छठी शताब्दी ईसा पूर्व के पूर्वार्द्ध में भारत की राजनीतिक स्थिति के ज्ञान के लिए हमें बौद्ध ग्रंथ की सूची को ही प्रामाणिक मानना चाहिए। अंगुत्तर निकाय में जिन 16 महाजनपदों का उल्लेख हुआ है वे बुद्ध से पहले विद्यमान थे, क्योंकि बुद्ध काल में काशी का राज्य कोशल में तथा अंग का राज्य मगध में मिला लिया गया था। संभवत: उस समय अश्मक भी अवंति द्वारा जीत लिया गया था। इसी प्रकार वज्जि का उल्लेख यह स्पष्ट करता है कि महाजनपद विदेह राजतंत्र के पतन के बाद (छठी शताब्दी ईसा पूर्व के कुछ पूर्व) ही अस्तित्व में आए होंगे। इस प्रकार हम षोडश महाजनपदों को ईसा पूर्व छठी शती के प्रथमार्द्ध में रख सकते हैं।

अंगुत्तर निकाय की सूची में जिन 16 महाजनपदों का उल्लेख हुआ, इनमें दो प्रकार के राज्य थे–

(1) **राजतंत्र :** इनमें राज्य का अध्यक्ष राजा होता था। इस प्रकार के राज्य थे- अंग, मगध, काशी, कोशल, चेदी, वत्स, कुरु, पंचाल, मत्स्य, शूरसेन, अश्मक, अवंति, गंधार तथा कंबोज।

टिप्पणी

(2) **गणतंत्र :** ऐसे राज्यों का शासन राजा द्वारा न होकर गण अथव संघ द्वारा होता था। इस प्रकार के राज्य थे- वज्जि तथा मल्ल।

इन महाजनपदों का विवरण इस प्रकार है-

(1) काशी : वर्तमान वाराणसी तथा उसका सीमावर्ती क्षेत्र ही प्राचीन काल में काशी महाजनपद था। उत्तर में वरुणा तथा दक्षिण में असी नदियों से घिरी हुई वाराणसी नगरी इस महाजनपद की राजधानी थी। सोननंद जातक से ज्ञात होता है कि मगध, कोशल तथा अंग के ऊपर काशी का अधिकार था। जातक ग्रंथों से पता चलता है कि यह महान समृद्धिशाली तथा साधन-सम्पन्न राज्य था। काशी तथा कोशल के बीच दीर्घकालीन संघर्ष का विवरण बौद्ध ग्रंथों में प्राप्त होता है। यहां का सबसे शक्तिशाली राजा ब्रह्मदत्त था जिसने कोशल के ऊपर विजय प्राप्त की थी। किंतु अंततोगत्वा कोशल के राजा कंस ने काशी को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया।

(2) कोशल : वर्तमान अवध का क्षेत्र फैजाबाद मंडल प्राचीन काल में कोशल महाजनपद का निर्माण करता था। यह उत्तर में नेपाल से लेकर दक्षिण में सई नदी तथा पश्चिम में पंचाल से लेकर पूर्व में गंडक नदी तक फैला हुआ था। कोशल की राजधानी श्रावस्ती थी। इसके अन्य प्रमुख नगर अयोध्या तथा साकेत थे। रामायणकालीन कोशल राज्य की राजधानी अयोध्या थी। बुद्धकाल में कोशल राज्य के दो भाग हो गए। उत्तरी भाग की राजधानी साकेत तथा दक्षिणी भाग की राजधानी श्रावस्ती में स्थापित हुई। साकेत का ही दूसरा नाम अयोध्या था।

(3) अंग : उत्तरी बिहार के वर्तमान भागलपुर तथा मुंगेर के जिले अंग महाजनपद के अंतर्गत थे। इसकी राजधानी चंपा थी। महाभारत तथा पुराणों में चंपा का प्राचीन नाम मालिनी प्राप्त होता है। बुद्ध के समय तक चंपा की गणना भारत की छह महानगरियों में की जाती थी। दीघनिकाय के अनुसार इस नगर के निर्माण की योजना सुप्रसिद्ध वास्तुकार महागोविंद ने प्रस्तुत की थी। महापरिनिर्वाणसूत्र में चंपा के अतिरिक्त अन्य पांच महानगरियों के नाम राजगृह, श्रावस्ती, साकेत, कौशांबी तथा बनारस दिए गए हैं। प्राचीन काल में चंपा नगरी वैभव तथा व्यापार-वाणिज्य के लिए प्रसिद्ध थी। अंग, मगध का पड़ोसी राज्य था। जिस प्रकार काशी तथा कोशल के प्रभुसत्ता के लिए संघर्ष चल रहा था उसी प्रकार अंग तथा मगध के बीच भी दीर्घकालीन संघर्ष चला। अंग के शासक ब्रह्मदत्त ने मगध के राजा भट्टिय को पहले पराजित कर मगध के कुछ भाग को जीत लिया था किंतु बाद में अंग राज्य मगध में मिला लिया गया।

(4) मगध : यह दक्षिणी बिहार में स्थित था। वर्तमान पटना और गया जिले इसमें सम्मिलित थे। कालांतर में यह उत्तर भारत का सर्वाधिक शक्तिशाली महाजनपद बन गया। मगध तथा अंग एक-दूसरे के पड़ोसी राज्य थे तथा दोनों को पृथक करती हुई चंपा नदी बहती थी। इस महाजनपद की सीमा उत्तर में गंगा से दक्षिण में विंध्यपर्वत तक तथा पूर्व में चंपा से पश्चिम में सोन नदी तक विस्तृत थी। मगध की प्राचीन राजधानी, राजगृह अथवा गिरिव्रज थी। यह नगर पांच पहाड़ियों के बीच में स्थित था। नगर के चारों ओर पत्थर की सुदृढ़ प्राचीर बनवाई गई थी। कालांतर में मगध की राजधानी पाटलिपुत्र में स्थापित हुई।

(5) वज्जि : यह आठ राज्यों का एक संघ था। इसमें वज्जि के अतिरिक्त वैशाली के लिच्छवि, मिथिला के विदेह तथा कुंडग्राम के ज्ञातृक विशेष रूप से प्रसिद्ध थे। वैशाली उत्तरी बिहार के मुजफ्फरपुर जिले में स्थित आधुनिक नगर है। मिथिला की पहचान नेपाल की सीमा में स्थित जनकपुर नामक नगर से की जाती है। यहां पहले राजतंत्र था परंतु बाद में गणतंत्र स्थापित हो गया। कुंडग्राम वैशाली के समीप ही स्थित था। अन्य राज्यों के विषय में निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। संभवतः अन्य चार राज्य उग्र, भोग, ईक्ष्वाकु तथा कौरव थे। जैन साहित्य में ज्ञातृकों के साथ इनका उल्लेख हुआ है तथा इन्हें एक ही संस्थागार सदस्य कहा गया है। बुद्ध के समय मे यह एक शक्तिशाली संघ था।

(6) मल्ल : पूर्वी उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले में मल्ल महाजनपद स्थित था। वज्जि संघ के समान यह भी एक संघ (गण) राज्य था जिसमें पावा (पडरौना) तथा कुशीनारा (कसया) के मल्लों की शाखाएं सम्मिलित थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि विदेह राज्य की ही भांति मल्ल राज्य भी प्रारंभ में एक राजतंत्र के रूप में संगठित था। कुस जातक में ओक्काक को वहां का राजा बताया गया है। कालांतर में उनका एक संघ राज्य बन गया। बुद्ध के समय तक उनका स्वतंत्र अस्तित्व बना रहा।

(7) चेदि या चेति : आधुनिक बुंदेलखण्ड के पूर्वी तथा उसके समीपवर्ती भागों में प्राचीन काल का चेदि महाजपनपद स्थित था। इसकी राजधानी 'सोत्थिवती' थी जिसकी पहचान महाभारत के शुक्तिमती से की जाती है। महाभारत काल में यहां का प्रसिद्ध शासक शिशुपाल था जिसका वध कृष्ण द्वारा किया गया। चेतिय जातक में यहां के एक राजा का नाम 'उपचर' मिलता है।

(8) वत्स : आधुनिक इलाहाबाद तथा बांदा के जिले प्राचीन काल में वत्स महाजनपद का निर्माण करते थे। इसकी राजधानी कौशांबी थी जो इलाहाबाद के दक्षिण-पश्चिम में 33 मील की दूरी पर यमुना नदी के किनारे स्थित है। विष्णु-पुराण से पता चलता है कि हस्तिनापुर के राजा निचक्षु ने हस्तिनापुर के गंगा के प्रवाह में बह जाने के बाद कौशांबी को अपनी राजधानी बनाया था। बुद्धकाल में यहां पौरववंश का शासन था जिसका शासक उदयन था। पुराणों के अनुसार उसके पिता परंतप ने अंग की राजधानी चंपा को जीता था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास विभाग द्वारा कौशांबी में विस्तृत खुदाइयां की गई हैं जिनसे पता चलता है कि ई. पू. बारहवीं शती के मध्य से लेकर छठीं शताब्दी ईस्वी तक यहां बस्ती बसी हुई थी। श्रेष्ठि घोषित द्वारा निर्मित विहार तथा उदयन के राजप्रासाद के अवशेष भी प्राप्त होते हैं।

(9) कुरु : मेरठ, दिल्ली तथा थानेश्वर के भू-भागों में कुरु महाजनपद स्थित था। इसकी राजधानी इंद्रप्रस्थ थी। महाभारतकालीन हस्तिनापुर का नगर भी इसी राज्य में स्थित था। जातक ग्रंथों के अनुसार इस नगर की परिधि दो हजार मील के लगभग थी। बुद्ध के समय यहां का राजा कोरव्य था। कुरु देश के लोग प्राचीन समय से ही अपनी बुद्धि एवं बल के लिए प्रसिद्ध थे। पहले कुरु एक राजतंत्रात्मक राज्य था किंतु कालांतर में यहां गणतंत्र की स्थापना हुई।

(10) पंचाल : आधुनिक रुहेलखंड के बरेली, बदायूं तथा फर्रुखाबाद के जिलों से मिलकर प्राचीन पंचाल महाजनपद बनता था। प्रारंभ में इसके दो भाग थे- (1) उत्तरी

टिप्पणी

पंचाल जिसकी राजधानी अहिच्छत्र (बरेली स्थित वर्तमान रामनगर) थी तथा (2) दक्षिणी पंचाल जिसकी राजधानी काम्पिल्य (फर्रुखाबाद स्थित कंपिल) थी। कान्यकुब्ज का प्रसिद्ध नगर इसी राज्य में स्थित था। छठी शताब्दी ईसा पूर्व कुरु तथा पंचाल का एक संघ राज्य था।

(11) **मत्स्य (मच्छ) :** राजस्थान प्रांत के जयपुर क्षेत्र में मत्स्य महाजनपद बसा हुआ था। इसके अंतर्गत वर्तमान अलवर का संपूर्ण भाग तथा भरतपुर का एक भाग भी सम्मिलित था। यहां की राजधानी विराटनगर थी जिसकी स्थापना विराट नामक राजा ने की थी। बुद्धकाल में इस राज्य का कोई राजनीतिक महत्व नहीं था।

(12) **शूरसेन :** यह महाजनपद उत्तरी भारत का प्रसिद्ध जनपद था, जिसकी राजधानी मथुरा थी। इसका नाम भगवान राम के छोटे भाई शत्रुघ्न के पुत्र सूरसेन के नाम पर पड़ा था। कुछ इतिहासकारों के अनुसार यह एक कबीला था, जिसने ईसा पूर्व 600–700 के आस-पास ब्रज पर कब्जा कर लिया था। शूरसेन ने पुराने मथुरा की जगह नया नगर बसाया था जिसका वर्णन वाल्मीकि रामायण के उत्तरकांड में है।

(13) **अश्मक (अस्मक) :** गोदावरी नदी (आंध्र प्रदेश) के तट पर पर अश्मक महाजनपद स्थित था। इसकी राजधानी पोतन अथवा पोटिल थी। महाजनपदों में केवल अश्मक ही दक्षिण भारत में स्थित था। पुराणों से पता चलता है कि अश्मक के राजतंत्र की स्थापना ईक्ष्वाकुवंशी शासकों ने किया था। चुल्लकलिंग जातक से पता चलता है कि अस्मक के राजा अरुण ने कलिंग के राजा को जीता था। महात्मा बुद्ध के पूर्व अश्मक का अवंति के साथ निरंतर संघर्ष चल रहा था तथा बुद्ध काल में अवंति ने इसे जीतकर अपनी सीमा के अंतर्गत समाहित कर लिया।

(14) **अवंति :** पश्चिमी तथा मध्य मालवा के क्षेत्र में अवंति महाजनपद बसा हुआ था। इसके दो भाग थे- उत्तरी अवंति जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी तथा (2) दक्षिणी अवंति जिसकी राजधानी माहिष्मती थी। दोनों के बीच में वेत्रवती नदी बहती थी। पाली धर्मग्रंथों से पता चलता है कि बुद्ध काल में अवंति की राजधानी उज्जयिनी ही थी जहां का राजा प्रद्योत था। उज्जयिनी की पहचान मध्य प्रदेश के आधुनिक उज्जैन नगर से की जाती है। राजनीतिक तथा आर्थिक दोनों ही दृष्टियों से उज्जयिनी प्राचीन भारत का एक अत्यंत महत्वपूर्ण नगर था। यहां लोहे की खानें थीं तथा लुहार इस्पात के उत्कृष्ट अस्त्र-शस्त्र निर्मित कर लेते थे। इस कारण यह राज्य सैनिक दृष्टि से अत्यंत सबल हो गया। यह बौद्ध धर्म का प्रमुख केंद्र था जहां कुछ प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु निवास करते थे।

(15) **गंधार :** वर्तमान पाकिस्तान के पेशावर तथा रावलपिंडी जिलों की भूमि पर गंधार महाजनपद स्थित था। इसकी राजधानी तक्षशिला में थी। रामायण से पता चलता है कि इस नगर की स्थापना भरत के पुत्र तक्ष ने की थी। इस जनपद का दूसरा प्रमुख नगर पुष्कलावती था। तक्षशिला प्रमुख व्यापारिक नगर होने के साथ-साथ शिक्षा का भी प्रसिद्ध केंद्र था। छठीं शताब्दी ईसा पूर्व के मध्य में यहां पुक्कुसाति अथवा पुष्करसारिन नामक राजा राज्य कर रहा था। उसने मगधराज बिंबसार के दरबार में अपना एक दूतमंडल भेजा तथा और इस प्रकार गंधार तथा मगध राज्यों के बीच मैत्री संबंध स्थापित हुआ। पुक्कुसाति ने अवंति के ऊपर आक्रमण कर वहां के राजा प्रद्योत को पराजित किया था।

(16) कंबोज : दक्षिणी-पश्चिमी कश्मीर तथा काफिरिस्तान के भाग को मिलाकर प्राचीन काल में कंबोज महाजनपद बना था। इसकी राजधानी राजपुर अथवा हाटक थी। यह गंधार का पड़ोसी राज्य था। कालांतर में यहां राजतंत्र के स्थान पर संघ राज्य स्थापित हो गया। कौटिल्य ने कंबोजों को 'वार्ताशस्त्रोपजीवी संघ' अर्थात 'कृषि, पशुपालन, वाणिज्य तथा शस्त्र द्वारा जीविका चलाने वाला' कहा है। प्राचीन समय में कंबोज जनपद अपने श्रेष्ठ घोड़ों के लिए विख्यात था।

इस प्रकार छठी शताब्दी ईसा पूर्व के प्रारंभ में उत्तर भारत विकेंद्रीकरण एवं विभाजन के दृश्य उपस्थित कर रहा था। जिन सोलह महाजनपदों के नाम ऊपर गिनाए गए हैं उनमें पारस्परिक संघर्ष, विद्वेष एवं घृणा का वातावरण व्याप्त था। प्रत्येक महाजनपद अपने राज्य की सीमा बढ़ाना चाहता था। काशी और कोशल के राज्य एक-दूसरे के शत्रु थे। प्रारंभ में काशी विजयी रहा, परंतु अंततोगत्वा वह कोशल की विस्तारवादी नीति का शिकार बना। इसी प्रकार अंग, मगध तथा अवंति और अश्मक भी परस्पर संघर्ष में उलझे हुए थे। गणराज्यों का अस्तित्व राजतंत्रों के लिए असह्य हो रहा था। प्रत्येक राज्य अपने पड़ोसी की स्वतंत्र सत्ता को समाप्त करने पर तुला हुआ था। अन्य जनपदों की स्थिति भी इससे भिन्न नहीं रही होगी। इस विस्तारवादी नीति का परिणाम अच्छा निकला। निर्बल महाजनपद शक्तिशाली राज्यों में मिला लिए गए जिसके फलस्वरूप देश में एकता की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला।

चार शक्तिशाली राजतंत्र

छठी शताब्दी ईसा पूर्व के उत्तरार्द्ध तक आते-आते हमें उत्तर भारत की राजनीति में चार शक्तिशाली राज्यों का प्रभुत्व दिखाई देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सोलह महाजनपदों की पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता एवं संघर्ष के फलस्वरूप अनेक छोटे जनपदों का बड़े राज्यों में विलय हो गया और इस प्रकार केवल चार बड़े राजतंत्र ही प्रमुख रहे। अन्य महाजनपद या तो इनकी विस्तारवादी नीति के शिकार हुए अथवा वे अत्यंत महत्वहीन हो गए। महात्मा बुद्ध के समय में इन्हीं चार राजतंत्रों का उत्तर भारत की राजनीति में बोलबाला था। ये राज्य हैं- (1) कोशल, (2) वत्स, (3) अवंति और (4) मगध।

यहां हम प्रत्येक के विषय में कुछ विस्तार से विवरण देंगे-

(1) कोशल : कोशल उत्तर-पूर्व भारत का प्रमुख राज्य था जिसकी राजधानी श्रावस्ती थी। महात्मा बुद्ध के पूर्व ही कंस नामक राजा ने काशी राज्य को जीता था। जातक ग्रंथों में कंस को 'बारानसिग्गहो' अर्थात बनारस पर अधिकार करने वाला कहा गया है। कंस का पुत्र तथा उत्तराधिकारी महाकोशल हुआ। उसके समय में कोशल का काशी पर पूर्ण अधिकार हो गया। काशी के मिल जाने से कोशल का प्रभुत्व अत्यधिक बढ़ गया। काशी व्यापार तथा वस्त्रोद्योग का एक महत्वपूर्ण केंद्र था और तक्षशिला, सौवीर तथा अन्य दूरवर्ती स्थानों के साथ उसका व्यापारिक संबंध था। इस राज्य के मिल जाने से कोशल की राजनीतिक तथा आर्थिक समृद्धि बढ़ गई। पूर्व में उसका प्रतिद्वंद्वी राज्य मगध था। कोशल तथा मगध के बीच वैमनस्य का मुख्य कारण काशी का राज्य था जिसकी सीमाएं दोनों ही राज्यों को स्पर्श करती थीं। बुद्ध के समय कोशल का राजा प्रसेनजित था। वह महाकोशल का पुत्र था। उसने मगध को संतुष्ट करने के लिए अपनी बहन महाकोशला अथवा कोशलादेवी का विवाह मगध नरेश बिंबसार के साथ कर दिया तथा दहेज में काशी अथवा उसके कुछ ग्राम दिए। अत: बिंबसार के समय तक इन दोनों राज्यों में मैत्री संबंध

टिप्पणी

कायम रहा। परंतु बिंबसार के पुत्र अजातशत्रु के समय में कोशल और मगध में पुनः संघर्ष छिड़ा। संयुक्त निकाय में प्रसेनजित तथा अजातशत्रु के संघर्ष का विवरण मिलता है। ज्ञात होता है कि प्रथम युद्ध में अजातशत्रु ने प्रसेनजित को परास्त किया तथा उसने भाग कर श्रावस्ती में शरण ली किंतु दूसरी बार अजातशत्रु पराजित हुआ और बंदी बना लिया गया। कालांतर में प्रसेनजित ने मगध से संधि कर लेना ही श्रेयस्कर समझा और उसने अपनी पुत्री वाजिरा का विवाह अजातशत्रु से कर दिया। काशी के ग्राम, जो प्रसेनजित ने बिंबसार की मृत्यु के पश्चात वापस लिए थे, पुनः अजातशत्रु को सौंप दिये।

प्रसेनजित के समय में कोशल का राज्य अपने उत्कर्ष पर था। काशी के अतिरिक्त उसका कपिलवस्तु के शाक्य, केसपुत्त के कालाम, पावा और कुशीनारा के मल्ल, रामगाम के कोलिय, पिप्पलवन के मोरिय आदि गणराज्यों पर भी अधिकार था। बौद्ध ग्रंथ संयुक्त निकाय के अनुसार वह 'पांच राजाओं के एक गुट' का नेतृत्व करता था। प्रसेनजित महात्मा बुद्ध एवं उनके मत के प्रति श्रद्धालु था। बुद्ध उसकी राजधानी में प्रायः जाते तथा विश्राम करते थे।

प्रसेनजित का पुत्र तथा उत्तराधिकारी विडूडभ हुआ। संयुक्त निकाय से पता चलता है कि प्रसेनजित के मंत्री दीघचारन ने विडूडभ के साथ मिलकर कोशल नरेश के विरुद्ध षड्यंत्र किया। विडूडभ ने अपने पिता की अनुपस्थिति में राजसत्ता पर अधिकार कर लिया। प्रसेनजित ने भागकर मगध राज्य में शरण ली, किंतु राजगृह नगर के समीप पहुंचने पर थकान से उसकी मृत्यु हो गई। विडूडभ ने कपिलवस्तु के शाक्यों पर आक्रमण किया। संघर्ष का कारण बौद्ध साहित्य में यह बताया गया है कि कोशल नरेश प्रसेनजित महात्मा बुद्ध के कुल में संबंध स्थापित करने को काफी उत्सुक था। इस उद्देश्य से उसने शाक्यों से यह मांग की कि वे अपने वंश की एक कन्या का विवाह उसके साथ कर दें। शाक्यों को यह प्रस्ताव अपने वंश की मर्यादा के प्रतिकूल लगा किंतु वे कोशल नरेश को रुष्ट भी नहीं करना चाहते थे। अतः उन्होंने छल से वासभखत्तिया नामक एक दासी की पुत्री को प्रसेनजित के पास राजकुमारी बनाकर भेज दिया। प्रसेनजित ने उससे विवाह कर लिया। विडूडभ उसी का पुत्र था। जब उसे छल का पता लगा तब वह बड़ा कुपित हुआ तथा शाक्यों से बदला लेने का निश्चय किया। कहा जाता है कि एक बार वह स्वयं शाक्य राज्य में गया था तो शाक्यों ने 'दासी-पुत्र' कहकर उसका अपमान किया था। इसी अपमान का बदला लेने के लिए राजा बनते ही उसने शाक्यों पर आक्रमण कर दिया। वे पराजित हुए तथा नगर के पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों का भीषण संहार किया गया। उनमें से अनेक ने भागकर अपनी जान बचाई। किंतु विडूडभ को अपने दुष्कृत्यों का फल तुरंत मिला। शाक्यों के संहार के बाद जब वह अपनी पूरी सेना के साथ वापस लौट रहा था तो अचिरावती (राप्ती) नदी की बाढ़ में अपनी पूरी सेना के साथ नष्ट हो गया। रिज डेविड्स ने इस कथा की प्रामाणिकता को स्वीकार किया है। यह घटना महात्मा बुद्ध के परिनिर्वाण के कुछ पहले की है।

विडूडभ के उत्तराधिकारी के विषय में कोई जानकारी प्राप्त नहीं है। लगता है उसके साथ ही कोशल का स्वतंत्र अस्तित्व भी समाप्त हो गया तथा मगध में मिला लिया गया।

(2) वत्स : इलाहाबाद तथा बांदा जनपदों की भूमि पर स्थित वत्स भी गौतम बुद्ध के समय का एक प्रमुख राजतंत्र था। इसकी राजधानी कौशांबी में थी। इस समय यहां पौरववंशी राजा उदयन राज्य कर रहा था। विनयपिटक में उसके पिता का नाम परंतप तथा

पुत्र का नाम बोधिकुमार मिलता है। वत्स का पड़ोसी राज्य अवंति था। दोनों ही साम्राज्यवादी थे। ऐसी स्थिति में दोनों के बीच संघर्ष छिड़ना अवश्यम्भावी था। एक बार हाथियों का शिकार करते हुए उदयन को अवंतिराज प्रद्योत के सैनिकों ने बंदी बना लिया। कारागार में उसका प्रद्योत की कन्या वासवदत्ता से प्रेम हो गया तथा वह वासवदत्ता का अपहरण कर अपनी राजधानी कौशांबी वापस लौट आया। बाद में प्रद्योत ने दोनों के विवाह की अनुमति दे दी। इस प्रकार वत्स और अवंति के बीच मैत्री संबंध स्थापित हो गया।

सोमदेव के कथासरित्सागर तथा श्रीहर्ष की प्रियदर्शिका से पता चलता है कि उदयन ने कलिंग को जीता तथा अपने श्वसुर दृढ़वर्मन को अंग की गद्दी पर आसीन किया था। परंतु इन विवरणों की सत्यपरता संदेहास्पद है। यद्यपि उदयन के साम्राज्य-विस्तार का सही अंदाजा नहीं लगाया जा सकता तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि उसका साम्राज्य गंगा-यमुना के दक्षिण-पश्चिम में अवंति की सीमा तक विस्तृत रहा होगा। सुमसुमारगिरी के भग्ग गणराज्य के लोग उसकी अधीनता स्वीकार करते थे। जातक ग्रंथों के अनुसार भग्ग राज्य में उसका पुत्र बोधि निवास करता था। भास के अनुसार उदयन का विवाह मगध के राजा दर्शक की बहन पद्मावती के साथ हुआ था। इससे उदयन मगध का भी मित्र बन गया तथा अब वह मगध के विरुद्ध अवंति की सहायता नहीं कर सकता था।

उदयन प्रारंभ में बौद्धमतानुयायी नहीं था किंतु बाद में प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु पिंडोल ने उसे बौद्ध मत में दीक्षित किया। कौशांबी में उस समय कई मठ थे जिनमें 'घोषिताराम' सर्वप्रथम था। इसका निर्माण श्रेष्ठि घोषित ने करवाया था। बुद्ध स्वयं इन मठों में जाते तथा विश्राम करते थे। बौद्ध धर्म का केंद्र होने के साथ-साथ कौशांबी प्रसिद्ध व्यापारिक नगर भी था। कौशांबी की खुदाइयों से उदयन के राजप्रासाद के अवशेष मिलते हैं जिससे उसकी ऐतिहासिकता की पुष्टि हो जाती है।

उदयन के बाद वत्स राज्य का इतिहास अंधकारपूर्ण है। लगता है उसके साथ ही इसकी स्वतंत्रता का विलोप हो गया तथा यह राज्य अवंति के अधीन चला गया।

(3) अवंति : यह पश्चिमी भारत का प्रमुख राजतंत्र था। गौतम बुद्ध के समय में यहां का राजा प्रद्योत था। वह पुलिक का पुत्र था। विष्णु पुराण से पता चलता है कि पुलिक बार्हद्रथ वंश के अंतिम राजा रिपुंजय का अमात्य था। उसने अपने स्वामी को हटा कर अपने पुत्र को राजा बनाया। उसके इस कार्य का अनुमोदन समस्त क्षत्रियों ने बिना किसी विरोध के किया और प्रद्योत को राजा स्वीकार कर लिया। उसकी कठोर सैनिक नीतियों के कारण महावग्ग जातक में उसे 'चंड-प्रद्योत' कहा गया है। वह एक महत्वाकांक्षी शासक था। उसके समय में संपूर्ण मालवा तथा पूर्व एवं दक्षिण के कुछ प्रदेश अवंति राज्य के अधीन हो गए थे। आर्थिक-दृष्टि से भी यह राज्य अत्यंत समृद्ध था। यहां का लौह-उद्योग विकसित अवस्था में था। अतः यह अनुमान करना स्वाभाविक ही है कि प्रद्योत के पास उत्तम कोटि के लोहे के अस्त्र-शस्त्र रहे होंगे जिनके बल पर उसने मगध की साम्राज्यवादी नीति का दीर्घकाल तक प्रतिरोध किया था। बिंबसार के समय से मगध के साथ प्रद्योत के संबंध मैत्रीपूर्ण थे। ज्ञात होता है कि एक बार जब प्रद्योत पांडुरोग से ग्रसित हो गया तो बिंबसार ने अपने राजवैद्य जीवक को उसके उपचार के लिए भेजा था। किंतु अजातशत्रु के समय में दोनों राज्यों का मैत्री संबंध जाता रहा। मज्झिम निकाय से पता चलता है कि प्रद्योत के आक्रमण के भय से मगध नरेश अजातशत्रु अपनी राजधानी का दुर्गीकरण करवा रहा था। किंतु दोनों राजाओं के बीच कोई प्रत्यक्ष संघर्ष नहीं हो पाया। पुराणों में कहा गया है कि 'वह पड़ोसी राजाओं को अपने अधीन रखेगा तथा अच्छी नीति

टिप्पणी

का नहीं होगा। वह नरोत्तम 23 वर्षों तक राज्य करेगा।' प्रद्योत बाद में अपने बौद्ध पुरोहित महाकच्चायन के प्रभाव से बौद्ध बन गया। अवंति बौद्ध धर्म का प्रमुख केंद्र बन गया। वहां अनेक प्रसिद्ध भिक्षु तथा भिक्षुणियां निवास करते थे।

प्रद्योत के बाद उसका पुत्र पालक अवंति का राजा हुआ। परिशिष्टापर्वन् से पता चलता है कि पालक ने वत्स राज्य पर आक्रमण कर उसकी राजधानी कौशांबी पर अधिकार कर लिया था। संभवत: उसने अपने पुत्र विशाखयूप को कौशांबी का उपराजा बनाया। पालक ने 24 वर्षों तक राज्य किया। उसके बाद विशाखयूप, अजक तथा नंदिवर्धन बारी-बारी से राजा हुए जिन्होंने क्रमश: 50, 21 तथा 20 वर्षों तक राज्य किया। इन सबका अंत शिशुनाग ने किया।

(4) मगध : बुद्धकालीन राजतंत्रों में मगध सर्वाधिक शक्तिशाली सिद्ध हुआ। आगे चलकर सभी राज्य इसी में मिला लिए गए और एक प्रकार से मगध का इतिहास पूरे भारत का इतिहास बना। ऐतिहासिक काल के मगध साम्राज्य की महत्ता का वास्तविक संस्थापक बिंबसार था। वह महात्मा बुद्ध का मित्र एवं संरक्षक था। बिंबसार एक महान विजेता था। उसने अपने पड़ोसी राज्य अंग पर आक्रमण कर उसे जीता तथा अपने साम्राज्य में मिला लिया।

बिंबसार वृद्धावस्था में अपने पुत्र अजातशत्रु द्वारा माया गया। अजातशत्रु भी घोर साम्राज्यवादी था। उसने वज्जिसंघ को परास्त कर उसका राज्य मगध में मिला लिया। इसके पश्चात उसने मल्लों के संघ की भी विजय की। उसके समय में मगध राज्य का अत्यधिक उत्कर्ष हुआ।

बुद्धकालीन भारत के गणराज्य

प्रारभ में अधिकांश इतिहासकारों की धारणा थी कि प्राचीन भारत में केवल राजतंत्र ही थे परंतु बाद की खोजों से यह तथ्य प्रकाश में आया कि प्राचीन भारत में राजतंत्रों के साथ-साथ गण अथवा संघ राज्यों का भी अस्तित्व था। सर्वप्रथम 1903 में रिज डेविड्स ने साम्राज्यवादी दृष्टिकोण को चुनौती देने के लिए गणराज्यों की खोज की थी। प्राचीन साहित्य में अनेक स्थानों को गणतंत्र से भिन्न बताया गया है। अवदान शतक से पता चलता है कि मध्य प्रदेश के कुछ व्यापारी दक्षिण गए, जहां के लोगों ने उनसे उत्तर भारत की शासन-व्यवस्था के विषय में पूछा। उत्तर में उन्होंने बताया कि 'कुछ देश गणों के अधीन हैं तथा कुछ राजाओं के'। अचारांगसूत्र जैन भिक्षु को चेतावनी देता है कि उसे उस स्थान में नहीं जाना चाहिए जहां गणतंत्र का शासन हो। संघ गण का पर्यायवाची था। पाणिनी ने संघ को राजतंत्र से स्पष्टत: भिन्न बताया है- 'क्षत्रियादेक राजात संघ प्रतिषेधार्थकम्।' कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दो प्रकार के संघ राज्यों का उल्लेख मिलता है- वार्त्ताशस्त्रोपजीवी तथा राजशब्दोपजीवी। प्रथम के अंतर्गत कंबोज, सुराष्ट्र आदि तथा दूसरे के अंतर्गत लिच्छवि, वृज्जि, मल्ल, मद्र, कुकुर, पंचाल आदि की गणना की गई है। स्पष्टत: यहां 'राजशब्दोपजीवी' संघ से तात्पर्य उन गणराज्यों से ही है जो 'राजा' की उपाधि का प्रयोग करते थे। महाभारत में भी गण राज्यों का उल्लेख मिलता है। भारतीय साहित्य के अतिरिक्त यूनानी-रोमन लेखकों के विवरण से भी प्राचीन भारत में गणराज्यों का अस्तित्व प्रमाणित हो जाता है। इससे सूचित होता है कि सिकंदर के आक्रमण के समय पंजाब तथा सिंध में कई गणराज्य थे जो राजतंत्रों से भिन्न थे। मुद्रा संबंधी प्रमाणों से भी गणराज्यों का अस्तित्व सिद्ध होता है। मालवा, यौधेय, अर्जुनायन आदि अनेक गणराज्यों के सिक्के राजा का उल्लेख न कर 'गण' का ही उल्लेख करते हैं। इस प्रकार

अब यह सिद्ध हो गया है कि प्राचीन भारत में गणराज्य थे तथा वे राजतंत्रों से इस अर्थ में भिन्न थे कि उनका शासन किसी वंशानुगत राजा के हाथ में न होकर गण अथवा संघ के हाथ में होता था। परंतु प्राचीन भारत के गणतंत्र आधुनिक काल के गणतंत्र से भिन्न थे। आधुनिक काल में गणतंत्र प्रजातंत्र का समानार्थी है जिसमें शासन की अंतिम शक्ति जनता के हाथों निहित रहती है। प्राचीन भारत के गणतंत्र इस अर्थ में गणतंत्र नहीं कहे जा सकते। उन्हें हम आधुनिक शब्दावली में 'कुलीनतंत्र' अथवा 'अभिजाततंत्र' (Aristocracy) कह सकते हैं जिसमें शासन का संचालन संपूर्ण प्रजा द्वारा न होकर किसी कुल विशेष के सम्मुख व्यक्तियों द्वारा किया जाता था। उदाहरण के लिए यदि हम वैशाली के लिच्छवि गणराज्य का नाम लेते हैं तो हमें यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि वहां के शासन में वैशाली नगर की संपूर्ण जनता भाग लेती थी। बल्कि तथ्य यह है कि केवल लिच्छवि कुल के ही प्रमुख व्यक्ति मिलकर शासन चलाते थे।

बुद्ध काल में गंगाघाटी में कई गणराज्यों के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं जो इस प्रकार हैं–

(1) **कपिलवस्तु के शाक्य :** यह गणराज्य नेपाल की तराई में स्थित था जिसकी राजधानी कपिलवस्तु थी। शाक्य गणराज्य के उत्तर में हिमालय पर्वत, पूर्व में रोहिणी नदी तथा दक्षिण और पश्चिम में राप्ती नदी स्थित थी। कपिलवस्तु की पहचान नेपाल में स्थित आधुनिक तिलौराकोट से की जाती है। कुछ विद्वान इसकी पहचान सिद्धार्थनगर जिले के पिपरहवा नामक स्थान से करते हैं जहां से बौद्ध स्तूप तथा उसकी धातुगर्भ-मंजूषा के अवशेष प्राप्त किए गए हैं। इसे शाक्यवंशीय सुकीर्ति ने प्रतिस्थापित करवाया था। कपिलवस्तु के अतिरिक्त इस गणराज्य में अन्य अनेक नगर थे- चातुमा, सामगाम, खोददुस्य, सिलावती, नगरक, देवदह, सक्कर आदि। बुद्ध की माता देवदह की ही कन्या थी। शाक्य गणराज्य में लगभग 80 हजार परिवार थे। शाक्य लोग अपने रक्त पर बड़ा अभिमान करते थे और इसी कारण वे अपनी जाति के बाहर वैवाहिक संबंध स्थापित नहीं करते थे। गौतम बुद्ध का जन्म इसी गणराज्य में हुआ था। बुद्ध से संबंधित होने के कारण इस गणराज्य का महत्व काफी बढ़ गया। किंतु राजनीतिक शक्ति के रूप में शाक्य गणराज्य का कोई महत्व नहीं था और यह कोशल राज्य की अधीनता स्वीकार करता था। जैसा कि पीछे बताया जा चुका है इस राज्य का विनाश कोशल नरेश विडूडभ द्वारा किया गया।

(2) **सुमसुमार पर्वत के भग्ग :** सुमसुमार पर्वत का समीकरण मिर्जापुर जिले में स्थित वर्तमान चुनार से किया गया है। ऐसा लगता है कि भग्ग ऐतरेय ब्राह्मण में उल्लिखित 'भर्ग' वंश से संबंधित थे। भग्ग गणराज्य के अधिकार क्षेत्र में विंध्य क्षेत्र यमुना तथा सोन नदियों के बीच का प्रदेश सम्मिलित था। भग्ग लोग वत्सों की अधीनता स्वीकार करते थे। सुमसुमार पर्वत पर वत्सराज उदयन का पुत्र बोधि निवास करता था।

(3) **अलकप्प के बलि :** यह गणराज्य आधुनिक बिहार प्रांत के शाहाबाद आरा और मुजफ्फरपुर जिलों के बीच स्थित था। बुलियों का वेठद्वीप (वेतिया) के साथ घनिष्ठ संबंध था। यही संभवत: उनकी राजधानी थी। बुलि लोग बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। महापरिनिर्वाण सूत्र के अनुसार बुद्ध की मृत्यु के बाद उन्होंने उनके अवशेषों का एक भाग प्राप्त किया तथा उस पर स्तूप का निर्माण करवाया था।

(4) **केसपुत्त के कालाम :** केसपुत्त का निश्चित रूप से समीकरण स्थापित कर सकना कठिन है। यह गणराज्य कोशल के पश्चिम में स्थित था। संभवत: यह राज्य सुल्तानपुर जिले के कुंड़वार से लेकर पालिया नामक स्थान तक फैला हुआ था। वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है कि कालामों का संबंध पंचाल जनपद के 'केशियो' के साथ था। इसी गणराज्य के आलारकालाम नामक आचार्य से, जो उरुवेला के समीप रहते थे, महात्मा बुद्ध ने गृह-त्याग करने के बाद सर्वप्रथम उपदेश ग्रहण किया था। कालाम लोग कोशल की अधीनता स्वीकार करते थे।

(5) **रामगाम (रामग्राम) के कोलिय :** यह शाक्य गणराज्य के पूर्व में स्थित था। दक्षिण में यह गणराज्य सरयू नदी तक विस्तृत था। शाक्य और कोलिय राज्यों के बीच रोहिणी नदी बहती थी। दोनों राज्यों के लोग सिंचाई के लिए इसी नदी के जल पर निर्भर करते थे। नदी के जल के लिए उनमें प्राय: संघर्ष भी हो जाता था। एक बार गौतम बुद्ध ने इसी प्रकार के एक संघर्ष को शांत किया था। कोलिय गण के लोग अपनी पुलिस-शक्ति के लिए प्रसिद्ध थे। कोलियों की राजधानी रामग्राम की पहचान वर्तमान गोरखपुर जिले में स्थित रामगढ़ ताल से की गई है।

(6) **कुशीनारा के मल्ल :** कुशीनारा की पहचान देवरिया जिले में स्थित वर्तमान 'कसया' नामक स्थान से की जाती है। बाल्मीकि रामायण में मल्लों को लक्ष्मण के पुत्र चंद्रकेतु मल्ल का वंशज कहा गया है।

(7) **पावा के मल्ल :** पावा आधुनिक देवरिया जिले में स्थित पड़रौना नामक स्थान था। मल्ल लोग सैनिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। जैन साहित्य से पता चलता है कि मगध नरेश आजतशत्रु के भय से मल्लों ने लिच्छवियों के साथ मिलकर एक संघ बनाया था। अजातशत्रु ने लिच्छवियों को पराजित करने के बाद मल्लों को भी जीत लिया था।

(8) **पिप्पलिवन के मोरिय :** मोरिय गणराज्य के लोग शाक्यों की ही एक शाखा थे। महावंशटीका से पता चलता है कि कोशल नरेश विडूडभ के अत्याचारों से बचने के लिए वे हिमालय प्रदेश में भाग गए जहां उन्होंने मोरों की कूक से गुंजायमान स्थान में पिप्पलिवन नामक नगर बसा लिया। मोरों के प्रदेश का निवासी होने के कारण ही वे 'मोरिय' कहे गए। 'मोरिय' शब्द से ही 'मौर्य' शब्द बना है। चंद्रगुप्त मौर्य इसी परिवार में उत्पन्न हुआ था।

(9) **वैशाली के लिच्छवि :** यह बुद्ध काल का सबसे बड़ा तथा शक्तिशाली गणराज्य था। लिच्छवि वज्जिसंघ में सर्वप्रमुख थे। उनकी राजधानी वैशाली, मुजफ्फपुर जिले के बसाढ़ नामक स्थान में स्थित थी। महावग्ग जातक में वैशाली को 'एक धनी, समृद्धशाली तथा घनी आबादी वाला नगर' कहा गया है। यहां अनेक सुंदर भवन, चैत्य तथा विहार थे। एकपण्ण जातक से पता चलता है कि वैशाली नगर चारों ओर से तीन दीवारों से घिरा हुआ था। प्रत्येक दीवार एक-दूसरी से एक योजन दूर थी और उसमें पहरे की मीनारों वाले तीन द्वार बने हुए थे। लिच्छवियों ने महात्मा बुद्ध के निवास के लिए महावन में प्रसिद्ध कूट्टागारशाला का निर्माण करवाया था, जहां रहकर बुद्ध ने अपने उपदेश दिए थे। लिच्छवि लोग अत्यंत स्वाभिमानी तथा स्वतंत्रता-प्रेमी हुआ करते थे। उनकी शासन व्यवस्था संगठित थी। बुद्ध काल में यह राज्य अपनी समृद्धि की पराकाष्ठा पर था। यहां का राजा चेटक था। उसकी कन्या

टिप्पणी

छलना का विवाह मगधनरेश बिंबसार के साथ हुआ था। महावीर की माता त्रिशला उसकी बहन थी। जैन साहित्य से पता चलता है कि अजातशत्रु के विरुद्ध चेटक ने मल्ल, काशी तथा कोशल के साथ मिलकर एक सम्मिलित मोर्चा बनाया था।

(10) **मिथिला के विदेह :** बिहार के भागलपुर तथा दरभंगा जिलों के भू-भाग में विदेह गणराज्य स्थित था। प्रारंभ में यह राजतंत्र था। यहां के राजा जनक अपनी शक्ति एवं दार्शनिक ज्ञान के लिए विख्यात थे। परंतु बुद्ध के समय में यह संघ राज्य बन गया। विदेह लोग भी वज्जि संघ के सदस्य थे। उनकी राजधानी मिथिला की पहचान वर्तमान जनकपुर से की जाती है। बुद्ध के समय मिथिला एक प्रसिद्ध व्यापारिक नगर था जहां श्रावस्ती के व्यापारी अपना माल लेकर आते थे।

गणराज्यों का विधान तथा शासन-पद्धति

गणराज्यों के विधान तथा शासन पद्धति के विषय में बहुत कम बातें ज्ञात हैं। इतना तो स्पष्ट ही है कि लिच्छवि आदि बड़े गणराज्यों की शासन व्यवस्था मोरिय, कोलिय आदि छोटे राज्यों की अपेक्षा भिन्न रही होगी। गण की कार्यपालिका का अध्यक्ष एक निर्वाचित पदाधिकारी होता था जिसे 'राजा' कहा जाता था। सामान्य प्रशासन की देख-भाल के साथ-साथ गणराज्य में आंतरिक शांति एवं सामंजस्य बनाए रखना उसका एक प्रमुख कार्य था। अन्य पदाधिकारियों में उपराजा (उपाध्यक्ष), सेनापति, भांडागारिक (कोषाध्यक्ष) आदि प्रमुख थे। परंतु राज्य की वास्तविक शक्ति एक केंद्रीय समिति अथवा संस्थागार में निहित होती थी। इस समिति के सदस्यों की संख्या काफी बड़ी होती थी। समिति के सदस्य भी 'राजा' कहे जाते थे। एकपण्ण जातक के अनुसार लिच्छवि गणराज्य की केंद्रीय समिति में 7707 राजा थे तथा उपराजाओं, सेनापतियों और कोषाध्यक्षों की संख्या भी यही थी। इसी प्रकार एक स्थान पर शाक्यों के संस्थागार के सदस्यों की संख्या 500 बताई गई है। ये संभवत: राज्य के कुलीन परिवारों के प्रमुख थे जिन्हें 'राजा' की पदवी का अधिकार था। प्रत्येक राजा के अधीन उपराजा, सेनापति, भांडागारिक आदि पदाधिकारी होते थे। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि लिच्छवि राज्य अनेक छोटी-छोटी प्रशासनिक इकाइयों में विभक्त था तथा प्रत्येक इकाई का अध्यक्ष एक राजा होता था जो अपने अधीन पदाधिकारियों की सहायता से उस इकाई का शासन चलाता था। प्रत्येक इकाई के अध्यक्ष केंद्रीय समिति के सदस्य होते थे। गणराज्यों से संबंधित सभी महत्वपूर्ण विषयों, जैसे- संधि-विग्रह, कूटनीतिक संबंध, राजस्व संग्रह आदि के ऊपर केंद्रीय समिति के सदस्य संस्थागार में पर्याप्त वाद-विवाद के पश्चात बहुमत से निर्णय लेते थे। जब रोहिणी नदी के जल-विवरण के संबंध में कोलियों तथा शाक्यों के कृषकों के बीच विवाद हुआ तो उन्होंने अपने-अपने अधिकारियों को सूचित किया तथा अधिकारियों ने अपने राजाओं को बताया। राजाओं ने इस विषय पर पर्याप्त वाद-विवाद के पश्चात युद्ध का निर्णय लिया। इस प्रकार कोशल नरेश विडूडभ द्वारा शाक्य गणराज्य पर आक्रमण किए जाने तथा उनकी राजधानी का घेरा डालकर उनसे आत्म-समर्पण के लिए कहे जाने पर शाक्यों ने अपने संस्थागार में आत्म-समर्पण अथवा युद्ध करने के ऊपर विचार-विमर्श किया। अंत में बहुमत से आत्म-समर्पण का निर्णय लिया गया। लिच्छवि गणराज्य में सेनापति के चुनाव का भी एक विवरण प्राप्त होता है। तदनुसार सेनापति खंड की मृत्यु के बाद सेनापति सिंह की नियुक्ति संस्थागार के सदस्यों द्वारा निर्वाचन के आधार पर की गई थी। कुशीनारा के मल्लों ने बुद्ध की अंत्येष्टि तथा उनकी धातुओं के विषय में अपने संस्थागार में विचार-विमर्श किया था।

टिप्पणी

इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि गणराज्यों का शासन जनतंत्रात्मक ढंग से चलाया जाता था। यदि यह मान लिया जाए कि बौद्ध संघ की कार्य-पद्धति गणराज्यों की कार्य-पद्धति पर आधारित थी, तो हम गणराज्यों की कार्य-प्रणाली के विषय में कुछ और निष्कर्ष निकाल सकते हैं। ऐसी स्थिति में यह कहा जा सकता है कि संस्थागार की कार्रवाई आधुनिक प्रजातंत्रात्मक संसद के ही समान थी। प्रत्येक सदस्य के बैठने की अलग-अलग व्यवस्था की जाती थी। इस कार्य के लिए 'आसनपन्नापक' नामक पदाधिकारी होता था। कोरम की पूर्ति, प्रस्ताव रखने, मतगणना आदि के लिए सुस्पष्ट एवं सुनिश्चित नियम होते थे। संस्थागार में रखा जाने वाला प्रस्ताव सामान्यत: तीन बार दोहराया जाता था तथा विरोध होने पर स्वीकार कर लिया जाता था। विरोध होने पर बहुमत लिया जाता था। गुप्तमत-प्रणाली (Secret Ballot) की प्रथा थी। अनुपस्थित सदस्य के मत लेने के भी नियम बने हुए थे। मतदान अधिकारी को 'शलाका ग्राहक' कहा जाता था। प्रत्येक सदस्य को अनेक रंगों की शलाकाएं दी जाती थीं। विशेष प्रकार के मत के लिए विशेष रंग की शलाका होती थी जो शलाका ग्राहक के पास पहुंचती थी। मत के लिए 'छंद' शब्द का प्रयोग मिलता है। विवादग्रस्त विषय समितियों के पास भेजे जाते थे। संस्थागार के कार्यों के संचालन के लिए अनेक पदाधिकारी होते थे। गणों की कार्यपालिका का अध्यक्ष ही संभवत: संस्थागार का भी प्रधान होता था। सामान्यत: गणराज्यों की सरकार पर केंद्रीय समिति का पूर्ण नियंत्रण होता था। राज्य के उच्च पदाधिकारी तथा प्रादेशिक शासकों की नियुक्ति समिति द्वारा ही की जाती थी। गणराज्यों में एक मंत्रिपरिषद भी होती थी जिसमें चार से लेकर बीस तक सदस्य होते थे। ये केंद्रीय समिति द्वारा ही नियुक्त किए जाते थे। गणाध्यक्ष ही मंत्रिपरिषद का प्रधान होता था। केंद्रीय समितियां न्याय का भी कार्य करती थीं।

वज्जिसंघ की न्याय व्यवस्था के विषय में वृद्धघोष की टीका 'सुमंगलविलासिनी' से कुछ सूचनाएं प्राप्त होती हैं। इससे हमें ज्ञात होता है कि वज्जिसंघ में आठ न्यायालय होते थे। कोई भी व्यक्ति तभी दंडित किया जा सकता था जब वह एक-एक करके आठों न्यायालयों द्वारा दोषी ठहराया गया हो। प्रत्येक न्यायालय अपराधी को मुक्त करने के लिए स्वतंत्र था। इन न्यायालयों के प्रधान अधिकारी इस प्रकार थे- (1) विनिच्चय महामात्त (विनिश्चय महामात्र) (2) वोहारिक (व्याहारिक) (3) सूत्ताधार (सूत्रधार) (4) अट्ठकुलक (अष्टकुलक) (5) भांडागारिक (6) सेनापति (7) उपराजा और (8) राजा। राजा का न्यायालय अंतिम होता था। दंड देने का अधिकार केवल राजा को ही था। अन्य न्यायालय निर्दोष होने पर अपराधी की मुक्ति तो कर सकते थे किंतु दोषी होने पर उसे दंडित नहीं कर सकते थे। वे उसे उच्चतर न्यायालय में भेज देते थे। राजा दंड देते समय 'पवेनिपोट्ठक' अर्थात पूर्व दृष्टांतों का अनुसरण करता था। इस विवरण से स्पष्ट होता है कि लिच्छवि गणराज्य में व्यक्ति की स्वतंत्रता को पूर्णतया सुरक्षित रखा गया। यह एक नागरिक की स्वतंत्रता की जनतांत्रिक विचारधारा का समर्थन करता है जो विश्व इतिहास में शायद अद्वितीय है।

गणराज्यों में ग्राम पंचायतें भी होती थीं जो राजतंत्रात्मक राज्यों की ग्राम-पंचायतों के समान ही अपना कार्य करती थीं तथा कृषि, व्यापार, उद्योग आदि के विकास का ध्यान रखती थीं।

गणराज्यों के विधान तथा शासन के विषय में जो थोड़ी-बहुत सूचना मिलती है उससे ऐसा स्पष्ट होता है कि ये राज्य बड़े समृद्ध तथा सुव्यवस्थित रहे होंगे। स्वयं महात्मा

बुद्ध ने वज्जिसंघ की सुव्यवस्था की प्रशंसा करते हुए कहा था- ''जब तक वे बार-बार अपने संस्थागार में बैठक करते रहेंगे, मिलकर सहमति से रहेंगे, निर्णय लेंगे, प्राचीन परंपराओं का पालन करेंगे, अपने बड़े-बूढ़ों का सम्मान करेंगे तथा उनके आदेश का पालन करेंगे तब तक उनकी प्रगति होती ही रहेगी।'' वस्तुतः वज्जिसंघ की शक्ति उसके संगठन में ही निहित थी। जब तक यह संघ संगठित रहा, अजातशत्रु जैसे शक्तिशाली राजा भी उससे भयभीत थे। किंतु जब उसमें फूट पड़ गई तब उसका पतन हो गया।

गणराज्यों के विनाश के कारण

जैसा कि उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है बुद्धकाल के कुछ गणराज्य अत्यंत शक्तिशाली एवं सुव्यवस्थित थे। उन्होंने अपने समकालीन राजतंत्रों का बड़ा प्रतिरोध किया था। देश-भक्ति तथा स्वाधीनता की भावना उनमें कूट-कूट कर भरी हुई थी। किंतु वे राजतंत्रों के विरुद्ध अपनी स्वतंत्रता की रक्षा नहीं कर सके तथा अंततोगत्वा उनका पतन हुआ। इसके लिए अनेक कारण उत्तरदायी बताए गए हैं।

काशी प्रसाद जायसवाल का मत है कि समुद्रगुप्त की साम्राज्यवादी नीति ने गणराज्यों की स्वाधीनता का अंत कर दिया जिसके फलस्वरूप उनका विलोप हो गया। किंतु यह विचार तर्कसंगत नहीं है। हमें ज्ञात है कि समुद्रगुप्त-कालीन गणराज्य नाममात्र के लिए उसकी प्रभुसत्ता स्वीकार करते थे तथा उन्हें पर्याप्त आंतरिक स्वायत्तता मिली हुई थी। गणराज्यों के विनाश का सबसे बड़ा कारण उसके शासन में उच्चपदों का आनुवंशिक होना है। चूंकि प्राचीन ग्रंथों में सर्वत्र राजतंत्र की ही प्रशंसा की गई थी तथा राजा का पद दैवी माना गया था, अतः गणराज्यों ने भी सुशासन एवं सुरक्षा की दृष्टि से राजतंत्रात्मक प्रणाली को अपनाना लाभकर समझा। गणराज्यों के शासक राजतंत्रों के अनुकरण पर महाराज तथा महासेनापति जैसी उपाधियां ग्रहण करने लगे। ये पद वंशानुगत रूप से चलने लगे। कुमारदेवी के उदाहरण से स्पष्ट है कि वह लिच्छवि गणराज्य की आनुवांशिक रूप से उत्तराधिकारिणी थी। क्रमशः गणराज्यों में सत्ता सबसे प्रभावशाली व्यक्ति के हाथ में केंद्रित हो गई। अब राजतंत्रों से उनका कोई विभेद नहीं रह गया। इस प्रकार उनके शासन का जनतांत्रिक स्वरूप समाप्त हो गया। गणराज्यों की आपसी फूट तथा समकालीन राजतंत्रों की विस्तारवादी नीति को भी न्यूनाधिक रूप से उनके पतन के लिए उत्तरदायी माना जा सकता है।

अपनी प्रगति जांचिए

3. छठी शताब्दी ईसा पूर्व के प्रारंभ में कहां सार्वभौम सत्ता का पूर्णतया अभाव था?

   (क) इंग्लैंड में (ख) फ्रांस में

   (ग) उत्तर भारत में (घ) अमेरिका में

4. गौतम बुद्ध के उदय के कुछ पूर्व समस्त उत्तरी भारत कितने बड़े राज्यों में विभाजित था?

   (क) 13 (ख) 14

   (ग) 15 (घ) 16

टिप्पणी

1.4 मौर्य साम्राज्य : सामाजिक-आर्थिक आधार

मौर्य प्रशासन की यदि हम आलोचनात्मक समीक्षा करें तो स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि सिद्धांत रूप में सम्राट की स्थिति निरंकुश शासक जैसी थी तथापि व्यवहार में वह कदापि निरंकुश नहीं था। मौर्य शासक अपनी प्रजा के हितों के प्रति काफी सजग थे तथा उन्हें रात-दिन इसकी चिंता बनी रहती थी। अर्थशास्त्र में प्रजा-हित को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई थी। कौटिल्य का निश्चित मत है कि राजा को प्रजा की कठिनाइयों को सुनने तथा उन्हें दूर करने के लिए सदा सुलभ रहना चाहिए। इसी प्रसंग में वह स्पष्ट चेतावनी देता है कि जिस राजा का दर्शन प्रजा के लिए दुर्लभ हो जाता है वह शीर्घ ही प्रजा के कोप का भाजन बनता है तथा उसका विनाश हो जाता है। 'निरंतर कार्य में संलग्न रहना' राजा का कर्तव्य बताया गया है। हमारे पास यह विश्वास करने के लिए आधार हैं कि चंद्रगुप्त ने इस सिद्धांत को कार्यरूप में परिणत किया होगा। यूनानी राजदूत मेगस्थनीज इस बात की सूचना देता है कि सम्राट प्रजा के कार्यों को करने के लिए दिन भर राजसभा में बैठा रहता था। यहां तक कि शरीर की मालिश कराते समय भी वह प्रजा की शिकायतों को सुनता था। जब हम अशोक के प्रशासन पर दृष्टिपात करते हैं तो स्पष्ट होता है कि उसे भी प्रजा हित की चिंता बराबर सताती रहती थी। सर्वोच्च शक्ति एवं वैभव को प्राप्त कर लेने के बावजूद वह अपने को प्रजा का सेवक ही समझता रहा। उसने यह भली-भांति समझ लिया था कि 'सर्वलोक हित से बढ़कर दूसरा कोई कार्य नहीं होता है' और यह जान लेने के बाद उसने अपने सभी स्रोतों को अपनी प्रजा के हित-साधन में लगा दिया। राजत्व संबंधी उसकी अवधारणा पितृपरक थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी इस अवध ारण का उल्लेख मिलता है। इस संबंध में भंडारकर महोदय का विचार है कि ''यह मौर्य काल के राजकीय निरंकुशवाद (Royal Absolutism) की ओर स्पष्ट संकेत करता है। जैसे बच्चे एकमात्र अपने माता-पिता के अधीन होते हैं तथा वे उनके साथ यथेच्छित व्यवहार कर सकते हैं, उसी प्रकार प्रजा राजा की कृपा पर निर्भर थी और राजा की स्थिति पूर्ण निरंकुश से बेहतर नहीं थी।" यद्यपि यह सही है कि पितृपरक अवधारणा की आड़ में किसी भी शासक का निरंकुश आचरण संभव है तथा प्राचीन युग में कुछ कुलपति निरंकुश रहे हैं किंतु अशोक जैसे सदाशय सम्राट के विषय में यह नहीं कहा जा सकता। उसके हृदय में प्रजा के हित और सुख की सच्ची चाह तथा चिंता थी। वह अपनी प्रजा का न केवल भौतिक अपितु नैतिक उत्थान करना चाहता था और उसने किया भी। प्रजा की कठिनाइयों का निवारण करने के उद्देश्य से ही उसने अपने प्रमुख पदाधिकारियों को विशाल साम्राज्य में दौरे पर भेजा तथा वह स्वयं भी दौरे पर निकलता था। प्रजाहित के प्रति जागरूकता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है कि अशोक ने अपने प्रतिवेदकों को स्पष्ट आदेश दिया कि वे प्रत्येक समय तथा स्थान में उसे प्रजा के कष्टों की सूचना दें क्योंकि वह सभी जगह तथा समय में प्रजा का ही कार्य करता था।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मौर्य सम्राट जनहित के प्रति अत्यंत प्रबुद्ध थे। कम-से-कम दो महान शासकों- चंद्रग्रुप्त तथा अशोक- के विषय में यह कहा जा सकता है कि उनकी दृष्टि में प्रजाहित, व्यक्तिगत हित से बढ़कर था। यही कारण है कि इतने विशाल साम्राज्य में ये सम्राट जीवन पर्यंत शांति और सुव्यवस्था बनाए रखने में सफल हुए तथा अपनी प्रजा के प्रिय पात्र बने रहे। मौर्य प्रशासन की सफलता का यही सबसे बड़ा रहस्य है।

सामाजिक व्यवस्था

मौर्य काल तक आते-आते वर्णाश्रम व्यवस्था को एक निश्चित आधार प्राप्त हो चुका था। वर्ण कठोर होकर जाति के रूप में बदल गए जिसका आधार जन्म था। यूनानी लेखकों के विवरण से जाति-व्यवस्था के अत्यंत जटिल होने की सूचना मिलती है। मेगस्थनीज ने भारतीय समाज में सात वर्गों का उल्लेख किया है- (1) दार्शनिक (2) कृषक (3) योद्धा (4) पशुपालक (5) कारीगर (6) निरीक्षक और (7) मंत्री।

कोई भी व्यक्ति न तो अपनी जाति के बाहर विवाह कर सकता था और न उससे भिन्न पेशा ही अपना सकता था। परंतु दार्शनिक इसके अपवाद थे और वे किसी भी वर्ग के हो सकते थे। मेगस्थनीज का यह वर्गीकरण व्यवसाय के आधार पर किया गया जान पड़ता है। इससे न तो ब्राह्मण ग्रंथों में वर्णित चारों वर्णों का बोध होता है और न तत्कालीन समाज की बहुसंख्यक जातियों की ही सूचना मिलती है।

दार्शनिक समाज के बुद्धिजीवी वर्ग थे। उनका राजदरबार एवं समाज में बड़ा सम्मान था। राज्य अपने राजस्व का एक भाग दार्शनिकों के भरण-पोषण पर व्यय करता था। वे समाज की शिक्षा एवं संस्कृति के रक्षक थे। इस वर्ग में ब्राह्मण तथा श्रमण दोनों ही आते थे। वे सादा जीवन व्यतीत करते थे तथा अपना समय अध्ययन और शास्त्रार्थ में व्यतीत करते थे। इनमें से कुछ जंगलों में निवास करते थे, कंदमूल फल खाते थे तथा वृक्षों की छाल पहनते थे। यूनानी लेखकों ने भी वनों में रहने वाले संन्यासियों का उल्लेख किया। अशोक के अभिलेखों में गृहस्थ संन्यासियों तथा वनों में विचरण करने वाले श्रमणों का उल्लेख मिलता है। चारों आश्रमों की व्यवस्था भी समाज में प्रचलित थी।

देश की संख्या का बहुत बड़ा भाग कृषकों का था। वे सादगी का जीवन व्यतीत करते तथा नगर की चलह-पहल से दूर रहते थे। मेगस्थनीज के अनुसार वे सदा अपने कामों में लगे रहते थे। जिस समय सैनिक युद्ध करते थे, उस समय भी कृषक कृषि-कर्म में व्यस्त रहते थे। कृषकों के बाद संख्या में सबसे अधिक क्षत्रिय वर्ग के लोग थे। वे केवल सैनिक कार्य किया करते थे।

कृषक, कारीगर तथा व्यापारी सैनिक कर्तव्यों से मुक्त रहते थे। वे गांवों में निवास करते। पशुपालक तथा शिकारी खानाबदोश जीवन व्यतीत करते थे। कुछ शिकारी राज्य की ओर से कृषि को क्षति पहुंचाने वाले जीव-जंतुओं को नष्ट करने के लिए नियुक्त किए जाते थे और इस कार्य के लिए उनको पारितोषिक मिलता था। कारीगरों का समाज में बड़ा सम्मान था तथा उनकी अंग-क्षति करने वाले राज्य की ओर से दंडित किए जाते थे। अर्थशास्त्र से पता चलता है कि समाज में दासों की स्थिति संतोषजनक थी। उन्हें संपत्ति रखने तथा बेचने का अधिकार प्राप्त था। उनके साथ अनुचित व्यवहार करने वाले स्वामी अर्थशास्त्र में दंडनीय बताए गए हैं। साधारणत: युद्ध में बंदी बनाए गए तथा म्लेच्छ लोग ही दास के रूप में रखे जाते थे। अशोक के अभिलेखों में भी दासों तथ भृत्यों के साथ उचित बर्ताव करने का उपदेश दिया गया है। अशोक के समय में बौद्ध धर्म की लोकप्रियता के कारण जाति-प्रथा की कठोरता में पर्याप्त शिथिलता आ गई थी।

रोमिला थापर, आर. आर. शर्मा जैसे कुछ आधुनिक इतिहासकार मौर्यकालीन समाज में शूद्रों की स्थिति अत्यंत दयनीय होने की बात कहते हैं। वे भारतीय दासों की समता यूनान तथ रोम के दासों से स्थापित करते हैं। उनके अनुसार मौर्यकाल में राजकीय नियंत्रण

अत्यंत कठोर था। प्राकृतिक साधनों के अधिकाधिक उपयोग की लालसा से राज्य में शूद्र वर्ण को रोमीय हेलाटों की स्थिति में ला दिया गया। थापर के अनुसार, 'अशोक ने कलिंग युद्ध के डेढ़ लाख बंदियों को बंजर भूमि साफ कराने तथा नई बस्तियां बसाने के कार्य में नियोजित कर दिया था।' शर्मा मौर्यकालीन समाज की तुलना यूनान तथा रोम के समाज से करते हुए लिखते हैं कि 'यूनान तथा रोम में दास जो कार्य करते थे ठीक वही कार्य भारत में शूद्र किया करते थे, यद्यपि भारतीय समाज दास-समाज नहीं था।' किंतु यह विचार अतिवादी है। यूनानी लेखक मेगस्थनीज भारतीय समाज में दास-प्रथा प्रचलित होने का उल्लेख नहीं करता जो इस बात का प्रमाण है कि भारत में दासों की दशा यूनान तथा रोम के दासों से कहीं बहुत अच्छी थी। इस मत के लिए कोई आधार नहीं है कि अशोक ने डेढ़ लाख युद्ध बंदियों को बंजर भूमि साफ कराने के लिए नियोजित कर दिया था। वह कहीं अपने उद्देश्य पर प्रकाश नहीं डालता। निर्वासन के अन्य कारण भी हो सकते हैं। संभव है विद्रोह की आशंका को समाप्त करने के लिए उन्हें कलिंग से हटा दिया गया हो। आर. सी. मजूमदार का विचार है कि वे दक्षिण-पूर्व एशिया में चले गए जहां उन्होंने भारतीय संस्कृति का प्रचार किया। किंतु ये सभी संभावनाएं ही हैं। यूनान तथा रोम के दास जो कुछ भी करते थे वह सभी आधुनिक मजदूरों द्वारा किया जाता है। किंतु मात्र कार्यों की समानता से कोई वेतन-भोगी श्रमिक दास नहीं हो जाता है, जैसा कि डॉ. ओम प्रकाश ने स्पष्ट किया है, 'दास की अवधारणा के अंतर्गत दास कहे जाने वाले का स्वामित्व दूसरे के पास होता है जो स्वामी कहलता है। बंधुआ मजदूर दास श्रमिक नहीं होता तथा औद्योगिक मजूदर बंधुआ मजदूर नहीं कहा जा सकता है। दासों की बड़ी संख्या के अभाव में बड़े पैमाने पर दासता की बात नहीं कही जा सकती।' यदि हम यूनानी-रोमन दासों को भारतीय शूद्र मान लें तो यह मानना पड़ेगा कि यहां शूद्र स्वतंत्र किसान नहीं थे तथा उन्हें संपत्ति रखने का अधिकार नहीं था। अर्थशास्त्र में स्पष्टत: 'वार्ता' अर्थात कृषि, पशुपालन एवं वाणिज्य को शूद्र का धर्म बताया गया है। 'शूद्र कर्षक' का भी उल्लेख मिलता है जिसका अर्थ है- शूद्र किसान। उन्हें सेना में भर्ती होने तथा संपत्ति रखने का भी अधिकार था। वह कृषि योग्य भूमि खरीद सकता था। दायगत नियमों में वर्णसंकर जातियों तक की उपेक्षा नहीं की गई है। अत: मौर्य समाज की दशा यूनानी-रोम समाज के दासों से बहुत अच्छी थी। गौतम धर्मसूत्र, जो अर्थशास्त्र से प्राचीनतर है, में भी 'वार्ता' को शूद्र का वर्णधर्म बताया गया है। मनुस्मृति से भी पता चलता है कि शूद्रों को संपत्ति का अधिकार था।

समाज में संयुक्त परिवार की प्रथा थी। लड़कों के लिए वयस्कता की आयु 16 वर्ष तथा कन्याओं के लिए 12 वर्ष होती थी। स्मृतियों में वर्णित विवाह के आठों प्रकार इस समय समाज में प्रचलित थे। तलाक की प्रथा थी। तलाक पति-पत्नी की सहमति से संभव था। पति के बहुत समय तक विदेश में रहने या उसके शरीर में दोष होने पर पत्नी उसका त्याग कर सकती थी। इसी प्रकार पत्नी के व्यभिचारिणी होने या बंध्या होने जैसी दशाओं में पति उसका त्याग कर सकने का अधिकारी था। पति की मृत्यु हो जाने पर स्त्री अपना पुनिर्विवाह कर सकने के लिए स्वतंत्र थी। विवाहिता स्त्री के उपहार तथा आभूषण उसकी अपनी संपत्ति (स्त्रीधन) होते थे। पति के अत्याचारों के विरुद्ध पत्नी न्यायालय में जा सकती थी। स्त्रियों के साथ अन्याय अथवा अत्याचार करने वाले राज्य की ओर से दंडित किए जाते थे। कुलीन परिवारों में बहुविवाह की प्रथा थी। समाज में अंर्तजातीय विवाह का भी प्रचलन था। उच्च जाति के व्यक्ति का अपने नीचे की जाति

में विवाह अनुलोम तथा उच्चजातीया कन्या का निम्नजातीय वर के साथ विवाह प्रतिलोम कहा जाता था। चंद्रगुप्त मौर्य का यूनानी कन्या के साथ विवाह हिंदू समाज में एक क्रांतिकारी कदम था। यूनानी लेखकों के विवरण से पता चलता है कि स्त्रियां सम्राट की अंगरक्षिका नियुक्त की जाती थीं। अर्थशास्त्र में स्त्री के लिए 'असूर्यपश्या' (सूर्य को न देखने वाली), 'अवरोधन' तथा 'अंत:पुर' शब्दों का प्रयोग हुआ है। इससे ऐसा निष्कर्ष निकलता है कि समाज में पर्दा-प्रथा भी प्रचलित रही होगी। संभवत: यह उच्च कुलों तक ही सीमित थी। अर्थशास्त्र में गणिकाओं का उल्लेख हुआ है जिनकी देख-रेख करने के लिए 'गणिकाध्यक्ष' नामक पदाधिकारी नियुक्त होते थे। इस वर्ग की महिलाओं में अभिनेत्री, नर्तकी, गायिका आदि सम्मिलित थीं।

यूनानी लेखकों ने भारतीयों के अनुशासित एवं सरल जीवन का उल्लेख किया है। मेगस्थनीज लिखता है कि लोग मितव्ययी तथा उच्च नैतिक आचरण वाले होते थे। वे सत्य एवं गुणों का समान रूप से आदर करते थे। उनके भोजन में अन्न, फल, दूध तथा मांस सम्मिलित थे। अन्नों मे गेहूं, चावल तथा जौ का प्रयोग होता था। मेगस्थनीज ने भारतीयों के खाने के ढंग का इस प्रकार वर्णन किया है- ''जब वे खाने बैठते हैं तो उनके सामने तिपाई के आकार की एक मेज रख दी जाती है। उसके ऊपर एक सोने का प्याला रखा जाता है। इसमें सर्वप्रथम चावल डाला जाता है। इसके बाद भोजन के अन्य पकवान एवं पदार्थ परोसे जाते हैं, जो भारतीय विधि द्वारा तैयार किए जाते हैं।''

मौर्यकालीन भारतीय अच्छे वस्त्रों एवं आभूषण के शौकीन थे। उनके कपड़े सोने एवं बहुमूल्य पत्थरों से जड़े हुए होते थे। बड़े लोगों के पीछे छत्र धारण किए हुए सेवक चलते थे। रथ-दौड़, घुड़-दौड़, सांड़-युद्ध, हस्ति-युद्ध, मृगया आदि मनोविनोद के साधन थे। नट, नर्तक, गायक, वादक, मदारी, चारण, विदूषक आदि विविध प्रकार के लोग नाना प्रकार के मनोरंजन किया करते थे। राज्य की ओर से अनेक प्रकार के उत्सवों एवं मेलों का आयोजन किया जाता था। अशोक ने कई हिंसक मनोरंजन के साधनों के ऊपर पाबंदी लगा दी थी।

धार्मिक दशा

मौर्य काल में अनेक धर्म एवं संप्रदाय प्रचलित थे। इस काल के सम्राटों की धार्मिक विषयों में सहिष्णुता की नीति से विभिन्न मतों एवं संप्रदायों के विकास का सुअवसर प्राप्त हुआ। इस समय के मुख्य धर्म एवं संप्रदाय वैदिक, बौद्ध, जैन, आजीवक आदि थे।

वैदिक अथवा ब्राह्मण धर्म

समाज के उच्च वर्गों में ब्राह्मण धर्म का बोलबाला था। अनेक वैदिक देवताओं की पूजा होती थी तथा विविध प्रकार के यज्ञ किए जाते थे। चंद्रगुप्त मौर्य प्रारंभ में ब्राह्मण धर्म का ही अनुयायी था। महावंश के अनुसार बिंदुसार ने साठ हजार ब्राह्मणों के प्रति उदारता दिखाई थी। अर्थशास्त्र में अपराजित, अप्रतिहित, जयंत, वैजयंत, शिव, अश्विन्, श्रीमादिरा (दुर्गा), अदिति, सरस्वती, सविता, अग्नि, सोम, कृष्ण आदि देवी-देवताओं का उल्लेख मिलता है। पुरोहित यज्ञ कराते थे। यज्ञों के अवसर पर पशुओं की बलि भी दी जाती थी। अशोक के प्रथम शिलालेख से पता चलता है कि उसके राज्य में सर्वत्र पशु-बलि होती थी जिसे बंद कराने के लिए उसने आदेश जारी किए थे। अर्थशास्त्र में राजप्रासाद के समीप बनी हुई 'यज्ञशाला' (इज्या-स्थानम्) का उल्लेख मिलता है।

टिप्पणी

ब्राह्मणों का एक वर्ग संन्यासियों का था। वे जंगलों में रहकर कठोर साधना एवं तपश्चर्या का जीवन व्यतीत करते थे।

आर्थिक व्यवस्था

मौर्य-युग में कृषि अधिकांश जनता के जीवन का आधार थी। भूमि राजा तथा कृषक दोनों के अधिकार में होती थी। कृषक युद्ध तथा अन्य राजकीय कर्तव्यों से मुक्त रहने के कारण अपना सारा समय खेतों में ही लगाते थे। लोहे के उपकरणों के भारी मात्रा में प्रयोग के कारण उत्पादन बहुत अधिक बढ़ गया। इस काल में ही मूंठदार कुल्हाड़ियों, फाल, हंसिए आदि का कृषि कार्यों के लिए बड़े पैमाने पर प्रयोग प्रारंभ हुआ। राज्य की ओर से कृषि को प्रोत्साहन मिलता था। युद्ध के समय में भी सैनिकों को खेतों पर हानि न पहुंचाने का आदेश रहता था। कृषि को क्षति पहुंचाने वाले कीड़े-मकोड़े तथा पशु-पक्षियों को नष्ट करने के लिए राज्य की ओर से गोपालक और शिकारी नियुक्त किए गए थे। अधिकाधिक बंजर भूमि को कृषि योग्य बनाया गया। भूमि बड़ी उर्वरा थी तथा प्रतिवर्ष दो फसलें आसानी से उगाई जा सकती थीं। देश अकाल एवं अभाव से मुक्त था। गेहूं, जौ, चना, चावल, ईख, तिल, सरसों, मसूर, शाक आदि प्रमुख फसलें थीं। सिंचाई की उत्तम व्यवस्था थी। मेगस्थनीज लिखता है कि भूमि का अधिकांश भाग सिंचित था। कुछ पदाधिकारी नदियों का प्रबंध रखते थे, ताकि उनसे पानी ठीक से नहरों द्वारा खेतों को पहुंचाया जा सके। अर्थशास्त्र से पता चलता है कि सिंचाई की चार विधियां थीं- हाथ द्वारा, कंधों पर पानी ले जाकर, मशीन द्वारा तथा नदियों, तालाबों आदि से पानी निकालकर। सिंचाई की सुविधा के लिए चंद्रगुप्त मौर्य ने सुराष्ट्र प्रांत में सुदर्शन झील का निर्माण करवाया था। रुद्रदामन् के जूनागढ़ लेख से पता चलता है कि इस झील के निर्माण का कार्य चंद्रगुप्त के राज्यपाल पुष्यगुप्त वैश्य ने प्रारंभ करवाया था तथा अशोक के राज्यपाल तुषास्प ने इसे पूरा करवाया था। पशुओं में गाय-बैल, भेड़-बकरी, भैंस, गधे, ऊंट, सुअर, कुत्ते आदि प्रमुख रूप से पाले जाते थे। राज्य की ओर से चारागाहों की भी व्यवस्था थी। अर्थशास्त्र से पता चलता है कि चंद्रगुप्त के समय में पशुधन विकास के लिए एक विशेष विभाग था जो पशुओं के भरण-पोषण एवं उनकी चिकित्सा आदि की उचित व्यवस्था रखता था।

मौर्य युग में व्यापार-व्यवस्था की उन्नति हुई। मौर्य सम्राटों ने सड़कों के निर्माण तथा एकात्मक शासन व्यवस्था की स्थापना करके भारतीय उपमहाद्वीप में व्यापार को प्रोत्साहन दिया। आंतरिक तथा बाह्य दोनों ही व्यापार प्रगति पर थे। इस समय भारत का बाह्य व्यापार सीरिया, मिस्र तथा अन्य पश्चिमी देशों के साथ होता था। यह व्यापार पश्चिमी भारत में भृगुकच्छ तथा पूर्वी भारत में ताम्रलिप्ति के बंदरगाहों द्वारा किया जाता था। 'बारबैरिकम' नामक बंदरगाह सिंधु के मुहाने पर स्थित था। यूनानी रोमन लेखक भारत के समुद्री व्यापार का वर्णन करते हैं। एरियन हमें बताता है कि भारतीय व्यापारी मुक्ता बेचने के लिए यूनान के बाजारों में जाते थे। व्यापारिक जहाजों का निर्माण इस काल तक एक प्रमुख उद्योग था। यह राज्य के नियंत्रण में होता था जो व्यापारियों को किराये पर जहाज देता था। नवाध्यक्ष नामक पदाधिकारी व्यापारिक जहाजों का नियंत्रण करता था। समुद्री मार्ग से आने वाली वस्तुएं यदि क्षतिग्रस्त हो जाती थीं तो राज्य उन पर शुल्क नहीं लेता था। या क्षति के अनुपात में उसे घटा देता था। अर्थशास्त्र में विदेशी 'सार्थवाहों' (व्यापारियों के काफिलों) का उल्लेख मिलता है। देश का आंतरिक व्यापार भी प्रगति पर था। इस समय देश के अंदर अनेक व्यापरिक मार्ग थे। एक मार्ग बंगाल के समुद्र-तट पर स्थित ताम्रलिप्ति नामक

बंदरगाह से पश्चिमोत्तर भारत में पुष्कलावती तक जाता था। इसे 'उत्तरापथ' कहा जाता था जिस पर चंपा, पाटलिपुत्र, वैशाली, राजगृह, गया, काशी, प्रयाग, कौशांबी, कान्यकुब्ज, हस्तिनापुर, साकल एवं तक्षशिला जैसे प्रमुख नगर स्थित थे। दूसरा मार्ग पश्चिम में पाटल से पूर्व में कौशांबी के समीप उत्तरापथ में मिलता था। तीसरा मार्ग दक्षिण में प्रतिष्ठान से उत्तर में श्रावस्ती तक जाता था। जिस पर माहिष्मती, उज्जैन, विदिशा आदि नगर स्थित थे। चौथा प्रसिद्ध व्यापारिक मार्ग भृगुकच्छ से मथुरा तक जाता था जिसके रास्ते में उज्जयिनी पड़ता था। इस प्रकार उत्तरापथ तथा दक्षिणापथ के भूभाग व्यापारिक मार्गों द्वारा परस्पर संयुक्त कर दिए गए। व्यापार के ऊपर राज्य का नियंत्रण होता था। पण्याध्यक्ष बिक्री की वस्तुओं का सूक्ष्मता से निरीक्षण करता था। वह वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करता था ताकि व्यापारी जनता से अनुचित लाभ न कमा सकें। व्यापारियों के लाभ की दरें भी निश्चित की गई थीं तथा इससे अधिक लाभ राजकोष में जमा हो जाता था।

देश के भीतर व्यवसाय एवं उद्योग-धंधे काफी विकसित अवस्था में थे। कपड़ा बुनना इस युग का एक प्रमुख उद्योग था। अर्थशास्त्र के अनुसार मदुरा, अपरांत, कलिंग, काशी, बंग, वत्स तथा महिष में सर्वोत्कृष्ट प्रकार के सूती वस्त्र तैयार होते थे। अन्य वस्त्रों में 'दुकूल' (श्वेत तथा चिकना वस्त्र) तथा 'क्षौम' (एक प्रकार का रेशमी वस्त्र) का भी उल्लेख मिलता है। चीन भूमि के कौशेय (रेशमी वस्त्र) तथा नेपाल के कंबल का भी उल्लेख मिलता है। चर्म-उद्योग भी उन्नति पर था। एरियन ने भारतीयों द्वारा श्वेत चमड़े के जूते पहने जाने का उल्लेख किया है जो काफी सुंदर होते थे। बढ़ईगिरी भी एक प्रमुख उद्योग था। बढ़ई लकड़ियों द्वारा विविध प्रकार के उपकरण बनाते थे। कुम्रहार की खुदाई में सात बड़े एवं आश्चर्यजनक ढंग से निर्मित लकड़ी के चबूतरे प्राप्त हुए हैं जिनसे काष्ठ-शिल्प के पर्याप्त विकसित होने का प्रमाण मिलता है। इसके अतिरिक्त धातुकारी का भी उद्योग उन्नति पर था। सोना, चांदी, लोहा, शीशा, टिन, पीतल, कांसा आदि धातुओं से विविध प्रकार के अस्त्र-शस्त्र, बर्तन, आभूषण तथा उपकरण बनाए जाते थे। तक्षशिला के भीर टीले तथा हस्तिनापुर की खुदाइयों से नाना प्रकार के बहुमूल्य आभूषणों के प्रमाण प्राप्त होते हैं। लोग धातुओं को गलाने तथा शुद्ध करने की कला से भी परिचत थे। पाषाण तराशने का उद्योग भी अच्छी अवस्था में था। इस समय के एकाश्मक स्तंभ पाषाण तराशने की कला की उत्कृष्टता के साक्षी हैं। साथ-ही-साथ 50 टन के वजन तथा लगभग 30 फीट से अधिक की ऊंचाई वाले स्तंभों को पांच-छह सौ मील की दूरी तक ले जाकर स्थापित करना मौर्यकालीन अभियांत्रिक कुशलता को सूचित करता है। आज के वैज्ञानिक युग में भी यह एक आश्चर्य की वस्तु प्रतीत होती है। हाथी दांत से भी सुंदर एवं आकर्षक उपकरण तैयार किए जाते थे। इस समय विभिन्न खनिज पदार्थ बहुतायत में उपलब्ध थे। अर्थशास्त्र में समुद्री तथा भूमिगत दोनों ही प्रकार की खानों का वर्णन मिलता है जिनके लिए अलग-अलग पदाधिकारी होते थे। समुद्री खानों के अधीक्षक का काम उनसे प्राप्त होने वाले हीरे, मोती, मूंगा, शंख, बहुमूल्य पत्थरों आदि के संग्रहण की देखभाल करना होता था। भूमिगत खानों के अधीक्षक नई खानों की खोज करते थे तथा पुरानी खानों के रख-रखाव की व्यवस्था करते थे। खानों में काम करने वाले श्रमिकों के पास वैज्ञानिक उपकरण होते थे। राज्य या तो सीधे खानों का प्रबंध करता था या उन्हें पट्टे पर देता था। अर्थशास्त्र से पता चलता है कि राजा की अनुमति के बिना खान से निकाली धातुओं तथा उनसे तैयार होने वाली वस्तुओं को खरीदने तथा बेचने वाले दोनों पर 600 पण अर्थदंड लगाया जाता था।

टिप्पणी

विभिन्न शिल्पों के अलग-अलग अध्यक्ष होते थे। उद्योग-धंधों की संस्थाओं को 'श्रेणी' कहा जाता था। जातक ग्रंथों में 18 प्रकार की श्रेणियों का उल्लेख हुआ है, जैसे काष्ठकारों की श्रेणी, लुहारों की श्रेणी, चर्मकारों की श्रेणी, चित्रकारों की श्रेणी आदि। श्रेणियों के अपने न्यायालय होते थे जो व्यापार-व्यवसाय संबंधी झगड़ों का निपटारा किया करते थे। श्रेणी-न्यायालय का प्रधान 'महाश्रेष्ठि' कहा जाता था। राज्य की ओर से विविध प्रकार की वस्तुओं को बनाने के लिए औद्योगिक केंद्र भी स्थापित किए गए थे। शिल्पकारों की सुरक्षा की समुचित व्यवस्था थी। शिल्पी के हाथ अथवा आंख को क्षति पहुंचाने वाले को मृत्यु-दंड दिया जाता था। जो उनका सामान चुराते थे उन्हें 100 पण का जुर्माना देना होता था। शिल्पियों तथा कारीगरों की मजदूरी कार्य के अनुसार तय की जाती थी। अवकाश के दिनों में कार्य करने के लिए अतिरिक्त मजदूरी दी जाती थी। उत्पादित वस्तु की कठोरता से जांच की जाती थी। घटिया उत्पादन अथवा धोखाधड़ी के कार्य के लिए कठोर दंड का विधान था। अर्थशास्त्र में कहा गया है कि 'कर्मकार को काम करने पर ही मजदूरी दी जानी चाहिए'। यदि कर्मकार आधा काम करता है तो उसे आधी मजदूरी ही देय होती थी।

मौर्य-युग तक आते-आते व्यापार-व्यवसाय में नियमित सिक्कों का प्रचलन हो चुका था। सिक्के सोने, चांदी तथा तांबे के बने होते थे। स्वर्ण सिक्कों को 'निष्क' और 'सुवर्ण' कहा जाता था। चांदी के सिक्कों को 'कार्षापण' या 'धरण' कहा जाता था। तांबे के सिक्के 'माषक' कहलाते थे। छोटे-छोटे तांबे के सिक्के 'काकणि' कहे जाते थे। ये सिक्के शासकों, सौदागरों एवं निगमों द्वारा प्रचलित किए जाते थे तथा इन पर स्वामित्व-सूचक चिह्न लगाये जाते थे। उल्लेखनीय है कि उत्तर प्रदेश तथा बिहार से बड़ी संख्या में प्राप्त चांदी के आहत-सिक्कों में से अधिकर मौर्यकाल के ही हैं। मौर्यकालीन सिक्के मुख्यत: चांदी और तांबे में ढाले गए हैं। प्रधान सिक्का 'पण' होता था। जिसे 'रुप्यरूप' भी कहा गया है। अर्थशास्त्र में राजकीय टकसाल का भी उल्लेख मिलता है जिसका अधीक्षक 'लक्षणाध्यक्ष' होता था। मुद्राओं का परीक्षण करने वाला अधिकारी 'रूपदर्शक' कहा जाता था। मौर्य शासन का वित्तीय वर्ष अषाढ़ (जुलाई) माह से प्रारंभ होता था।

मौर्य-काल में जनगणना के निमित एक स्थायी विभाग की स्थापना की गई थी। इसका उल्लेख मेगस्थनीज तथा कौटिल्य दोनों ने ही किया है। मेगस्थनीज के अनुसार तीसरी समिति नगर की जनगणना का कार्य करती थी। अर्थशास्त्र से पता चलता है कि प्रत्येक ग्राम तथा नगर में चारों वर्णों की जनगणना ग्रामीण अधिकारियों तथा जनगणना विभाग द्वारा की जाती थी। मनुष्यों के साथ-ही-साथ उनके व्यवसाय, चरित्र, आय, व्यय आदि का भी पूरा ब्योरा सुरक्षित रखा जाता था। इससे राज्य को विभिन्न वर्गों के ऊपर कर निर्धारित करने के काम में बड़ी सहायता मिलती थी।

मौर्य-शासन में निर्धन व्यक्तियों को धनी व्यक्तियों तथा साहूकारों के शोषण से बचाने के निमित्त उनके द्वारा उधार दिए जाने वाले धन पर ब्याज की दर सुनिश्चित कर दी गई थी। इन नियमों का पालन न करने वालों को कठोर दंड दिए जाते थे। अर्थशास्त्र के अनुसार ब्याज की यह दर 15 प्रतिशत वार्षिक होती थी। जनता को अकाल, बाढ़, अग्नि जैसी दैवी आपदाओं से बचाने के लिए भी राज्य की ओर से व्यापक प्रबंध किए गए थे। अकाल के समय राज्य की ओर से किसानों को बीज वितरित किए जाते थे तथा लोगों को अभावग्रस्त स्थानों से हटाकर संपन्न स्थानों में पहुंचाया जाता था। बाढ़ आने तथा

आग लगने पर भी राज्य की ओर से राहत कार्य किए जाते थे। नागरिकों के स्वास्थ्य की ओर भी सरकार विशेष ध्यान देती थी। पूरे राज्य में अनेक चिकित्सालयों की स्थापना करवाई गई थी। विदेशी नागरिकों की चिकित्सा के लिए अलग से प्रबंध किया गया था। जीवनोपयोगी औषधियां राज्य की ओर से उपलब्ध कराई जाती थीं। अशोक के लेखों से पता चलता है कि उसने मनुष्यों की चिकित्सा के साथ-ही-साथ पशुओं की चिकित्सा का भी समुचित प्रबंध करवाया था तथा अनेक औषधियों को बाहर से मंगवा कर आरोपित करवाया था। नगरों में सफाई की बहुत अच्छी व्यवस्था की गई थी। इन सबसे यह स्पष्ट हो जाता है कि मौर्य युग में कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को चरितार्थ किया गया था।

अपनी प्रगति जांचिए

5. किसका निश्चित मत है कि राजा को प्रजा की कठिनाइयों को सुनने तथा उन्हें दूर करने के लिए सदा सुलभ रहना चाहिए?

   (क) कौटिल्य का (ख) बुद्ध का

   (ग) राम का (घ) कृष्ण का

6. किसके समय में बौद्ध धर्म की लोकप्रियता के कारण जाति-प्रथा की कठोरता में पर्याप्त शिथिलता आ गई थी?

   (क) चंद्रगुप्त के (ख) अशोक के

   (ग) चाणक्य के (घ) समुद्रगुप्त के

1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (क)
3. (ग)
4. (घ)
5. (क)
6. (ख)

1.6 सारांश

भारत के सांस्कृतिक इतिहास का प्रारंभ अति प्राचीन काल में हुआ किंतु उसके राजनीतिक इतिहास का प्रारंभ अपेक्षाकृत बहुत बाद में हुआ। राजनीतिक इतिहास का मुख्य आधार सुनिश्चित तिथिक्रम (Chronology) होता है और इस दृष्टि से भारत के राजनीतिक इतिहास का प्रारंभ हम ईसा पूर्व सातवीं शती के मध्य (650 ई. पू.) के पहले नहीं मान सकते। उत्तर वैदिक काल में हमें विभिन्न जनपदों का अस्तित्व दिखाई देता है। इस काल तक पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा पश्चिमी बिहार में लोहे का व्यापक रूप से प्रयोग किया जाने

लगा था। लौह तकनीक ने लोगों के भौतिक जीवन में बड़ा परिवर्तन उत्पन्न कर दिया तथा इससे स्थायी जीवन-यापन की प्रवृत्ति सुदृढ़ हो गई। कृषि, उद्योग, व्यापार-वाणिज्य आदि के विकास ने प्राचीन जन जातीय व्यवस्था को जर्जर बना दिया तथा छोटे-छोटे जनों का स्थान जनपदों ने ग्रहण कर लिया। ईसा पूर्व छठी शताब्दी तक आते-आते जनपद, महाजनपदों के रूप में विकसित हो गए।

राज्यों का निर्माण एक दिन में हो पाना संभव नहीं इसका अर्थ यह है कि राज्यों का निर्माण एक सतत गतिमान प्रक्रिया का परिणाम है और राज्य सदैव से ही एक सामाजिक संस्था रहा है। पूर्ण विश्वास के साथ यह कह पाना संभव नहीं है कि समाज कब और कैसे 'राज्य' में परिवर्तित हुए तथापि प्राप्त प्रमाणों के आधार पर, सामान्यत: वैदिक राज्य को ही भारतीय राज्य संस्था का प्रारम्भ मानते हैं। ऋगवेद में प्राप्त होने वाले विचारों के अनुसार राज्य की सत्ता के सूचक तत्त्व जैसे निश्चित भूमि, सार्वजनिक सत्ता, कर तथा अधिकारी गण इत्यादि के संकेतक उपलब्ध नहीं हैं अपितु एक अर्ध घुमंतू जन समुदाय और पशुपालन पर आधारित अर्थव्यवस्था के संकेत मिलते हैं। अत: जिस प्रकार सत्ता संगठन के प्रमाण हमें ऋग्वेद से मिलते हैं उस आधार पर तो उसे जैसा कि रामशरण शर्मा ने कहा है 'जनजातीय सत्ता' अधिक से अधिक 'जनजातीय सरदारी' ही कही जा सकती है। दूसरे शब्दों में ऋग्वैदिक सत्ता को राज्य का दर्जा न देकर आद्य राज्य (Proto-State) का दर्जा ही दिया जा सकता है।

छठी शताब्दी ईसा पूर्व के प्रारंभ में उत्तर भारत में सार्वभौम सत्ता का पूर्णतया अभाव था। संपूर्ण प्रदेश अनेक स्वतंत्र राज्यों में विभक्त था। ये राज्य यद्यपि उत्तर-वैदिक कालीन राज्यों की अपेक्षा अधिक विस्तृत तथा शक्तिशाली थे तथापि इनमें से कोई भी देश को राजनीतिक एकता के सूत्र में संगठित करने में समर्थ नहीं था। इस काल की राजनीतिक स्थिति का प्रामाणिक विवरण यद्यपि हमें किसी भी साहित्यिक साक्ष्य से उपलब्ध नहीं होता, तथापि बौद्ध ग्रंथ अंगुत्तरनिकाय से ज्ञात होता है कि गौतम बुद्ध के उदय के कुछ पूर्व समस्त उत्तरी भारत 16 बड़े राज्यों में विभाजित था। इन्हें 'सोलह महाजनपद' (षोडश महाजनपद) कहा गया है।

मौर्य काल तक आते-आते वर्णाश्रम व्यवस्था को एक निश्चित आधार प्राप्त हो चुका था। वर्ण कठोर होकर जाति के रूप में बदल गए जिसका आधार जन्म था। यूनानी लेखकों के विवरण से जाति-व्यवस्था के अत्यंत जटिल होने की सूचना मिलती है। मेगस्थनीज ने भारतीय समाज में सात वर्गों का उल्लेख किया है- (1) दार्शनिक (2) कृषक (3) योद्धा (4) पशुपालक (5) कारीगर (6) निरीक्षक और (7) मंत्री।

कोई भी व्यक्ति न तो अपनी जाति के बाहर विवाह कर सकता था और न उससे भिन्न पेशा ही अपना सकता था। परंतु दार्शनिक इसके अपवाद थे और वे किसी भी वर्ग के हो सकते थे। मेगस्थनीज का यह वर्गीकरण व्यवसाय के आधार पर किया गया जान पड़ता है। इससे न तो ब्राह्मण ग्रंथों में वर्णित चारों वर्णों का बोध होता है और न तत्कालीन समाज की बहुसंख्यक जातियों की ही सूचना मिलती है।

दार्शनिक समाज के बुद्धिजीवी वर्ग थे। उनका राजदरबार एवं समाज में बड़ा सम्मान था। राज्य अपने राजस्व का एक भाग दार्शनिकों के भरण-पोषण पर व्यय करता था। वे समाज की शिक्षा एवं संस्कृति के रक्षक थे। इस वर्ग में ब्राह्मण तथा श्रमण दोनों ही आते

थे। वे सादा जीवन व्यतीत करते थे तथा अपना समय अध्ययन और शास्त्रार्थ में व्यतीत करते थे। इनमें से कुछ जंगलों में निवास करते थे, कंदमूल फल खाते थे तथा वृक्षों की छाल पहनते थे। यूनानी लेखकों ने भी वनों में रहने वाले संन्यासियों का उल्लेख किया। अशोक के अभिलेखों में गृहस्थ संन्यासियों तथा वनों में विचरण करने वाले श्रमणों का उल्लेख मिलता है। चारों आश्रमों की व्यवस्था भी समाज में प्रचलित थी।

मौर्य-शासन में निर्धन व्यक्तियों को धनी व्यक्तियों तथा साहूकारों के शोषण से बचाने के निमित्त उनके द्वारा उधार दिए जाने वाले धन पर ब्याज की दर सुनिश्चित कर दी गई थी। इन नियमों का पालन न करने वालों को कठोर दंड दिए जाते थे। अर्थशास्त्र के अनुसार ब्याज की यह दर 15 प्रतिशत वार्षिक होती थी। जनता को अकाल, बाढ़, अग्नि जैसी दैवी आपदाओं से बचाने के लिए भी राज्य की ओर से व्यापक प्रबंध किए गए थे। अकाल के समय राज्य की ओर से किसानों को बीज वितरित किए जाते थे तथा लोगों को अभावग्रस्त स्थानों से हटाकर संपन्न स्थानों में पहुंचाया जाता था। बाढ़ आने तथा आग लगने पर भी राज्य की ओर से राहत कार्य किए जाते थे। नागरिकों के स्वास्थ्य की ओर भी सरकार विशेष ध्यान देती थी। पूरे राज्य में अनेक चिकित्सालयों की स्थापना करवाई गई थी। विदेशी नागरिकों की चिकित्सा के लिए अलग से प्रबंध किया गया था। जीवनोपयोगी औषधियां राज्य की ओर से आरोपित करवाई जाती थीं। अशोक के लेखों से पता चलता है कि उसने मनुष्यों की चिकित्सा के साथ-ही-साथ पशुओं की चिकित्सा का भी समुचित प्रबंध करवाया था तथा अनेक औषधियों को बाहर से मंगवा कर आरोपित करवाया था। नगरों में सफाई की बहुत अच्छी व्यवस्था की गई थी। इन सबसे यह स्पष्ट हो जाता है कि मौर्य युग में कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को चरितार्थ किया गया था।

1.7 मुख्य शब्दावली

- **दायाद** : दाय का अधिकारी, सपिंड संबंधी, पुत्र।
- **चैत्य** : चिंता संबंधी, देवालय, बुद्धमूर्ति।
- **सदाशय** : उदाराशय, ऊंचे विचार का।
- **द्यूत** : जुआ।
- **कार्षापण** : भारत में पुराने समय में प्रचलित एक सिक्का।

1.8 स्व-मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु-उत्तरीय प्रश्न

1. भारत के सांस्कृतिक इतिहास का प्रारंभ कब हुआ?
2. उत्तर वैदिक काल के समाज का भौतिक आधार कैसा था?
3. वर्तमान वाराणसी तथा उसका सीमावर्ती क्षेत्र प्राचीन काल में क्या था?
4. मौर्य प्रशासन में सम्राट की स्थिति कैसी थी?

टिप्पणी

दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न

1. आद्य राज्य की विवेचना कीजिए।
2. उत्तर वैदिक काल के सरदारी राज्य और उनके स्वरूप की समीक्षा कीजिए।
3. बुद्ध काल के राज्यों की व्याख्या कीजिए।
4. मौर्य साम्राज्य की सामाजिक व्यवस्था तथा अर्थव्यवस्था पर प्रकाश डालिए।

1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1. श्रेण्य युग (आर. सी. मजूमदार)- मोतीलाल बनारसीदास।
2. प्राचीन भारत का इतिहास (शैलेंद्र सेंगर)- अटलांटिक पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स।
3. प्राचीन भारत का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास (धनपति पांडेय, अशोक अनंत)- मोतीलाल बनारसीदास।
4. पूर्वमध्यकालीन भारत (प्रशांत गौरव)- राजकमल प्रकाशन।
5. अशोक (राधा कुमुद मुखर्जी)- मोतीलाल बनारसीदास।
6. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतहास (ओमप्रकाश प्रसाद, प्रशांत गौरव)- राजकमल प्रकाशन।
7. नंद मौर्य युगीन भारत (के ए नीलकंठ शास्त्री)- मोतीलाल बनारसीदास।

इकाई 2 गुप्तकालीन साम्राज्य

टिप्पणी

संरचना

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 गुप्त साम्राज्य का उत्थान
  2.2.1 गुप्त साम्राज्य का प्रशासनिक संगठन
  2.2.2 गुप्त साम्राज्य की सहायक प्रणाली
  2.2.3 गुप्त साम्राज्य के सामाजिक-आर्थिक सुधार
2.3 दक्षिण भारत में राज्य गठन : प्रमुख क्षेत्र एवं चोल राज्य
  2.3.1 प्रमुख क्षेत्र
  2.3.2 दक्षिण का चोल राज्य
2.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.5 सारांश
2.6 मुख्य शब्दावली
2.7 स्व-मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.8 सहायक पाठ्य सामग्री

2.0 परिचय

गुप्तकालीन साम्राज्य में कई प्रकार के प्रदेश थे। एक तो उसका हृदय भाग था, जिस पर सम्राट अपने अधिकारियों की सहायता से स्वयं शासन करता था। इसकी सीमा लगभग इस प्रकार थी- उत्तर में हिमालय, पश्चिम में यमुना और चंबल, पूरब में ब्रह्मपुत्र और दक्षिण में जबलपुर और भिलसा को छूती हुई एक टेढ़ी-मेढ़ी रेखा। उसके पूरब और पश्चिम में गणतंत्री एवं एकतंत्री करद राज्य थे। उनके भी आगे शक और कुषाणों के राज्य थे, जो नाम के लिए तो स्वतंत्र थे, किंतु उन्होंने महान गुप्त सम्राट की अधीनता स्वीकार करना ही राजनीति की दृष्टि से अपने लिए श्रेयस्कर माना था। ये राज्य हीन-संधि के उदारहण माने जा सकते हैं, जिसमें कमजोर राष्ट्र किसी शक्तिशाली राज्य से अधीनता की संधि करते हैं। एक अन्य वर्ग दक्षिण के उन बारह राज्यों का था, जिनके शासक पराजित और पुन:प्रतिष्ठित किए गए। वे यदि कर नहीं तो जुहार अवश्य देते थे। परवर्ती गुप्त सम्राटों की यह नीति रही कि पहले वर्ग के प्रदेश की सीमा धीरे-धीरे दूसरे वर्ग के राज्यों को मिटा कर बढ़ाएं और तीसरे वर्ग को दूसरे अथवा पहले वर्ग का रूप दें।

प्रस्तुत इकाई में गुप्त साम्राज्य के प्रशासनिक संगठन, उसकी प्रणालियों तथा सामाजिक व आर्थिक सुधारों एवं चंद्रगुप्त और समुद्रगुप्त आदि का विस्तृत अध्ययन किया गया है।

2.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप-

- गुप्तकालीन साम्राज्य की प्रगति से परिचित हो पाएंगे;
- गुप्त साम्राज्य के प्रशासनिक संगठन और उसकी प्रणालियों को जान पाएंगे;

- इस साम्राज्य के सामाजिक व आर्थिक सुधारों को समझ पाएंगे;
- चोल राज्य के बारे में जानकारी ग्रहण कर पाएंगे।

टिप्पणी

2.2 गुप्त साम्राज्य का उत्थान

कुषाणों और आंध्रों के ह्रास के पश्चात कुछ काल तक भारत में कोई बड़ी राजनीतिक शक्ति नहीं थी। हम पीछे देख चुके हैं कि लगभग एक शताब्दी की मुख्य विशेषताएं उनके पारस्परिक संघर्ष एवं उत्थान और पतन हैं। वे एकतंत्र और गणतंत्र दोनों ही प्रकार के राज्य थे और स्थिति बहुत कुछ वैसी ही थी जैसी ई. पू. छठी शती के प्रारंभ में थी।

चौथी शताब्दी ई. के आरंभ के आस-पास श्रीगुप्त अथवा गुप्त नामक एक राजा मगध के एक छोटे से राज्य में राज्य करता था, जिसके अधीन संभवत: बंगाल का कुछ अंश था। उसके बाद उसका बेटा घटोत्कच शासक हुआ। बाप और बेटे चंद्रगुप्त के समय से इस वंश के इतिहास में एक नये अध्याय का आरंभ हुआ।

चंद्रगुप्त

गुप्त संवत के नाम से 320 ई. से एक नया संवत् प्रचलित हुआ था, जिसके संबंध में साधारणतया समझा जाता है कि वह चंद्रगुप्त के राज्यारोहण से आरंभ हुआ। चंद्रगुप्त के दोनों पूर्वजों को केवल महाराज कहा गया है, किंतु उसका उल्लेख महाराजाधिराज के रूप में हुआ है। यह बात इस ओर संकेत करती जान पड़ती है कि उसने अपने छोटे से क्षेत्र को चारों ओर बढ़ाकर एक महत्वपूर्ण राज्य का रूप दिया। उसका ऐसा करना किस प्रकार संभव हो सका, ज्ञात नहीं है। उसने लिच्छवी वंश की राजकुमारी कुमारदेवी के साथ विवाह किया और उसकी शबीह को अपनी शबीह के साथ सिक्कों पर अंकित कराया। उसके बेटे एवं उत्तराधिकारी महान सम्राट समुद्रगुप्त ने लिच्छवियों में अपना मातृकुल होने में गौरव का अनुभव किया। इन बातों से स्वाभाविक अनुमान होता है कि लिच्छवियों के साथ हुए वैवाहिक संबंध ने गुप्तों को राजनीतिक महत्ता प्राप्त करने में काफी सहायता की होगी। परंतु यह अनुमान मात्र है और उसके लिए निश्चित प्रमाण का अभी तक अभाव है। यह संभव है कि गुप्तों ने लिच्छवियों के सदृश प्राचीन क्षत्रिय जाति में विवाह कर समाज में उच्च स्थान प्राप्त किया हो और इस बात को उन्होंने समस्त संभव उपायों से घोषित किया हो।

चंद्रगुप्त के राज्य की निश्चित सीमा ज्ञात नहीं है; किंतु संभवत: वह पश्चिम में इलाहाबाद तक विस्तृत था। उसकी मृत्यु लगभग 340 ई. में हुई और उसका उत्तराधिकारी उसका बेटा समुद्रगुप्त हुआ।

समुद्रगुप्त

समुद्रगुप्त की गणना देश के महान और बहुमुखी प्रतिभा से युक्त सैनिकों में की जाती है। उसका शासनकाल विस्तृत सैनिक अभियानों से भरा हुआ है। वह कौटिल्य के इस सिद्धांत का मूर्तरूप था कि "जो भी शक्ति में बड़ा होगा, वह अवश्य ही युद्ध छेड़ेगा। जिसके पास आवश्यक साधन भरे होंगे, वह अपने शत्रु पर अवश्य ही धावा करेगा।" सबसे पहले उसने उत्तर भारत के पड़ोसी राज्यों के विरुद्ध उनके समूलोच्छेद के लिए युद्ध छेड़ा। संभवत: उत्तर में वह चंबल तक पहुंच गया था। इस क्षेत्र के समस्त राजा मार डाले

टिप्पणी

गए और उनके प्रदेश वर्तमान गुप्त साम्राज्य में सम्मिलित कर लिए गए। इस वीर सम्राट के लिए पूर्व अथवा पश्चिम की ओर बढ़ना अनावश्यक था। बंगाल, असम और नेपाल आदि पूर्व के राज्य तथा मालव, यौधेय, आर्जुनायन, मद्र और आभीर आदि पंजाब और राजस्थान के पश्चिमी गणराज्य एवं मालवा और मध्य प्रदेश के अनेक छोटे-छोटे राज्यों ने स्वयं उसकी अधीनता मानकर उस गुप्त सम्राट को कर देना स्वीकार कर लिया। सचमुच गुप्तों की सेना का आंतक इतना बड़ा था कि सुदूर अफगानिस्तान के कुषाण राजा और गुजरात के शकक्षत्रप भी समुद्रगुप्त की अनुकंपा के उत्सुक थे।

समुद्रगुप्त का दक्षिणी अभियान

गुप्त सम्राट का सबसे कठिन कार्य बंगाल की खाड़ी के तटवर्ती प्रदेशों के मार्ग में होता हुआ दक्षिण का सैनिक अभियान था। मध्य प्रदेश के अटर्व प्रदेशों से होते हुए वह उड़ीसा तट की ओर बढ़ा। वहां से गंजाम, विशाखापट्टनम, गोदावरी, कृष्णा और नेल्लोर के जिलों से होती हुई उसकी वियजवाहिनी कांची (मद्रास के दक्षिण-पश्चिम स्थित प्रसिद्ध कांजीवरम) के सुप्रसिद्ध पल्लव राज्य तक पहुंच गई। तटवर्ती अभियान होने के कारण ऐसा जान पड़ता है कि इस अभियान में जलसेना भी सम्मिलित थी। यद्यपि इस बात के निश्चित प्रमाण नहीं है, किंतु यह तो ज्ञात ही है कि इस महान गुप्त सम्राट ने भारतीय महासागर के अनेक द्वीपों को या तो जीत लिया था या वे आतंकवश उसके सम्मुख समर्पण कर चुके थे। इस प्रकार स्पष्ट है कि उसके पास अवश्य ही एक शक्तिशाली नौसेना थी।

समुद्रगुप्त का दक्षिणी अभियान सैनिक दृष्टि से अत्यंत सफल कहा जा सकता है, किंतु उससे उसे कोई स्थायी विजय प्राप्त नहीं हुई। एक दर्जन से अधिक राजा युद्ध में पराजित और बंदी हुए; किंतु समुद्रगुप्त को उनके प्रदेशों पर स्थायी शासन कर सकने की आशा न थी, इसलिए उसने उन्हें पुनः प्रतिष्ठित करने की बुद्धिमत्तापूर्ण नीति बरती और उन्हें संभवतः करद राज्यों के रूप में बने रहने दिया। इससे समुद्रगुप्त की राजनीतिक दूरदर्शिता ही प्रकट होती है। वह अपनी शक्ति और साधन की सीमाओं से पूर्णतया परिचित था। वह उत्तरी भारत के सुगठित प्रदेश पर प्रत्यक्ष शासन और शेष राज्यों द्वारा प्रभुता स्वीकार कर लेने मात्र में संतुष्ट था। यदि उसने अशोक की भांति समस्त भारत पर शासन करने का प्रयत्न किया होता तो संभवतः उसके उस साम्राज्य की भांति ही गुप्त साम्राज्य भी जल्द ही समाप्त हो जाता। किंतु अपनी राजनीतिक दूरदर्शिता के कारण ही जितना विस्तृत साम्राज्य वह छोड़ गया, वह धीरे-धीरे बढ़ा और उसके उत्तराधिकारियों ने 100 वर्षों से अधिक काल तक शान के साथ उसको बनाए रखा।

समुद्रगुप्त का व्यक्तित्व

समुद्रगुप्त निस्संदेह शत समरों का योद्धा था, जैसा उसके राजकवि ने प्रयाग-स्थित अशोक स्तंभ पर अंकित लंबी प्रशस्ति में लिखा है। उसके बारे में अन्य बातें भी, जिनकी चर्चा ऊपर हुई है, हमें इसी प्रशस्ति से ज्ञात हो सकी हैं। वह ने केवल अपने युग का प्रथम सैनिक था वरन उच्च कोटि का राजनीतिज्ञ भी था। यही नहीं, वह सुसंस्कृत भी था। राजकवि ने उसे न केवल वीर और युद्धकुशल ही बताया है, वरन कहा है कि वह विद्याव्यसनी एवं उच्च कोटि का कवि और संगीतज्ञ भी था। यह प्रशंसा कवि की कोरी कल्पनामात्र नहीं है, क्योंकि वह अपने कुछ सिक्कों पर वीणा बजाते अंकित किया गया है। यह भी कहा गया है कि वह स्वभाव का मृदु था। वह अपने पिता का ही लाड़ला

टिप्पणी

न था, वरन सारी जनता उसे चाहती थी। समुद्रगुप्त संभवतः चंद्रगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र नहीं था तथापि चंद्रगुप्त ने उसे ही अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया था। सभी गुप्त राजा ब्राह्मण-धर्मावलंबी थे। समुद्रगुप्त ने चिरोत्सन्न अश्वमेध यज्ञ को पुनः प्रतिष्ठित किया। किंतु वह धर्मसहिष्णु था और अपने अन्य धर्मों को भी प्रश्रय दिया। यह इस बात से भलीभांति प्रकट है कि उसने सिंहल के अपने मित्र और बौद्ध राजा को बोधगया में अपनी प्रजा के लिए एक विहार बनवाने की उदारतापूर्ण आज्ञा दी थी। जान पड़ता है कि बोधगया आने वाले सिंहली यात्रियों को निवास के अभाव के कारण काफी कठिनाई होती थी, अतः उन्होंने यह बात अपने देश के राजा मेधवर्ण से कही। मेधवर्ण ने अमूल्य उपहारों के साथ एक दूत समुद्रगुप्त के पास भेजा और अपनी प्रजा के लिए विहार बनवाने की आज्ञा मांगी। गुप्त सम्राट ने इस प्रशंसनीय कार्य के लिए सहर्ष अनुमति प्रदान की और वह यथाविधि कार्यान्वित भी हुई।

चंद्रगुप्त द्वितीय

समुद्रगुप्त का निधन 380 ई. या उससे कुछ पहले ही हुआ होगा। उसके दो बेटे थे रामगुप्त और चंद्रगुप्त। दोनों ने महाराजाधिराज की उपाधि धारण की थी। किंतु रामगुप्त के बारे में प्रामाणिक रूप से बहुत कम तथ्य ज्ञात हैं। दोनों भाइयों में जो एक ही गद्दी के दावेदार थे परस्पर संबंध कैसे थे इसके बारे में भी जानकारी नगण्य ही है। चाहे जो भी हो हमें चंद्रगुप्त द्वितीय का चरित ही ज्ञात है। इस सारे प्रश्न पर इस अध्याय के एक परिशिष्ट में विचार किया गया है। वह अपने योग्य पिता का योग्य पुत्र था। उसने न केवल पिता द्वारा छोड़े हुए विस्तृत साम्राज्य को कायम रखा, वरन अपनी विजयों से उसे बढ़ाया भी। पिता के अनुकरण पर वह दिग्विजय के लिए निकला। गुजरात और काठियावाड़ प्रायद्वीप के पश्चिमी क्षत्रपों के नाम से पुकारे जाने वाले शक शासकों की ओर सबसे पहले उसकी सेना उन्मुख हुई। ऊपर कहा जा चुका है कि रुद्रसिंह द्वितीय के सिंहासन-अपहरण के बाद से शक राज्य की स्थिति विषम हो गई थी। न तो उसने स्वयं और न उसके बेटे ने महाक्षत्रप की उच्च उपाधि धारण की। उनके पश्चात 16 वर्षों तक (332 से 348 ई. तक) इस वंश के सिक्के नहीं मिलते। उस समय श्रीधरवर्मन नामक एक शक अधिकारी ने मालवा में अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया था और संभवतः राज्य के अन्य भागों में भी इसी प्रकार के विद्रोह हुए होंगे। अंततोगत्वा रुद्रसिंह द्वितीय के वंश को रुद्रसेन तृतीय ने अपदस्थ कर दिया और कुछ अंशों तक राज्य की प्रतिष्ठा और अधिकार को पुनः स्थापित किया। 360 ई. से 380 ई. तक वह शांति से राज्य करता रहा। उसके बाद पुनः उपद्रव उठ खड़े हुए। 380 ई. के पश्चात कई प्रतिस्पर्धी राजा उठ खड़े हुए और आंतरिक अशांति के कारण शक राज्य तहस-नहस होने लगा। 380 और 378 ई. के बीच किसी समय रुद्रसिंह तृतीय गद्दी पर बैठा और तब कहीं अशांति दूर हुई। चंद्रगुप्त ने ऐसे साम्राज्य का उत्तराधिकार प्राप्त किया था, जिसकी सीमा शक राज्य से लगी हुई थी। अतः इस आंतरिक अशांति का लाभ उठाकर इन विदेशी राज्यों के विनाश के लिए वह अग्रसर हुआ। एक शक्तिशाली सेना लेकर उनके प्रदेश पर धावा बोल दिया। युद्ध का विवरण अज्ञात है, किंतु 78 ई. से चली आती शक क्षत्रपों की लंबी शृंखला का अंतिम राजा रुद्रसिंह मारा गया और उसका प्रदेश चंद्रगुप्त के साम्राज्य में विलीन हो गया। इस विजय ने विदेशी शासन के रहे-सहे चिह्न मिटा दिए और गुप्त साम्राज्य का विस्तार देश की पश्चिमी प्राकृतिक सीमा अरब सागर तक हो गया। इस नये प्रदेश की

टिप्पणी

प्राप्ति का महत्त्व एक अन्य दृष्टि से भी है। गुजरात के तट पर अनेक महत्वपूर्ण बंदरगाह थे, जहां से भारत और पश्चिमी देशों के बीच पोत आते-जाते रहते थे। अब इन पोतस्थलों के स्वामी गुप्त राजा हो गए और उन्हें धनराशि का एक अपार स्रोत प्राप्त हुआ। यही नहीं, साम्राज्य का द्वार पश्चिमी देशों के लिए खुल गया और दोनों के बीच मुक्त व्यापार होने लगा, जिसके परिणाम महत्वपूर्ण और दूरगामी हुए।

अन्य युद्ध : चंद्रगुप्त द्वितीय ने संभवतः कुछ अन्य युद्ध भी किए थे और उनमें विजयी भी हुआ था। दिल्ली में कुतुबमीनार के पास खड़े एक लौह-स्तंभ पर एक अभिलेख अंकित है, जिसमें कहा गया है कि 'चंद्र नामक राजा ने वंग के विद्रोही राजाओं के संघ को पराजित किया और सिंधु नदी के सप्तमुखों को पार कर युद्ध में वाह्लीकों को जीता। यह राजा चंद्र संभवतः चंद्रगुप्त द्वितीय ही है, क्योंकि कोई दूसरा ऐसा राजा नहीं जान पड़ता जो पूर्व में बंगाल तक और पश्चिम में सिंधु के पार तक सफलतापूर्वक सैनिक अभियान कर सका हो।'

यदि यह पहचान ठीक मान ली जाए, तो कहना होगा कि चंद्रगुप्त द्वितीय ने गुप्त साम्राज्य को पूर्ण किया। उसने उसका विस्तार पश्चिम, उत्तर-पश्चिम और पूरब में देश की प्राकृतिक सीमा तक किया था। बंगाल के छोटे-मोटे राजाओं ने संभवतः गुप्त साम्राज्य की अधीनता से मुक्त होने का प्रयत्न किया था, जिसके कारण पूर्वी अभियान की आवश्यकता पड़ी। समुद्रगुप्त ने ही उन्हें पराजित कर अपनी अधीनता का जुआ उन पर लाद दिया था। चंद्रगुप्त के हाथों वे पुनः पराजित हुए और सारा बंगाल सम्राट के प्रत्यक्ष शासन के अंतर्गत हो गया। उत्तर-पश्चिमी अभियान निस्संदेह अफगानिस्तान के कुषाण राजाओं के विरुद्ध रहा होगा। यदि चंद्रगुप्त द्वारा विजित वाह्लीक प्रदेश वस्तुतः बल्ख (बाख्त्री) हो, जैसा कि सामान्यतः इस नाम से प्रकट होता है, तो कहना होगा कि उसने ऐसी सफलता प्राप्त की थी जो कोई अन्य हिंदू राजा न कर सका था। यहां तक कि उसका स्वनाम चंद्रगुप्त मौर्य भी न कर सका था। तथापि, चाहे सैनिक दृष्टि से वह सफलता भले ही महान रही हो, उसका स्थायी परिणाम अनिश्चित है। पता नहीं कि पंजाब के करद गण राज्य, जिनसे होकर निश्चय ही वह गया होगा, बंगाल की भांति साम्राज्य में मिलाए गए या नहीं। यह भी ज्ञात नहीं कि उनके बाद के कुषाण राज्य निश्चितरूपेण साम्राज्य में सम्मिलित किए गए या नहीं। सच बात तो यह है कि इस बात का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं कि ये प्रदेश चंद्रगुप्त द्वितीय के पश्चात गुप्त साम्राज्य से किसी प्रकार भी अनुबद्ध थे। चंद्रगुप्त की राजमहिषी ध्रुवदेवी अथवा ध्रुवस्वामिनी थी। उसका नाम रामगुप्त से संबद्ध एक विचित्र अनुश्रुति में आया है, जिससे ऐसा लगता है कि वह सत्य है। उसने नागवंश की कुमारी कुबेरनागा से भी विवाह किया था। इस विवाह से प्रभावतीगुप्ता नामक पुत्री हुई थी, जिसका विवाह वाकाटक राजा रुद्रसेन द्वितीय से हुआ था। ये दोनों विवाह संभवतः राजनीतिक दृष्टि से किए गए थे। नाग और वाकाटक दोनों ही गुप्त साम्राज्य की सीमाओं पर महत्वपूर्ण सामरिक स्थिति में होने के कारण गुप्त साम्राज्य के पश्चिम और उत्तर-पश्चिम के विस्तार में या तो पूरे सहायक हो सकते थे अथवा अत्यंत खतरनाक भी। कुंतल (उत्तरी कन्नड़) के कदंब शासक ककुत्स्थवर्मन की लड़कियां गुप्तवंश में ब्याही गई थीं। हम यह भी देख चुके हैं कि चंद्रगुप्त प्रथम ने लिच्छवि कुमारी कुमारदेवी से विवाह किया था। इन सब बातों से यह जान पड़ता है कि शक्तिशाली राजपरिवारों से वैवाहिक संबंध गुप्तों की साम्राज्यवादी नीति का एक अंग था।

टिप्पणी

समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त के राज्यकाल में अर्थात लगभग तीन चौथाई शताब्दी तक उत्तरी भारत एक बार पुनः राजनीतिक एकता में आबद्ध रहा। अनेक युद्धों के बावजूद लोगों में समृद्धि थी और धन-जन पूर्णतया सुरक्षित था। शासन-व्यवस्था अधिक सुव्यवस्थित और मौर्यकाल की अपेक्षा अधिक उदार थी। चीनी यात्री फाहियान चंद्रगुप्त द्वितीय के समय में आया था और गुप्त साम्राज्य में घूमा था। उसने देश का बहुत ही सुंदर चित्रण किया है। उसने लिखा है कि कर बहुत हल्का था और शासन बहुत ही उदार था। मौर्यकाल के क्रूर दंड मिटा दिए गए थे। रजिस्ट्री और पासपोर्ट जैसे परेशान करने वाले नियम और कायदे अज्ञात थे। उसे सर्वत्र जनता धनी और सुखी तथा आर्थिक स्थिति अत्यंत संतोषजनक मिली। वाणिज्य और व्यवसाय उन्नति पर थे। लोग अनेक कला-कौशलों में रत थे। इस काल में एक महान बौद्धिक और धार्मिक नवजागरण हुआ और कला तथा स्थापत्य में अद्‌भुत उन्नति हुई।

विक्रमादित्य : इन सबका मुख्य श्रेय निस्संदेह समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त द्वितीय को है। दोनों ने ही विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी और उस नाम से प्रसिद्ध वीर के संबंध में जनता की जो धारणाएं हैं, उनके उपयुक्त इन दोनों से बढ़कर अन्य व्यक्ति नहीं मिल सकते। बहुत संभव है, उस वीर के कार्यों के अनुरूप ही जनता के सम्मुख इन दोनों गुप्त सम्राटों तथा उनके उत्तराधिकारियों के (उन्होंने भी यह उपाधि धारण की थी) सुकृत रहे हों और वे सभी विक्रमादित्य की परवर्ती कहानियों के रूप में घुल गए हों। अधिकांश विद्वान चंद्रगुप्त द्वितीय से पूर्व किसी वास्तविक अथवा काल्पनिक विक्रमादित्य के अस्तित्व को नहीं मानते। वे लोग इसे ही राजा विक्रमादित्य समझते है, जिसे भारतीय अनुश्रुतियों में शक विजेता और 58 ई. पू. में प्रचलित हुए विक्रम संवत् का संस्थापक कहा गया है और जिसके दरबार में उन नवरत्नों के होने की बात कही जाती है, जिसमें सुप्रसिद्ध कालिदास भी थे। निस्संदेह चंद्रगुप्त ने शकों को पराजित किया था और यह भी संभव है कि कालिदास उसके दरबार में रहे हों किंतु उसका संबंध पांच शताब्दी पूर्व से प्रचलित विक्रम संवत् से किस प्रकार था- इसकी व्याख्या कर सकना कठिन है। यह भी कहा जाता है कि इस संवत् को आरंभ में किसी विक्रमादित्य नामक राजा ने प्रचलित नहीं किया, वरन पीछे से उस नाम के राजा के साथ उसका संबंध जोड़ दिया गया। इस संबंध में संतोषजनक प्रमाणों का अभाव है। विक्रम संवत् और विक्रमादित्य की पहचान अभी तक भारतीय इतिहास के उलझे हुए प्रश्नों में है।

कुमारगुप्त

चंद्रगुप्त की मृत्यु 413 ई. के आसपास हुई और उसका बेटा कुमारगुप्त गद्दी पर बैठा जिसने 40 वर्षों से अधिक राज्य किया। उसने एक अश्वमेध यज्ञ किया, जिसका अर्थ यह होता है कि उसने कोई सैनिक सफलता अवश्य प्राप्त की थी किंतु उसकी किसी सफलता का न कोई उल्लेख प्राप्त है और न हमें उसकी अन्य प्राप्तियों का ही कुछ पता है। अभिलेखों से यह अवश्य जान पड़ता है कि उसने अपने विस्तृत साम्राज्य की शासन-व्यवस्था को संघटित रखा था। यही बात क्या कम है कि वह अपने साम्राज्य को सुसंघटित रख सका और 40 वर्षों के दीर्घ काल तक उसकी शांति, समृद्धि और सुरक्षा बनाए रहा, इससे उसकी योग्यता और चतुरता प्रकट होती है। किंतु उसके शासन के अंतिम चरणों में पुष्यमित्रों के जत्थों ने, जो संभवतः हूणों से संबंधित किसी जाति के थे, भारत पर आक्रमण किया और गुप्त साम्राज्य की विस्तृत व्यवस्था को संकट में डाल

टिप्पणी

दिया। बहुत दिनों तक गुप्त वंश की ही नहीं वरन भारत की भी स्थिति बिगड़ गई थी, किंतु राजकुमार स्कंदगुप्त ने अपनी वीरता और सैनिक योग्यता से स्थिति सम्भाल ली। बर्बर पराजित हुए और साम्राज्य बच गया। युद्ध इतना भयंकर था कि महान साम्राज्य के युवराज को एक रात शय्याहीन भूमि पर बितानी पड़ी। इस प्रकार भयंकर बर्बरों की ज्वाला से भारत की रक्षा हुई और अपने रक्षक के प्रति लोगों ने अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट की। कहा जाता है कि स्कंदगुप्त की प्रशंसा में स्त्री-पुरुष और बच्चों ने चतुर्दिक गान गाए। उसकी इस महान सफलता के बीच ही वृद्ध सम्राट कुमारगुप्त की मृत्यु हुई और राष्ट्रवीर स्कंदगुप्त गद्दी पर बैठा (455 ई.)।

स्कंदगुप्त

अनेक कारणों से समझा जाता है कि स्कंदगुप्त का राज्यारोहण शांतिपूर्ण नहीं हुआ। उसका उसके वैमात्र भाई और कुमारगुप्त की राजमहिषी के पुत्र पुरुगुप्त से संघर्ष हुआ। संभवत: स्कंदगुप्त की माता का पद निम्न था और यह उसके विरोधी के हित की बात थी। परंतु अंततोगत्वा स्कंदगुप्त विजयी हुआ। उसके अपने ही एक अभिलेख में कहा गया है कि 'अन्य राजकुमारों की उपेक्षा कर लक्ष्मी ने स्वयं उसका वरण किया।' संभवत: यही बात स्कंदगुप्त के सिक्कों के एक प्रकार पर भी दृश्यरूप में अंकित है, जिसमें एक स्त्री राजा के सम्मुख खड़ी हुई पाश सदृश और कोई वस्तु राजा को दे रही है। स्कंदगुप्त और पुरुगुप्त के बीच की यह प्रतिस्पर्धा स्कंदगुप्त के राज्यारोहण के साथ ही समाप्त नहीं हुई और उसका प्रभाव उसकी मृत्यु के पश्चात उत्तराधिकारी पर भी पड़ा। यह निश्चित है कि स्कंदगुप्त के पश्चात पुरुगुप्त अथवा उसके बेटे उत्तराधिकारी हुए। इन लोगों ने अपनी वंशावली सीधे कुमारगुप्त से जोड़ी और स्कंदगुप्त का नामोल्लेख तक नहीं किया।

स्कंदगुप्त का राज्यकाल युद्धों से परिपूर्ण जान पड़ता है। उसके सबसे बड़े शत्रु खूंखार बर्बर हूण थे, जो मध्य एशिया में रहते थे और ठीक उसी समय महान रोमन साम्राज्य के लिए भी खतरनाक सिद्ध हो रहे थे। उनकी श्वेत हूण के नाम से प्रसिद्ध एक शाखा ने आक्सस की घाटी पर अधिकार कर लिया और वहां से वे ईरान और भारत की ओर बढ़े। हिंदुकुश पार कर उन्होंने गांधार पर अधिकार कर महान गुप्त साम्राज्य पर धावा बोला। सारे भारतवर्ष के लिए ये बड़ी विपत्ति के दिन थे। वे लोग आगे बढ़ते हुए जिस प्रकार के अत्याचार और विध्वंस करते थे, उसको देखते हुए यह खतरा और भी अधिक भयंकर था। संभवत: यह उस खतरे से भी भयंकर था, जिसका सामना स्कंदगुप्त को अपने पिता के राज्यकाल में करना पड़ा था। इस बार भी अवसर के अनुरूप स्कंदगुप्त ने अपनी वही वीरता दिखाई और हूणों को इतनी बुरी तरह पराजित किया कि वे फिर गुप्त साम्राज्य को आधी शताब्दी तक छेड़ने का साहस न कर सके, यद्यपि इसी अवधि में ईरान में वे विध्वंस करते रहे। भारत की परवर्त्ती ऐतिहासिक घटनाओं और अन्य देशों पर हूणों के आक्रमण के इतिहास को देखते हुए यह कहना पड़ता है कि स्कंदगुप्त ने जिस सफलता के साथ उनका प्रतिरोध किया था, उसे उस युग की सबसे बड़ी सफलता कहना चाहिए। देशवासियों ने कृतज्ञतापूर्वक उसे देश-त्राता के रूप में देखा और आधुनिक इतिहासकारों को भी उस लोकविश्वास का समर्थन करना पड़ता है। इस वीरतापूर्ण कार्य के फलस्वरूप स्कंदगुप्त ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की, जिसे उसके पूर्व समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त द्वितीय धारण कर चुके थे।

टिप्पणी

सुदर्शन-ताल : जान पड़ता है कि हूण युद्ध और अभिलेखों में अस्पष्ट रूप से उल्लिखित कुछ अन्य युद्धों के कारण साम्राज्य के आर्थिक साधनों पर काफी बोझ पड़ा। संभवत: इन्हीं कारणों से स्कंदगुप्त के सिक्के संख्या में थोड़े पाए जाते हैं और वे एक प्रकार के हैं, जबकि उसके पूर्वजों ने कई प्रकार के सिक्के चलाए थे। इनमें शुद्ध सोने की भी कमी है। किंतु साथ ही उस समय साम्राज्य के दूरस्थ भागों में भी जनहित के बड़े-बड़े कार्य किए गए, इसके प्रमाण भी मिलते हैं। जूनागढ़ के निकट गिरिनार पर्वत पर दो महत्वपूर्ण अभिलेखों में सुदर्शन नामक एक बड़े सिंचाई के ताल का इतिहास अंकित है। मूलत: इस ताल का निर्माण चंद्रगुप्त मौर्य के समय में पहाड़ के एक प्राकृतिक गह्वर के किनारे बांध बना कर किया गया था। उसमें जमा होने वाला बरसाती पानी नहरों द्वारा दूर-दूर के खेतों में सिंचाई के लिए भेजा जाता था। एक बार 150 ई. में यह बांध टूट गया था और तब उसकी मरम्मत शक क्षत्रप रुद्रदामन प्रथम ने करवायी थी। उसने अपने इस कार्य की स्मृति में वहां एक अभिलेख अंकित कराया था, जिससे हमें उसके राज्य की अधिकांश बातों का पता चलता है। यहीं के एक दूसरे अभिलेख में कहा गया है कि स्कंदगुप्त के राज्य-काल और गुप्त संवत् 136 (455-56 ई.) में सुदर्शन ताल का बांध पुन: टूट गया। उसकी मरम्मत सुराष्ट्र प्रांत के राज्यपाल पर्णदत्त ने कराई और जनता को एक महान आपत्ति से बचाया। एक ही पर्वत पर अंकित इन दो लेखों से पता चलता है कि प्राचीन भारत में सिंचाई का कितना ध्यान रखा जाता था। वे इस महान परिवर्तन के भी मौन साक्षी हैं, जिससे शक साम्राज्य गुप्त साम्राज्य का अंग बन गया। पर्णदत्त के अभिलेख से इस बात की कल्पना की जा सकती है कि स्कंदगुप्त के समय में शक्ति साम्राज्य-निर्माण का जो कार्य आरंभ किया था, वह इस काल में पूरा हो गया था। स्कंदगुप्त की आज्ञा बंगाल और काठियावाड़ प्रायद्वीप के राज्यपाल मानते थे और एक ही शासन बंगाल की खाड़ी से अरब सागर तक प्रचलित था।

स्कंदगुप्त के उत्तराधिकारी

एक समकालीन अभिलेख से ज्ञात होता है कि संभवत: 437 ई. में जब स्कंदगुप्त का निधन हुआ, तो उस विशाल साम्राज्य में सर्वत्र शांति और समृद्धि व्याप्त थी। किंतु गुप्त साम्राज्य का परवर्त्ती इतिहास अंधकाराच्छन्न है। हमें अनेक राजाओं के नाम तो ज्ञात हैं पर यह निर्णय करना संभव नहीं है कि उनके पारस्परिक संबंध क्या थे। इस काल के इतिहास के पुनर्निर्माण के संबंध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। अत: निम्नलिखित वर्णन आज के ज्ञात तथ्यों के आधार पर उचित संभावना मात्र ही समझा जाना चाहिए।

पुरुगुप्त : जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, राजकीय वंशावलियों में बताया गया है कि गुप्तवंश का उत्तराधिकार कुमारगुप्त के बाद महादेवी अनंत देवी से उत्पन्न पुत्र पुरुगुप्त को मिला और उनमें स्कंदगुप्त का कोई उल्लेख नहीं है। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि पुरुगुप्त अपने पिता के निधन के बाद तत्काल ही गद्दी पर बैठा था और पुष्यमित्रों के युद्ध से लौटने के बाद स्कंदगुप्त के वैध उत्तराधिकारी को हटा कर बैठा था। जो भी हो, पुरुगुप्त ने कुछ काल तक राज्य अवश्य किया था। किंतु दोनों ही अवस्थाओं में उसका राज्यकाल संक्षिप्त था। उसके बाद उसका बेटा बुधगुप्त उत्तराधिकारी हुआ, जिसकी आरंभिक ज्ञात तिथि 477 ई. है। किंतु 474 ई. का कुमारगुप्त (द्वितीय) के नाम के एक अन्य राजा का भी लेख मिला है। पुरुगुप्त के साथ उसका संबंध अज्ञात है और उसका इतिहास अंधकारपूर्ण है। हो सकता है कि वह स्कंदगुप्त का बेटा अथवा वैध

टिप्पणी

उत्तराधिकारी हो, जिसने पुरुगुप्त के राज्याधिकार के विरुद्ध विद्रोह किया हो, अथवा जिसे हटाकर पुरुगुप्त गद्दी पर बैठा हो। जो भी हो, पुरुगुप्त का बेटा बुधगुप्त लंबे अरसे तक बिना किसी प्रतिद्वंद्वी के राज्य करता रहा और उसके समय में साम्राज्य की समृद्धि और शांति की कोई विशेष हानि नहीं हुई। तथापि साम्राज्य के शीघ्र विघटन के कुलक्षण प्रकट होने लगे थे। मैत्रक वंश के सेनापति भट्टार्क ने, जो सुराष्ट्र (काठियावाड़ प्रायद्वीप) प्रांत का राज्यपाल था और जिसकी राजधानी वलभी थी, अपनी स्थिति वंशगत बना ली। वह और उसके बाद शासक होने वाले उसके ज्येष्ठ पुत्र तो अपने को केवल सेनापति कहते रहे किंतु उसके उस पुत्र के छोटे भाई और उत्तराधिकारी द्रोणसिंह ने महाराज की उपाधि धारण की और यह दावा किया कि सम्राट ने स्वयं उसका विधिवत अभिषेक किया है। उस सम्राट के नाम का उल्लेख उसने नहीं किया है, किंतु निश्चित जान पड़ता है कि वह बुधगुप्त था। इससे यह स्पष्ट है कि मैत्रक लोग वलभी को स्वतंत्र राज्य बनाने में सफल होते जा रहे थे। साथ ही यह भी ज्ञात होता है कि वे लोग विधिवत गुप्त साम्राज्य की अधीनता पांचवीं शताब्दी के अंत तक और संभवत: आगे भी कुछ समय तक मानते रहे।

साम्राज्य के दूसरे-छोर पर स्थिति इतनी बुरी न थी, किंतु जहां उत्तरी बंगाल के शासक कुमारगुप्त प्रथम के शासन काल में केवल उपरिक कहलाते थे, वे अब अपने को उपरिक महाराज कहने लगे। मालवा के उपरिकों ने भी महाराज की उपाधि धारण कर ली। इन अनेक शासकों द्वारा दिए गए भूदान पत्रों में, प्रचलित प्रथा की उपेक्षा कर, या तो तत्कालीन गुप्त साम्राट का नाम नहीं दिया गया है अथवा बिना सम्राट के नाम के उल्लेख के गुप्तों के प्रभुत्व की साधारण शब्दों में चर्चा मात्र कर दी गई है। इससे जान पड़ता है कि सिद्धांतत: गुप्त साम्राज्य की प्रतिष्ठा में किसी प्रकार का कोई विशेष ह्रास नहीं हुआ था, किंतु उनकी वास्तविक शक्ति और सम्मान का ह्रास होने लगा था। कुमारगुप्त प्रथम की मृत्यु के पश्चात उत्तराधिकार की लड़ाई और स्कंदगुप्त के निधन के पश्चात अथवा उससे कुछ पूर्व के संघर्ष ही इसके लिए मुख्यत: उत्तरदायी थे। हूणों के आक्रमण से साम्राज्य को जो गहरा धक्का लगा था उसका भी इसमें कुछ हाथ हो सकता है। कुछ अन्य कारण भी रहे होंगे, जिनका हमें पता नहीं, किंतु इसमें कोई शक नहीं कि गुप्त साम्राज्य का सूर्य अब ढल चला था।

बुधगुप्त के निधन के पश्चात राजपरिवार में विग्रह, करद राजाओं के विद्रोह और विदेशी आक्रमणों के फलस्वरूप एक अव्यवस्था का युग आरंभ हुआ। इन तीनों की एक-दूसरे पर क्रिया और प्रतिक्रिया हुई, फलत: छठी शताब्दी के पूर्वार्ध का क्रमबद्ध वृत्तांत बताना अथवा घटनाओं का मोटे तौर पर भी काल-क्रम देना संभव नहीं है। केवल उपयुक्त तीनों बातों की मोटे तौर पर चर्चा मात्र कर देना ही संभव है।

बुधगुप्त के उत्तराधिकारी

राजकीय वंशावली से जान पड़ता है कि बुधगुप्त के बाद उसका भाई नरसिंहगुप्त और नरसिंहगुप्त के पश्चात क्रमश: उसके पुत्र और पौत्र कुमारगुप्त (तृतीय) और विष्णुगुप्त उत्तराधिकारी हुए। पर्याप्त आधार पर कहा जा सकता है कि विष्णुगुप्त के राज्य का अंत 550 ई. में हुआ। अत: यह मानना उचित होगा कि बुधगुप्त के तीनों उत्तराधिकारियों का शासन छठी शताब्दी के पूर्वार्ध में था। किंतु अभिलेखों से ज्ञात होता है कि दो अन्य गुप्त

टिप्पणी

शासक भी इस अवधि में हुए। उनमें से एक, वैन्यगुप्त ने 507 ई. में पूर्वी बंगाल में एक भू-शासन जारी किया था। उसके सिक्के और मुहरों से निःसंदेह प्रकट है कि वह गुप्त वंश का ही था। दूसरे राजा भानुगुप्त का पता 510 ई. के एक लेख से होता है, जो एरण (जिला सागर, मध्य प्रदेश) में एक स्मारक स्तंभ पर अंकित है। इसमें कहा गया है कि जगत प्रवीर अतिशूर राजा भानुगुप्त ने एक युद्ध किया जिसमें उसका करद राजा गोपराज मारा गया और गोपराज की पत्नी उसकी चिता पर जल मरी। भारत में सती प्रथा का अभिलेखों में यह प्रथम उल्लेख है।

भानुगुप्त का कोई सिक्का अथवा मुहर अभी तक देखने में नहीं आई है, किंतु उसके नाम और कार्यों से संदेह नहीं रह जाता कि वह गुप्तवंश का था। एरण के प्रसिद्ध रण में किन शत्रुओं से उसकी मुठभेड़ हुई थी, उनका अनुमान हम सरलता से कर सकते हैं। इस क्षेत्र में पाए जाने वाले दो अभिलेखों से ज्ञात होता है कि 485 ई. के पश्चात किसी समय, किंतु एक पीढ़ी के भीतर ही, एरण के आस-पास का प्रदेश गुप्तों के हाथ से निकल कर तोरमाण नामक एक शासक के अधीन चला गया जो संभवतः हूण था। अतः यह निश्चित है कि भानुगुप्त ने 510 ई. में जो लड़ाई लड़ी थी वह इसी हूण आक्रमणकारी के विरुद्ध रही होगी। खेद है कि इस युद्ध का परिणाम हमें ज्ञात नहीं और हम नहीं कह सकते कि भानुगुप्त ने आक्रमणकारी का जो विरोध किया था उसमें वह असफल रहा अथवा उसने आक्रमणकारी द्वारा देश पर अल्पकालीन अधिकार के पश्चात उसे निकाल बाहर किया।

इन दो गुप्त राजाओं के शासन, राजकीय वंशावली में नहीं बैठाए जा सकते। हूणों के एरण तक प्रवेश से भी इस बात में संदेह नहीं रह जाता कि बुधगुप्त के निधन के दस-बीस वर्षों के भीतर ही साम्राज्य को गृह-कलह और विदेशी आक्रमणों का सामना करना पड़ा था। अन्य सिरदर्द भी हो सकते हैं, क्योंकि कहा जाता है कि वाकाटक नरेश नरेंद्रसेन ने अपना प्रभुत्व मालवा और गुप्त साम्राज्य के अन्य भागों पर स्थापित कर लिया था। संभवतः इसी काल में उसने दक्षिणापथ पर भी आक्रमण किया था।

हूण और यशोधर्मन

आधी शताब्दी के पश्चात हूण फिर प्रकट हुए। इस बीच वे काफी शक्तिशाली हो गए थे। जब स्कंदगुप्त ने उन्हें भारत में आने से रोक दिया था तो वे ईरान की ओर मुड़ गए थे। ईरान के शाह फिरोज ने उनका सामना किया। किंतु वह पराजित हुआ और मारा गया। इस सफलता से ढीठ होकर हूण काफी दूर तक फैल गए और पांचवीं शताब्दी का अंत होते-होते वे एक विस्तृत साम्राज्य पर शासन करने लगे थे। उन्होंने अपनी राजधानी बल्ख में बना ली। गांधार और संभवतः पंजाब का कुछ भाग उनके साम्राज्य में सम्मिलित था।

तोरमाण, मिहिरकुल : यहां तक तो बात बहुत कुछ निश्चित-सी जान पड़ती है, किंतु हूणों के भारत में बढ़ने और सीमा पर गुप्त साम्राज्य द्वारा उनका किसी प्रकार का प्रतिरोध किए जाने की कोई बात ज्ञात नहीं है। उनके संबंध में निश्चित जानकारी तब होती है जब हम तोरमाण को गुप्त साम्राज्य के भीतर एरण में स्थापित पाते हैं। यद्यपि इस बात के निश्चित प्रमाण नहीं है कि वह हूण ही था, तथापि परिस्थितिजन्य प्रमाणों से वह हूण अवश्य जान पड़ता है। किंतु यह नहीं कहा जा सकता है कि वह बल्ख या गांधार स्थित हूणों के केंद्रीय शासन का प्रतिनिधित्व करता था अथवा परवर्ती काल के बख्तियार

टिप्पणी

खिलजी की भांति एक स्वतंत्र लुटेरा था, जिसने स्वेच्छा से ही वह धावा किया था। जो भी हो, तोरमाण के सिक्कों से जान पड़ता है कि वह विदेशी था और हूणों के साथ उसका निकट संबंध था। उसने भारत के एक लंबे-चौड़े भूभाग पर अधिकार कर लिया था जिसके अंतर्गत कश्मीर, पंजाब, राजस्थान, मालवा और उत्तर प्रदेश के कुछ भाग थे। उसके बाद उसका बेटा मिहिरकुल राजा हुआ। उसका एक अभिलेख ग्वालियर में मिला है। उसकी अपार शक्ति और अकथनीय क्रूरता की गूंज ह्वेनसांग द्वारा उल्लिखित जनश्रुतियों एवं राजतरंगिणी में पाई जाती है। ह्वेनसांग के कथनानुसार उसकी राजधानी शाकल (पंजाब में स्यालकोट) थी। 525 और 535 ई. के बीच सिकंदरिया निवासी एक यवन-लिखित 'क्रिस्चियन टोपोग्रैफी' नामक पुस्तक में भारत के श्वेत हूणों की महान शक्ति का उल्लेख है। उसका कहना है कि सिंधु के उस पार उनका देश है, किंतु उनका नेता गोल्लम ''भारत का अधीश्वर है और जनता को सताकर कर देने के लिए विवश करता है''। संभवत: गोल्लम की पहचान मिहिरकुल से की जा सकती है और यह कहा जा सकता है कि समस्त उत्तरी भारत के लिए वह एक आतंक बन गया था। किंतु मिहिरकुल के भाग्य में अधिक दिनों तक अपनी शक्ति का उपभोग करना नहीं लिखा था। दो विभिन्न साधनों से दो विभिन्न व्यक्तियों के हाथों उसकी पराजय एवं कठिनाइयों का पता लगता है। इसके फलस्वरूप उसकी शक्ति का अंत ही नहीं हुआ वरन भारत के हूणों का उपद्रव भी सदा के लिए समाप्त हो गया।

यशोधर्मन : मिहिरकुल का विरोध करने वाला पहला व्यक्ति यशोधर्मन था। उसके उज्जवल जीवन की गाथा केवल एक लेख से ज्ञात हुई है। यह लेख मालवा में मंदसोर स्थित दो स्तंभों पर खुदा हुआ है। संभवत: वह औलिकर नामक प्राचीन वंश का था जिसके वंशज मालवा में चौथी शताब्दी से राज्य करते आ रहे थे। पहले तो वे लोग स्वतंत्र थे पर बाद में वे गुप्तों के करद हो गए थे। यशोधर्मन ने न केवल गुप्त साम्राज्य की अधीनता अपने ऊपर से उतार फेंकी वरन वह दरू-दूर तक अपनी विजयिनी सेना को ले गया। इस राजप्रशस्ति के अनुसार उसकी प्रभुता उत्तर में हिमालय, दक्षिण में महेंद्रगिरी (गंजाम जिला), पूरब में ब्रह्मपुत्र नदी और पश्चिम में समुद्र तक जाती थी। उसका यह भी दावा है कि वह उन प्रदेशों का शासक था, जिन पर गुप्तों अथवा हूणों का भी अधिकार न हो सका था। अंत में लिखा है कि सुप्रसिद्ध राजा मिहिरकुल ने भी उसके चरणों की पूजा की थी।

राजकवि की अतिशयोक्तियों का ध्यान रखते हुए भी हमें यह मानना पड़ेगा कि यशोधर्मन ने अपने को गुप्त साम्राज्य के विस्तृत भू-भाग का स्वामी बना लिया था और उसने मिहिरकुल को भी पराजित किया था। यह सब संभवत: 530 ई. के पूर्व हुआ था, क्योंकि उस वर्ष के एक लेख में यशोधर्मन को महान प्रभुसत्तायुक्त शासक बताया गया है।

यशोधर्मन के विजय-अभियान और उसके राज्य की सीमा का वर्णन राजकवि ने जिस रूप में किया है उससे तो लगता है कि गुप्त साम्राज्य का उस समय अस्तित्व ही नहीं रह गया था। किंतु वस्तुस्थिति इससे बहुत भिन्न थी। इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि गुप्त सम्राट नरसिंहगुप्त न केवल इस धक्के को सहन करने में समर्थ हुआ था, वरन अपना राज्य और अपनी साम्राज्य-परंपरा को अपने बेटे और पोते के लिए भी सुरक्षित छोड़ दिया था। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि संभवत: मिहिरकुल का अंत करने

टिप्पणी

वाला अंतिम धक्का उसी ने दिया। यह बात हमें ह्वेनसांग के कथन से ज्ञात होती है। उसने विस्तार के साथ मिहिरकुल के मगध आक्रमण की चर्चा की है और लिखा है कि राजा बालादित्य ने उसको पराजित कर गिरफ्तार कर लिया था। मगध की राजमाता के हस्तक्षेप से ही उसकी जान बच सकी थी। मिहिरकुल जब अपने राज्य को वापस गया तो उसने देखा कि उसके भाई ने उसकी राजगद्दी हड़प ली है। अतः कश्मीर जाकर उसने शरण ली और धोखे से वहां के राज्य पर अधिकार कर लिया और गांधार को भी जीत लिया। किंतु एक वर्ष के भीतर ही उसकी मृत्यु हो गई।

ह्वेनसांग ने जो कुछ लिखा है उसे अविकल रूप से सत्य मानना तो कठिन है, किंतु जैसा कि ऊपर बताया गया है, उसकी रूपरेखा ऐतिहासिक मानी जा सकती है। इसमें संदेह नहीं कि ह्वेनसांग द्वारा उल्लिखित मगधराज बालादित्य गुप्त सम्राट नरसिंहगुप्त ही है। नालंदा से प्राप्त आठवीं शताब्दी के एक लेख में कहा गया है कि वह अमित शक्तिवाला महान राजा था जिसने सभी शत्रुओं का विनाश कर समस्त पृथ्वी का उपभोग किया। 200 वर्षों के बाद भी नरसिंहगुप्त बालादित्य लोगों की स्मृति में महान शासक और विजेता के रूप में जीवित रहा, यह बात ह्वेनसांग के उल्लेखों का समर्थन करती है। उल्लेखनीय बात यह है कि ह्वेनसांग और आठवीं शताब्दी वाला यह लेख- दोनों ही नालन्दा में एक विशाल मंदिर बनवाने का श्रेय बालादित्य को देते हैं।

स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि बुधगुप्त के पश्चात छठी शताब्दी के प्रथम 30 वर्षों तक नरसिंहगुप्त क्या करता रहा। हो सकता है कि वैन्यगुप्त और भानुगुप्त सदृश प्रतिस्पर्धी राजाओं के उत्थान और यशोधर्मन के विद्रोह के फलस्वरूप उसकी शक्ति पंगु हो गई हो। यह भी असंभव नहीं कि वह अपने इन प्रतिद्वंद्वियों के निधन के बाद ही पैतृक गद्दी पर बैठा हो और 30-40 वर्षों तक अपने को या तो दबाए रहा हो अथवा अज्ञात जीवन व्यतीत करता रहा हो। जो कुछ भी मालूम है, उससे यही जान पड़ता है कि यदि दोनों का नहीं तो कदाचित वैन्यगुप्त अथवा भानुगुप्त का ही गद्दी पर वैध अधिकार रहा हो और नरसिंहगुप्त, इस वंश में जन्म लेने के अधिकार से बुढ़ापे में उस समय गद्दी पर बैठा हो जब हूणों और यशोधर्मन के सैनिक कार्यों के कारण साम्राज्य हिल चुका था।

गुप्त साम्राज्य का पतन

इन विकल्पों में चाहे हम जिसे भी सही मानें, इतना तो प्रायः निश्चित ही है कि नरसिंहगुप्त और उसके दोनों उत्तराधिकारियों ने साम्राज्य की परंपरा छठी शताब्दी के मध्य तक तक कायम रखी। यह अन्य बातों के साथ-साथ इस बात से प्रमाणित है कि बलभी के मैत्रकों ने पुरानी परंपरा कायम रखते हुए जितने भी भू-दान पत्र जारी किए उनकी संख्या 14 है और जो 526 ई. के बीच लिखे गए थे, उनमें उन्होंने परमभट्टारक के प्रति अपनी भक्ति व्यक्त की है। निस्संदेह यह भक्ति औपचारिक ही थी। किंतु यह स्पष्ट है कि परमभट्टारक से तात्पर्य गुप्त सम्राट का है। इस प्रकार का नाममात्र का सम्मान साधारणतः पुराने राजवंशों के प्रति पुरानी परंपरा के अनुसार ही प्रदर्शित किया जाता है। नया अधिकारी या तो पूर्ण अधीनता की बात मनवा लेता है या फिर उसकी उपेक्षा ही होती है।

अंतिम तीन सम्राट : ह्वेनसांग ने नरसिंहगुप्त को मगध का राजा लिखा है। संभवतः उनका वास्तविक अधिकार मगध और उत्तरी बंगाल से बहुत परे न था। उत्तरी बंगाल से मिले 543 ई. के एक भू-दान पत्र में प्रभु-शासक का नाम नष्ट हो गया है, केवल अंत के

दो अक्षर 'गुप्त' बचे हैं। संभवत: वह कुमारगुप्त तृतीय का पुत्र और नरसिंहगुप्त का पौत्र विष्णुगुप्त था। इन तीनों राजाओं ने एक ही ढंग के सोने के सिक्के चलाए और उनमें निरंतर बढ़ती हुई खोट गुप्त साम्राज्य के तेजी से होते हुए ह्रास की द्योतक है।

टिप्पणी

करद राजाओं का विद्रोह

करद राजाओं द्वारा स्वतंत्रता धारण करने के कारण गुप्त साम्राज्य के ह्रास में तेजी आ गई। यशोधर्मन ने ऐसा घातक उदाहरण उपस्थित किया जो गुप्त साम्राज्य के लिए हूणों के आक्रमण से भी भयंकर सिद्ध हुआ और उसी तरह बिना नामोनिशान छोड़े फिर मिट भी गया। इससे गुप्त साम्राज्य को थोड़ी-सी सांस मिली किंतु वह क्षणिक ही थी। यशोधर्मन का अनुकरण दूसरों ने भी किया। उनमें सबसे शक्तिशाली परवर्ती गुप्त और मौखरी थे जो पहले गुप्तों के करद थे किंतु बाद में उन्होंने मगध और उत्तर प्रदेश में स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिए थे। बंगाल और भारत के अन्य भागों में भी स्वतंत्र राज्य स्थापित हो गए। गुप्त साम्राज्य की इस समय वही अवस्था थी जो नादिरशाह के आक्रमण के बाद मुगल साम्राज्य की हुई थी। नाममात्र को ही सही मुगल सम्राट उसके बाद दिल्ली की गद्दी पर एक शताब्दी तक बने तो रहे, किंतु गुप्त सम्राटों की चर्चा विष्णुगुप्त के बाद नहीं सुनाई पड़ती। हो सकता है कि उसके बाद एक या दो राजा और हुए हों, जिनका नाम अभी तक अज्ञात है।

मगध के बीचोबीच स्थित गया जिले से एक ऐसे व्यक्ति का 551-52 ई. का भू-दानपत्र मिला है जो अपने को कुमारामात्य महाराज कहता है। उस दान-पत्र में किसी गुप्त शासक का उल्लेख नहीं है। इससे हम यह भलीभांति अनुमान कर सकते हैं कि 550 ई. में गुप्तों का मगध से भी वास्तविक प्रभुत्व उठ गया था किंतु सरकारी नाम कुमारामात्य इस बात का द्योतक है कि अवध के वजीरों की तरह सम्राटवंश के प्रति अपनी भक्ति को उठा फेंकने का साहस वह न कर सका था। किंतु स्वयं उसके संबंध में हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि जैसा लोग समझते हैं गुप्त साम्राज्य के पतन का एकमात्र अथवा मुख्य कारण हूणों का आक्रमण न था। सबसे महत्वपूर्ण कारण राजवंश की आंतरिक फूट और प्रांतीय राज्यपालों और करद राजाओं के विद्रोह थे। ये कारण प्रत्यक्ष थे, यद्यपि हूणों का आक्रमण भी एक परोक्ष और सहायक कारण हो सकता है।

गुप्त शासन दो शताब्दियों से अधिक रहा। यह काल सर्वसम्मति से भारतीय इतिहास में स्वर्णयुक्त समझा जाता है। इस युग में कला, विज्ञान, साहित्य और अन्य बौद्धिक कार्यों का अद्‌भुत प्रस्फुटन हुआ और जिसे न केवल हम इसी काल में देखते हैं, वरन अगली एक शताब्दी तक और भी पाते हैं। इस युग को कई नामों से पुकारा जाता है- यथा स्वर्णयुग, युगवरेण्य अथवा भारत का पेरीक्लीज-युग।

2.2.1 गुप्त साम्राज्य का प्रशासनिक संगठन

गुप्त राजाओं का शासन-काल प्राचीन भारतीय इतिहास के सर्वाधिक गौरवशाली युग का प्रतिनिधित्व करता है। वस्तुत: इस समय सभ्यता और संस्कृति के प्रत्येक क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति हुई तथा भारतीय संस्कृति के विकास को पूर्णता प्राप्त हुई। गुप्त युग की सर्वतोमुखी

टिप्पणी

प्रगति को देखते हुए ही विद्वानों ने इस काल को हिंदू संस्कृति के 'स्वर्ण-युग' अथवा 'क्लासिकल युग' की संज्ञा से अभिहित किया है।

प्रशासनिक संगठन

अपनी अनेक विजयों के परिणामस्वरूप गुप्त सम्राटों ने एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया। अपने उत्कर्ष काल में यह साम्राज्य उत्तर में हिमायल से दक्षिण में विंध्यपर्वत तक तथा पूर्व में बंगाल की खाड़ी से लेकर पश्मिच में सुराष्ट्र तक फैला हुआ था। पाटलिपुत्र इस विशाल साम्राज्य की राजधानी थी।

सम्राट

विशाल गुप्त साम्राज्य की शासन-व्यवस्था राजतंत्रात्मक थी। मौर्य शासकों के विपरीत गुप्तवंशी शासक अपनी दैवी उत्पत्ति में विश्वास करते थे तथा 'महाराजाधिराज', 'परमभट्टारक', 'एकराट्', 'परमेश्वर' जैसी विशाल उपाधियां धारण करते थे। समुद्रगुप्त को पृथ्वी पर निवास करने वाला देवता कहा गया है जो वहीं तक मनुष्य था जहां तक लौकिक क्रियाओं को संपन्न करता था। परंतु अपनी दैवी उत्पत्ति के बावजूद वह स्वयं विधि-नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता था। सम्राट प्रशासन का मुख्य स्रोत था जिसके अधिकार और शक्तियां असीमित थीं। वह कार्यपालिका का सर्वोच्च अधिकारी, न्याय का प्रधान न्यायाधीश एवं सेना का सर्वोच्च सेनापति होता था। युद्ध के समय स्वयं सेना का संचालन करता था। प्रशासन के सभी उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति सम्राट द्वारा ही की जाती थी और वे सभी उसी के प्रति उत्तरदायी होते थे। इस प्रकार सिद्धांतत: उसकी स्थिति एक निरंकुश शासक जैसी थी। परंतु व्यवहार में वह पर्याप्त अंशों में उदार तथा जनहितकारी होता था। गुप्त युग में रानियों का भी महत्व था जो अपने पतियों के साथ मिलकर कभी-कभी शासन चलाती थीं। कुमारदेवी ने अपने पति चंद्रगुप्त प्रथम के साथ मिलकर शासन चलाया था। प्रभावतीगुप्ता ने वाकाटक राज्य के शासन का संचालन किया था।

गुप्तयुग में सामंतवाद का उदय हो चुका था। इसके लिए समुद्रगुप्त की अधीनस्थ राजाओं के प्रति अपनाई गई नीति ही उत्तरदायी थी। उसने जीते गए अधिकांश राज्यों को अपने साम्राज्य में सम्मिलित नहीं किया तथा उनके राजाओं को स्वतंत्र रूप से अपने-अपने क्षेत्रों में शासन करने का अधिकार प्रदान कर दिया। अधीन राजाओं के अतिरिक्त सम्राट के अधीन छोटे-छोटे सामंत हुआ करते थे जो अपने-अपने क्षेत्रों में स्वतंत्र रूप से शासन करते थे तथा नाममात्र के लिए सम्राट की अधीनता स्वीकार करते थे। ये सामंत तथा अधीन शासक 'महाराज' की उपाधि ग्रहण करते थे। उन्हें सेना रखने तथा अपने अधीन जनता से कर वसूल करने का अधिकार प्राप्त था। पूर्वी मालवा में सनकानीक, बुंदेलखंड में परिव्राजक एवं उच्चकल्प वंशों के शासक गुप्तों के सामंत थे। चंद्रगुप्त द्वितीय कालीन उदयगिरी के एक गुहालेख में 'सनकानीक महाराज' का उल्लेख हुआ है। सामंत शासक अपने लेखों में अपने को 'पादानुध्यात' कहते थे। वे विभिन्न अवसरों पर सम्राट की राजसभा में उपस्थित होते तथा भेंट, उपहारादि से उसे संतुष्ट रखते थे। कुछ सामंत अत्यधिक शक्तिशाली होते थे। वे अपने अधीन कई छोटे-छोटे सामंत रखते थे। इनमें परिव्राजक महाराज हस्तिन् का उल्लेख किया जा सकता है। यद्यपि गुप्त लेखों में हमें सामंतों तथा उनकी विभिन्न श्रेणियों का कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता है तथापि यह स्पष्ट है कि अब प्रशासन में मौर्यकालीन केंद्रीय नियंत्रण समाप्त हो गया था।

अमात्य तथा मंत्री

टिप्पणी

सम्राट अपने शासन-कार्य में अमात्यों, मंत्रियों एवं अधिकारियों से सहायता प्राप्त करता था। अमात्य से तात्पर्य प्रशासनिक अधिकारियों से था। उन्हीं में से योग्यता के आधार पर मंत्री नियुक्त किए जाते थे। प्रयाग प्रशस्ति में 'राजसभा' का उल्लेख मिलता है जिसके सदस्य 'सभेय' कहे जाते थे। सामान्यत: राजा का बड़ा पुत्र उत्तराधिकारी चुना जाता था। परंतु कभी-कभी दूसरे योग्य राजकुमार को भी इस पद पर चुन लिया जाता था, यदि उसमें असाधारण योग्यता होती थी। समुद्रगुप्त का चुनाव इसी प्रकार का रहा होगा। सम्राट के छोटे पुत्रों को प्रांतीय शासकों के रूप में नियुक्त करने की प्रथा थी, जैसे कुमारगुप्त प्रथम के छोटे भाई गोविंदगुप्त को मालवा का राज्यपाल नियुक्त किया गया था। युवराज अपने पिता के जीवनकाल में प्रशासनिक कार्यों में उसकी सहायता करता था। गुप्त युग में युवराज की अधीनता में एक पृथक सैनिक विभाग हुआ करता था। सम्राट के वृद्ध होने पर प्रशासन का पूरा उत्तरदायित्व युवराज के ऊपर ही आता था। इस प्रकार का उदाहरण कुमारगुप्त प्रथम के समय में मिलता है जबकि उसके पुत्र स्कंदगुप्त ने अपने पिता के काल में सैनिक अभियानों में प्रमुख रूप से भाग लिया था। गुप्त शासन में विभिन्न विभाग विभिन्न मंत्रियों के अधीन होते थे। गुप्तकालीन लेखों तथा स्मृतियों में मंत्रियों तथा सचिवों का उल्लेख मिलता है। किंतु उनकी संख्या अथवा उनके विभागों के विषय में कोई सूचना नहीं मिलती। ऐसा लगता है कि समुद्रगुप्त एवं चंद्रगुप्त द्वितीय के युद्ध सचिव हरिषेण एवं वीरसेन उच्चकोटि के सेनानायक भी थे। वीरसेन के उदयगिरी गुहालेख से पता चलता है कि वह आनुवंशिक रूप से अपने पद का उपभोग कर रहा था। कुमारगुप्त प्रथम का मंत्री पृथ्वीषेण, शिखरस्वामी का पुत्र था जो उसके पिता चंद्रगुप्त द्वितीय का मंत्री रह चुका था। वह पहले मंत्री था किंतु बाद में सेनापति (महाबलाधिकृत) के पद पर पहुंच गया था।

केंद्रीय अधिकारी

गुप्तकालीन अभिलेखों में निम्नलिखित पदाधिकारियों के नाम मिलते हैं-

प्रतिहार एवं महाप्रतिहार : ये राजकीय दरबार के प्रमुख पदाधिकारी थे जो प्रशासन में भाग नहीं लेते थे। जो लोग सम्राट से मिलना चाहते थे, उन्हें उचित अनुमति-पत्र देना इनका प्रमुख कार्य था। प्रतिहार अंत:पुर का रक्षक एवं महाप्रतिहार राजमहल के रक्षकों का प्रधान होता था।

महासेनापति : यह सेना का सर्वोच्च अधिकारी होता था।

महासांधिविग्रहिक : यह एक महत्वपूर्ण पदाधिकारी था जो युद्ध एवं शांति का मंत्री होता था।

दंडपाशिक : यह पुलिस विभाग का प्रधान अधिकारी होता था जो आजकल के पुलिस अधीक्षक के समान था।

विनयस्थितिस्थापक : यह धर्म-संबंधी मामलों का प्रधान अधिकारी था जो सार्वजनिक मंदिरों के प्रबंध की देख-रेख करता था एवं लोगों के नैतिक आचरण पर दृष्टि रखता था।

कुमारामात्य : अल्तेकर महोदय का मत है कि कुमारामात्य उच्च-पदाधिकारियों का विशिष्ट वर्ग था जो आधुनिक आई.ए.एस. वर्ग के पदाधिकारियों की भांति था। इस वर्ग के पदाधिकारी अपनी योग्यता के आधार पर उच्च-से-उच्च पद पर नियुक्त किए

टिप्पणी

जा सकते थे। रोमिला थापर के अनुसार 'कुमारामात्य' प्रांतीय पदाधिकारी होते थे जो स्थानीय प्रशासन तथा केंद्र के बीच कड़ी का काम करते थे। कुमारामात्य का पृथक कार्यालय होता था जिसे 'कुमारामात्याधिकरण' कहा जाता था। हाल ही में प्रयाग के समीप एक टीले से प्राप्त की गई मुद्रा में 'मूलकुमारामात्याधिकरणस्य' लेख उत्कीर्ण मिलता है। इससे ऐसा लगता है कि गुप्त प्रशासन में एक मुख्य कुमारामात्य भी होता था। उसके नीचे कई कुमारामात्य होते रहे होंगे।

गुप्त काल में राजकर्मचारियों को नकद वेतन दिया जाता था।

प्रांतीय शासन

प्रशासन की सुविधा के लिए विशाल गुप्त साम्राज्य अनेक प्रांतों में विभाजित किया गया था। प्रांत को देश, अवनी अथवा भुक्ति कहा जाता था। गुप्त प्रशासन के प्रमुख प्रांत सुराष्ट्र, पश्चिमी मालवा (अवंति), पूर्वी मालवा (एरण), तीरभुक्ति, पुंड्रवर्धन, मगध आदि थे। भुक्ति के शासक को 'उपरिक' कहा जाता था। जिसकी नियुक्ति सम्राट द्वारा की जाती थी तथा वह सम्राट के प्रति ही उत्तरदायी होता था। सीमांत प्रदेशों के शासक 'गोप्ता' कहलाते थे जिनकी नियुक्ति सम्राट पर्याप्त सोच-विचार के बाद करता था। उपरिक के पद पर प्रायः राजकुमार अथवा राजकुल से संबंधित व्यक्तियों की ही नियुक्ति की जाती थी परंतु कभी-कभी अन्य योग्य व्यक्तियों को भी यह पद प्रदान कर दिया जाता था। चंद्रगुप्त द्वितीय का छोटा पुत्र गोविंदगुप्त तीरभुक्ति (आधुनिक दरभंगा) का तथा कुमारगुप्त प्रथम का पुत्र घटोत्कचगुप्त पूर्वी मालवा का राज्यपाल था। कुमारगुप्त के समय में उत्तरी बंगाल में पुंड्रवर्द्धन नामक प्रांत गुप्त साम्राज्य के अंतर्गत था जहां का शासक चिरादत्त था। स्कंदगुप्त के समय में पर्णदत्त उसके साम्राज्य के पश्चिमी प्रदेश सुराष्ट्र का राज्यपाल था। इनकी नियुक्ति प्रायः पांच वर्षों के लिए की जाती थी।

जिला तथा नगर-प्रशासन

भुक्ति का विभाजन अनेक जिलों में हुआ था। 'जिला' को 'विषय' कहा गया है जिसका प्रधान अधिकारी 'विषयपति' होता था। विषयपति को 'कुमारामात्य' भी कहा गया है। विषयपति की नियुक्ति प्रायः संबंधित प्रांत के उपरिक (राज्यपाल) द्वारा ही की जाती थी, परंतु कभी-कभी स्वयं सम्राट ही उनकी नियुक्ति करता था। विषयपति का अपना कार्यालय होता था। कार्यालय के अभिलेखों को सुरक्षित रखने वाले अधिकारी को 'पुस्तपाल' कहा जाता था। विषयपति एक समिति की सहायता से जिले का शासन चलाता था जिसमें निम्नलिखित सदस्य होते थे-

(1) नगर श्रेष्ठि (नगर के महाजनों का प्रमुख), (2) सार्थवाह (व्यावसायियों का प्रधान), (3) प्रथम कुलिक (प्रधान शिल्पी) तथा (4) प्रथम कायस्थ (मुख्य लेखक)।

फरीदपुर ताम्रपत्र संख्या 3 में विषयसमिति के सदस्यों की संख्या बीस मिलती है। विषय-समिति के सदस्य 'विषय-महत्तर' कहे जाते थे।

प्रमुख नगरों का प्रबंध नगरपालिकाएं चलाती थीं। नगर का प्रधान अधिकारी 'पुरपाल' कहा जाता था। वह कुमारामात्य की श्रेणी का अधिकारी होता था। नगर प्रशासन में पुरपाल की सहायता करने के लिए भी संभवतः एक समिति होती थी। जूनागढ़ लेख से पता चलता है कि गिरनार नगर का 'पुरपाल' चक्रपालित था जो सुराष्ट्र के राज्यपाल पर्णदत्त का पुत्र था। उसी ने वहां सुदर्शन झील के बांध का पुनर्निर्माण करवाया था।

टिप्पणी

ग्राम-शासन

ग्राम शासन की सबसे छोटी इकाई होता था जिसका प्रशासन ग्रामसभा द्वारा चलाया जाता था। ग्राम सभा को मध्य भारत में 'पंचमंडली' तथा बिहार में 'ग्राम जनपद' कहा जाता था। ग्राम सभा सरकार के सभी कार्यों को करती थी। वह ग्राम की सुरक्षा की व्यवस्था करती, निर्माण-कार्य करती तथा राजस्व एकत्रित कर राजकीय कोष में जमा करती थी। दामोदरपुर से प्राप्त तीसरे ताम्रपत्र में ग्राम सभा के कुछ पदाधिकारियों के नाम इस प्रकार मिलते हैं- महत्तर, अष्टकुलाधिकारी, ग्रामिक, कुटुंबिन। इनके निर्वाचन की विधि एवं कार्यों के विषय में अधिक ज्ञात नहीं है।

न्याय-प्रशासन

गुप्तकालीन लेखों में न्याय विभाग का उल्लेख नहीं मिलता। किंतु समकालीन स्मृतियों- नारद तथा वृहस्पति से पता चलता है कि गुप्त युग में न्याय-व्यवस्था अत्यधिक विकसित थी। गुप्त युग में प्रथम बार दीवानी तथा फौजदारी अपराधों से संबंधित कानूनों की व्याख्या प्रस्तुत की गई। उत्तराधिकारी संबंधी स्पष्ट एवं विशद कानूनों का निर्माण किया गया। सम्राट देश का सर्वोच्च न्यायाधीश होता था। वह सभी प्रकार के मामलों के सुनवाई की अंतिम अदालत था। सम्राट के अतिरिक्त एक मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य अनेक न्यायाधीश होते थे जो साम्राज्य के विभिन्न भागों में स्थित अनेक न्यायालयों में न्याय-संबंधी कार्यों को देखते थे। व्यापारियों तथा व्यवसायियों की श्रेणियों के अपने अलग न्यायालय होते थे जो अपने सदस्यों के विवादों का निपटारा करते थे। स्मृति ग्रंथों में 'पूंग' तथा 'कुल' नामक संस्थाओं का भी उल्लेख मिलता है जो अपने सदस्यों के विवादों का फैसला करती थीं। 'पूंग' नगर में रहने वाली विभिन्न जातियों की समिति होती थी जबकि 'कुल' समान परिवार के सदस्यों की समिति थी। इन सभी को राज्य की ओर से मान्यता मिली हुई थी। ग्रामों में न्याय का कार्य ग्राम-पंचायतें किया करती थीं। पेशेवर वकीलों का अस्तित्व नहीं था। न्यायालयों में प्रमाण भी लिया जाता था। जहां कोई प्रमाण नहीं मिलता था वहां अग्नि, जल, विष, तुला आदि के द्वारा दिव्य परीक्षाएं ली जाती थीं। गुप्तकालीन अभिलेखों में न्यायाधीश को महादंडनायक, दंडनायक, सर्वदंडनायक आदि कहा गया है। नालंदा तथा वैशाली से कुछ न्यायायलों की मुद्राएं भी मिलती हैं जिनके ऊपर न्यायधिकरण, धर्माधिकरण तथा धर्मशासनाधिकरण अंकित है।

फाहियान के विवरण से पता चलता है कि दंडविधान अत्यंत कोमल था। मृत्युदंड नहीं दिया जाता था और न ही शारीरिक यातनाएं मिलती थीं। सम्राट स्कंदगुप्त के जूनागढ़ लेख से भी पता चलता है कि उस काल में दंडों के द्वारा अत्यधिक पीड़ा नहीं पहुंचाई जाती थी। चारुदत्त को हत्यारा सिद्ध हो जाने पर भी मृत्यु-दंड नहीं दिया गया था। अपराधों में सामान्यत: आर्थिक जुर्माने लिए जाते थे। बार-बार राजद्रोह का अपराध करने वाले व्यक्ति का दाहिना हाथ काट लिया जाता था। अन्य दंड मौर्ययुग की अपेक्षा मृदु थे। कुछ मामलों, जैसे पशुओं को नष्ट करना आदि, में जहां कौटिल्य मृत्युदंड का विधान करता है वहां गुप्तकालीन स्मृतियां मात्र प्रताड़ित करने का विधान प्रस्तुत करती हैं। इस प्रकार गुप्त सम्राटों ने प्राचीन भारतीय दंड विधान को उदार एवं मृदु बनाने का यथेष्ट प्रयास किया था। जब हम इस देश में जासूसी तथा अपराधों के लिए कठोर दंडों की प्राचीन परंपरा का स्मरण करते हैं, तो हमें यह मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि 'गुप्तों के प्रशासन ने प्राचीन भारतीय दंड विधान में मानवीय सुधार के एक नये युग का सूत्रपात किया था।'

टिप्पणी

सैनिक संगठन

गुप्त शासकों की सेना विशाल एवं सुसंगठित होती थी। सेना का सर्वोच्च अधिकारी 'महाबलाधिकृत' कहा जाता था। हाथियों की सेना के प्रधान को 'महापीलुपति' तथा घुड़सवारों की सेना के प्रधान को 'भटाश्वपति' कहते थे। सेना में सामानों की व्यवस्था रखने वाले प्रधान अधिकारी को 'रणभांडागारिक' कहते थे। गुप्तवंशी सम्राट स्वयं कुशल योद्धा होते थे तथा व्यक्तिगत रूप से युद्धों में भाग लेते एवं सेना का संचालन करते थे। मंत्रियों के लिए भी सैनिक दृष्टि से योग्य होना आवश्यक था। प्रयाग प्रशस्ति में उस समय के कुछ प्रमुख अस्त्र-शस्त्रों के नाम इस प्रकार मिलते हैं- परशु, शर, शंकु, तोमर, भिंदिपाल, नाराच आदि।

भूमि एवं राजस्व

गुप्त युग में सिद्धांतत: भूमि पर सम्राट का स्वामित्व माना जाता था। राजकीय भूमि के अतिरिक्त ऐसी भी भूमि थी जिस पर कृषकों का निजी स्वामित्व होता था। मंदिरों तथा ब्राह्मणों को जो भूमि दान में दी जाती थी उसे 'अग्रहार' कहा जाता था। इस प्रकार की भूमि सभी करों से मुक्त होती थी तथा उनके ऊपर धारकों का पूर्ण स्वामित्व होता था। ऐसे भूमिदानों का उद्देश्य एकमात्र शैक्षणिक एवं धार्मिक था। यद्यपि आर. एस. शर्मा इन्हें सामंतवाद के उदय का एक महत्वपूर्ण कारण मानते हैं तथापि हमारे पास एक भी उदाहरण ऐसा नहीं है जिससे यह सिद्ध हो सके कि कोई दानग्राही ब्राह्मण जागीरदार अथवा सामंत बन गया हो। बी. एन. एस. यादव के अनुसार- 'ब्राह्मणों को दी गई भूमि, जो मुश्किल से एक गांव से अधिक रही होगी, राजनीतिक सामंतवाद का स्थायी आधार नहीं हो सकती थी, विशेषकर ऐसे समय में जबकि दानग्राही धार्मिक तथा बौद्धिक प्रयोजनों में संलग्न रहे हों। धार्मिक अनुदानों को सम्राट ग्रहीता के आचरण से अप्रसन्न होकर समाप्त कर सकता था तथा उन्हें दूसरे योग्य व्यक्ति को दे सकता था। गुप्त राजाओं ने भूमि के विकास की ओर विशेष ध्यान दिया था। भूमिकर संग्रह करने के लिए 'ध्रुवाधि करण' तथा भूमि-आलेखों को सुरक्षित करने के लिए 'महापक्षटलिक' और 'करणिक' नामक पदाधिकारी थे। 'न्यायाधिकरण' नामक पदाधिकारी भूमि-संबंधी विवादों का निपटारा करते थे। सिंचाई की उत्तम व्यवस्था थी। गुप्त शासकों ने कुएं, तालाब, नहरों आदि का निर्माण करवाया था। सम्राट स्कंदगुप्त के जूनागढ़ के राज्यपाल पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित ने गिरनार में सुदर्शन झील के बांध का पुनर्निर्माण करवाया था। जो लोग राजकीय भूमि पर कृषि करते थे उन्हें अपनी उपज का एक भाग राजा को कर के रूप में देना पड़ता था जो सामान्यत: उपज का छठा भाग होता था। गुप्त अभिलेखों में भूमिकर को 'उद्रंग' तथा 'भागकर' कहा गया है। स्मृति ग्रंथों में इसे राजा की 'वृत्ति' कहा गया है। नारद के अनुसार राजा प्रजा रक्षण के बदले में उपज का षष्ठांश राजस्व के रूप में प्राप्त करने का अधिकारी होता है। कालिदास लिखते हैं कि तपस्वियों के तप की रक्षा तथा संपत्ति की चोरों से रक्षा करने के बदले में राजा चारों आश्रमों तथा वर्णों से उनके धन के अनुसार छठवां भाग प्राप्त करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गुप्तकाल में राजस्व उपज का छठवां भाग ही लिया जाता था। भूमिकर नकद अथवा अन्न दोनों में दिया जा सकता था। राजस्व की दूसरा प्रमुख स्रोत चुंगी थी जो नगर में आने वाली वस्तुओं के ऊपर लगाई जाती थी। किसी-किसी स्थान पर 'भूतोपात्तप्रत्याय' नामक कर का उल्लेख मिलता है। अल्तेकर के अनुसार यह 'राज्य में उत्पन्न होने वाली वस्तुओं तथा

टिप्पणी

भीतर आयात की जाने वाली वस्तुओं पर लगाया जाने वाला कर था।' समकालीन लेखों में 'विष्टि' (बेगार) का भी उल्लेख मिलता है। संभवत: इस काल में यह भी एक प्रकार का कर था। किंतु गुप्त राजाओं के किसी भी लेख में इसका उल्लेख नहीं मिलता है। वात्सायन के कामसूत्र से पता चलता है कि गांवों में किसान स्त्रियों को मुखिया के घर के विविध प्रकार के काम, जैसे- अनाज रखना, घर की सफाई, खेतों पर काम करना आदि करने के लिए बाध्य किया जाता था और इसके बदले में उन्हें मजदूरी नहीं मिलती थी। कुछ विद्वान इस विवरण के आधार पर गुप्तकाल में विष्टि के व्यापक रूप से प्रचलित होने का निष्कर्ष निकालते हैं।

इसके अतिरिक्त व्यापारिक वस्तुओं, चारागाहों, वनों, नमक आदि पर भी कर लगते थे जिससे राज्य को प्रभूत आय होती थी। सीमा, बिक्री की वस्तुओं आदि पर जो कर लगते थे उसे 'शुल्क' कहा जाता था। स्कंदगुप्त के विहार लेख में 'शौल्किक' नामक पदाधिकारी का उल्लेख मिलता है। वह सीमा शुल्क विभाग का अधीक्षक होता था। संभवत: उसे व्यापारियों और सौदागरों के माल पर कर लगाने तथा उसे वसूल करने का अधिकार था। राज्य की आय का एक अन्य महत्वपूर्ण स्रोत भूमिरत्न, खानों की खुदाई तथा नमक का उत्पादन था। इन सभी के ऊपर राज्य का एकाधिकार होता था। अपराधियों के ऊपर जो जुर्माने लगाए जाते थे उनसे भी पर्याप्त धन राजकोष में जमा होता था। गुप्त युग की कर-व्यवस्था उदार सिद्धांतों पर आधारित थी। इस काल की रचना कामंदकीय नीतिसार में शासक को सलाह दी गई है कि 'जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों से जल ग्रहण करता है, उसी प्रकार प्रजा से राजा थोड़ा-थोड़ा धन ग्रहण करें।' राजा के आचरण की तुलना ग्वाले तथा माली से करते हुए कामंदक लिखते हैं कि जिस प्रकार ग्वाला पहले गाय का पोषण करता है तथा फिर उसका दूध दुहता है तथा जिस प्रकार माली पहले पौधों को सींचता है तथा फिर उनका चयन करता है, उसी प्रकार राजा को पहले प्रजा का पोषण करना चाहिए और फिर बाद में उससे ग्रहण करना चाहिए। अत: हम कह सकते हैं कि गुप्त सम्राटों ने इस आदर्श का अवश्यमेव पालन किया होगा।

इस प्रकार गुप्त प्रशासन के विभिन्न पहलुओं पर विचार करने के पश्चात यह स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त सम्राटों ने जिस विस्तृत प्रशासनिक व्यवस्था का निर्माण किया वह अत्यंत उदार एवं सुसंगठित थी। राज्य में पूर्ण शांति एवं व्यवस्था का वातावरण विद्यमान था। तभी तो फाहियान जैसे विदेशी को भी इस संबंध में किसी प्रकार की शिकायत का अवसर नहीं मिल सका था। गुप्तचरों एवं पुलिस अधिकारियों के आचरण से प्रजा को कोई कष्ट नहीं था। गुप्त नरेशों ने मौर्य शासन के अनेक कड़े नियमों को उदार एवं जनहितकारी बना दिया। गुप्त काल में ही प्रथम बार नगरों तथा ग्रामों में स्थानीय शासन का विकास किया गया और ग्राम सभाओं को वास्तविक अधिकार प्रदान किए गए। इस लोकोपकारी प्रशासन का परिणाम राज्य की समृद्धि के रूप में प्रकट हुआ। भौतिक समृद्धि के साथ-ही-साथ नैतिक उत्थान भी हुए। सम्राट स्कंदगुप्त के जूनागढ़ अभिलेख की अग्रलिखित पंक्तियां इस लोकोपकारी शासन-व्यवस्था का सही चित्र उपस्थित करती हैं-

तस्मिन्नृपे शासति नैवकश्चिद्धर्मादपेतो मनुज: प्रजासु।
आर्त्तो दरिद्रो व्यसनी कदर्यो दंड्यो न वा यो भृशपीडित: स्यात्।।

अर्थात 'जिस समय वह राजा शासन कर रहा था कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं था जो धर्मच्युत हो, दुखी हो, दरिद्र हो, व्यसनी हो, लोभी हो अथवा दंडनीय होने के कारण अधिक सताया गया हो।'

गुप्त युग की शांति एवं समृद्धि ने संस्कृति के सभी क्षेत्रों को समुचित विकास का अवसर प्रदान किया। अत: 'हम गुप्त शासन-व्यवस्था पर गर्व कर सकते हैं जो समकालीन एवं परवर्ती युग के राज्यों के लिए आदर्श स्वरूप बनी रही।'

टिप्पणी

2.2.2 गुप्त साम्राज्य की सहायक प्रणाली

मौर्य सत्ता के उपरांत लगभग छह शताब्दियों बाद गुप्त राजवंश के शासनकाल में संपूर्ण उत्तर भारत पुन: एक ही राजवंश के नियंत्रण में आ गया। चंद्रगुप्त प्रथम (320 से 335 ई.) ने इस राज्य का विस्तार करने हेतु वैवाहिक संबंधों का आधार लिया था। उसने लिच्छवि कन्या कुमारदेवी से विवाह किया। लिच्छवि उस समय का एक शक्तिशाली गणतंत्र था। परिणामस्वरूप गुप्त राजवंश की शक्ति में वृद्धि हो गई। चंद्रगुप्त प्रथम के शासनकाल में गुप्त राज्य की सीमाएं प्रयाग से साकेत तक विस्तारित हो चुकी थीं। तत्पश्चात उसके पुत्र समुद्रगुप्त (335-375 ई.) ने शासन की बागडोर संभाली। उसे अपने मातृकुल का गर्व था इसलिए अपने सिक्कों पर उसने स्वयं को 'लिच्छविदौहित्र' कहा है। समुद्रगुप्त एक अजेय योद्धा था। उसने लगभग समूचे उपमहाद्वीप में अपना दिग्विजयी अभियान चलाया तथा अनेक युद्धों में राजाओं एवं संघों को परास्त किया। अजितराजजेतजित: अर्थात अजेय विजेता के रूप में समुद्रगुप्त को सर्वश्रेष्ठ शासक माना जाता है। परंतु गंगा घाटी के मुख्य क्षेत्र को छोड़कर दक्खन तथा सुदूर दक्षिण भारत के पराजित शासक सिर्फ उसके अधीनस्थ के रूप में कायम थे।

गुप्तों के प्रशासनिक ढांचों की विशेषता यही रही है कि उन्होंने परास्त किए शासकों को अभय प्रदान कर उन्हें पुन: स्थापित कर दिया परंतु अब वे गुप्तों के अधीन सामंत राजा के रूप में कार्य कर रहे थे। समुद्रगुप्त की ग्रहणप्रतिमोक्षानूग्रह (ग्रहण-पराजित करना) तथा मोक्ष व अनुग्रह (उन्हें पुन: राज्य बहाल करना) नीति इन्हीं तत्वों पर आधारित थी। ऐसा प्रतीत होता है कि पश्चिम भारत में एक समय इन अभियानों के दौरान अविजित रह गए पंजाब एवं राजस्थान के गणतंत्रों को समुद्रगुप्त ने बुरी तरह कुचल दिया किंतु ये कबीले भी उसके प्रत्यक्ष नियंत्रण में नहीं थे। उत्तर पश्चिम में कुषाणों के उत्तराधिकारी किदार कुषाणों का राज्य था पर वे अब क्षीण हो चुके थे। एक चीनी स्रोत से पता लगता है कि सिंहल राजा मेघवर्ण (352-379 ई.) ने सम्राट को उपहार भेज कर एक बौद्ध मठ निर्माण करने की अनुमति मांगी थी। समुद्रगुप्त के अधीन कई शासक उसे इसी प्रकार उपहार भेजते थे। किंतु लंका का राजा उसके अधीन था या नहीं इसमें संदेह है। उसने अश्वमेध यज्ञ का आयोजन करके इन समस्त विजयों को आधिकारिक किया। समुद्रगुप्त की कई स्वर्णमुद्राओं से उसके व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों का अंदाजा लगाया जा सकता है।

अपने पिता से प्राप्त साम्राज्य को चंद्रगुप्त द्वितीय (375 से 415 ई.) ने और अधिक विस्तारित किया एवं उसे दृढ़ता प्रदान की। उससे पूर्व रामगुप्त सत्ता में आया किंतु वह शकों से पराजित हो गया और वह अपनी पत्नी ध्रुवदेवी को शकराज को समर्पित करने के लिए तैयार हो गया। इसका चंद्रगुप्त ने विरोध किया तथा उसने पहले शकराज को तथा बाद में रामगुप्त को समाप्त कर ध्रुवदेवी से विवाह कर लिया। चंद्रगुप्त द्वितीय ने भी साम्राज्य दृढ़ीकरण के लिए वैवाहिक संबंधों का आधार लिया। उसने उस समय के शक्तिशाली नागवंश की कन्या कुबेरनागा से विवाह किया तथा बाद में अपनी पुत्री

टिप्पणी

प्रभावतीगुप्त का विवाह दक्खन के प्रभावशाली राजवंश वाकाटक नरेश रुद्रसेन द्वितीय से संपन्न किया। रुद्रसेन द्वितीय की मृत्यु के उपरांत प्रभावतीगुप्त ने अपने पिता की सहायता से 390 से 410 ई. तक शासन किया। इसी दौरान चंद्रगुप्त द्वितीय ने पश्चिम भारत के शकों से एक निर्णायक संघर्ष किया। लगभग 388 से 409 ई. तक के समय में उसने गुजरात से शकसत्ता का समूल उन्मूल कर 'शकारि' की उपाधि धारण की। वैसे चंदग्रुप्त द्वितीय ने विक्रमादित्य (अर्थात पराक्रम का सूर्य) का प्रसिद्ध विरुद भी धारण किया था। चंद्रगुप्त द्वितीय के समय ही प्रसिद्ध चीनी बौद्ध यात्री फाहियान ने 405 से 410 ई. तक भारत का भ्रमण किया था। उसके यात्रवृत्तांत से उस समय की देश की दशा का अच्छा विवरण मिलता है।

चंद्रगुप्त द्वितीय के पश्चात उसका उत्तराधिकारी पुत्र कुमारगुप्त (415 से 454 ई.) के शासनकाल के मध्य एक घुमंतू जाति ने अपने आपको संगठित कर बैक्ट्रीया पर अधिकार जमा लिया। वहां से वे भारत के लिए निश्चित रूप से एक खतरा बन चुके थे परंतु कुमारगुप्त का शासनकाल शांतिपूर्वक बना रहा तथा उसने अपने पैतृक राज्य को संभालकर सफलतापूर्वक शासन किया। हूणों के आक्रमणों का प्रथम ज्वार स्कंदगुप्त के शासनकाल में आया। स्कंदगुप्त (454 से 467 ई.) ने अपने समस्त सामंतों को एक कर सेना को संगठित किया तथा अत्यंत वीरतापूर्वक उसने न केवल हूणों का सामना किया अपितु उन्हें भारतीय सीमा से बाहर भी खदेड़ दिया। ज्ञात रहे कि ये वही हूण थे जिन्होंने पश्चिम में रोमन साम्राज्य का ध्वंस कर समूचे यूरोप को बर्बाद कर दिया था।

स्कंदगुप्त ने सफलतापूर्वक तथा पूर्ण शक्ति से हूण आक्रमण की विपत्ति का सामना किया परंतु इस अभियान में गुप्त सत्ता की आर्थिक स्थिति चरमरा गई। इस बात का संकेत हमें स्कंदगुप्त की चांदी की मुद्राओं से मिलता है जिसमें भारी मिलावट पाई गई है। गुप्त प्रशासन के अधीन कई सामंत थे जिनकी स्वतंत्र राज्य स्थापित करने की महत्वाकांक्षाएं परवर्ती गुप्त शासकों के समय प्रबल हो उठीं। स्कंदगुप्त के बाद परवर्ती गुप्त शासकों के नाम उनकी मुद्राओं पर मिलते हैं किंतु उनके आधिकारिक शासनक्रम की जानकारी इससे प्राप्त नहीं होती। पुरुगुप्त, बुधगुप्त एवं नरसिंह कालादित्य जैसे शासकों ने बड़े विरुद अवश्य धारण किए किंतु अब उनकी स्थिति पहले की तरह नहीं रही। प्रबल सामंतों की बढ़ती राज्य लालसा ने गुप्त सत्ता को और शीघ्रता से ह्रासोन्मुख कर दिया। 550 ई. तक गुप्त राजवंश का अस्त हो चुका था। गुप्त वंश के पतन के लिए हम केवल हूण आक्रमण को ही उत्तरदायी नहीं ठहरा सकते। किसी भी विशाल साम्राज्य के पतन के लिए अनेक कारण जिम्मेदार होते हैं। हूण आक्रमणों के अलावा गुप्त साम्राज्य के पतन के लिए उसका प्रशासनिक संगठन अधिक जिम्मेदार था।

साम्राज्य का स्वरूप

मौर्यों की तुलना में गुप्त साम्राज्य के नियंत्रण में उपमहाद्वीप का भाग अपेक्षाकृत काफी कम था। विशाल एवं विस्तृत साम्राज्य पर मौर्य प्रशासन का नियंत्रण कहीं अधिक प्रभावशाली था, जो कि सम्राट के सीधे एवं प्रत्यक्ष नियंत्रण का परिणाम था। गुप्त काल तक भारतीय राज्यव्यवस्था एवं नीति में काफी परिवर्तन देखने को मिलते हैं। गुप्तों का प्रशासकीय संगठन इसी परिवर्तित नीति का परिणाम था। मौर्यों के विपरीत गुप्त शासकों ने शब्दाडंबरयुक्त एवं शुद्ध संस्कृत की अनेक उपाधियां एवं विरुद धारण किए, जैसे- परमेश्वर परमाद्वैत (दैवत्व का अंश), परमभट्टारक, चक्रवर्ती तथा महाराजाधिराज

टिप्पणी

(जिसके अंतर्गत अनेक छोटे अंकित राजा थे)। इसके अलावा समुद्रगुप्त ने 'सर्वराजोच्छेत्ता' (सर्व राजाओं का उच्छेद करने वाला), अप्रतिवार्यवीर्यः (स्वतंत्र राजाओं पर विजय अर्जित करने वाला) तथा चंद्रगुप्त द्वितीय ने 'शकारी' एवं 'विक्रमादित्य'। इस काल की यह विशेषता रही कि साम्राज्य के अंतर्गत आनेवाले अनेक छोटे अधीनस्थ राज्यों के राजा एवं सामंत भी इसी तरह के विरुद धारण करते थे। इससे साफ जाहिर होता है कि गुप्त प्रशासन का स्वरूप पूर्ववर्ती मौर्य प्रशासन से अत्यधिक भिन्न था। यह एक ऐसी साम्राज्यीय व्यवस्था थी जिसके अंतर्गत बहुत से छोटे-छोटे राज्यों का भी अस्तित्व था साथ ही उन स्थानीय शासकों को हाथों में काफी सत्ता भी थी जिससे गुप्त शासन के प्रशासनिक विकेंद्रीकरण का आभास मिलता है।

गुप्त साम्राज्य के सुदृढ़ीकरण का प्रारंभ श्रीगुप्त एवं घटोत्कचगुप्त के बाद आए चंद्रगुप्त प्रथम के शासनकाल से हुआ जिसने 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की। समुद्रगुप्त का काल गुप्त साम्राज्य के विस्तार एवं दृढ़ीकरण के साथ ही प्रशासनिक ढांचे के निर्माण का काल भी था। चंद्रगुप्त द्वितीय एवं उसके बाद के कुमारगुप्त तथा स्कंदगुप्त जैसे महत्वपूर्ण शासकों के काल के दौरान साम्राज्य का स्वरूप कुछ परिवर्तनों के अलावा लगभग एक ही जैसा प्रतीत होता है।

गुप्त साम्राज्य का स्वरूप मुख्यतः दो भागों में विभाजित दिखाई देता है जिसमें एक तो वह क्षेत्र था जो सम्राटों के प्रत्यक्ष नियंत्रण में होता था। यह आर्यावर्त (गंगा घाटी) का एवं गुप्त साम्राज्य का केंद्रीय भाग था। दूसरे में साम्राज्य के ऐसे क्षेत्र थे जो केंद्रीय भाग से दूर थे तथा जिनमें प्रत्यक्ष नियंत्रण रखना एक दुष्कर कार्य था। ऐसे क्षेत्रों में स्वायत्तशासी सामंत ही प्रधान होते थे जो समय-समय पर सम्राटों को अपनी सेवाएं प्रदान करते रहते। स्पष्ट है कि इन सहायक या श्रद्धा जतानेवाले राज्यों पर केंद्रीय सत्ता का प्रभाव क्षीण रहा होगा। किंतु इस स्थिति में भी सम्राट निश्चित रूप से उन सामंतों की निष्ठा को साम्राज्य के प्रति सुरक्षित करने के प्रयास में रहते थे।

स्पष्ट है कि यही सामंत गुप्त साम्राज्य की शक्ति को संवर्द्धित कर रहे थे, वे अपनी आर्थिक तथा सैनिकी निष्ठाएं समय-समय पर केंद्रीय सत्ता के सम्मुख प्रस्तुत करते रहते। अर्थशास्त्र में मौर्यों की सैन्य व्यवस्था के बारे में अत्यंत सूचीबद्ध जानकारी देखने को मिलती है, ग्रीक-रोमन के इतिहासकारों ने भी मौर्य सम्राटों की प्रचंड सैन्य शक्ति के बारे में स्पष्ट विवरण दिए हैं किंतु फाहियान के यात्रा वृत्तांत में गुप्तों की सैन्य शक्ति का कोई उल्लेख ही नहीं प्राप्त होता। प्रयाग प्रशस्ति में हरिषेण ने समुद्रगुप्त के विजयी अभियानों का अवश्य वर्णन किया किंतु सैन्य व्यवस्था के बारे में कहीं कोई वर्णन देखने को नहीं मिलता। संभवतः समुद्रगुप्त के विजयी अभियानों की सैन्य शक्ति इन्हीं सामंत अथवा मातहत राजाओं द्वारा उपलब्ध कराई गई होगी। इस प्रशासनिक विकेंद्रीकरण पर और अधिक विस्तारपूर्वक जानकारी के लिए हमें समुद्रगुप्त के सैनिक अभियान एवं उससे संबंधित नीतियों पर विचार करना होगा।

प्रयाग प्रशस्ति समुद्रगुप्त की छवि एक दिग्विजयी शासक के रूप में प्रस्तुत करती है। राजकवि हरिषेण द्वारा किए इस मूल्यांकन के आधार पर कई आधुनिक इतिहासकारों ने समुद्रगुप्त को एक श्रेष्ठ विजेता माना है। व्हिनसेंट स्मिथ ने तो समुद्रगुप्त को 'भारतीय नेपोलियन' की संज्ञा दी है यद्यपि नेपोलियन की भांति समुद्रगुप्त की पराजय का कोई उल्लेख नहीं मिलता। प्रयाग प्रशस्ति में प्रत्येक राजाओं के एक के बाद एक नामों के

उल्लेख मिलते हैं, जिन्हें सम्राट ने परास्त किया था। समुद्रगुप्त के सैनिक अभियान को हम अलग-अलग कोटि में रख सकते हैं-

टिप्पणी

1. **आर्यावर्त का प्रथम युद्ध :** गंगा उपत्यका में घटित हुए आरंभिक संघर्ष में उसने अहिच्छत्र नरेश अच्युत, मथुरा के गणपतिनाग तथा पद्मावती के नागसेन नामक शासकों को परास्त किया।

2. **दक्षिण अभियान :** यह एक अत्यंत महत्वपूर्ण अभियान रहा। इसमें दक्षिण भारत के लगभग 12 शासकों को समुद्रगुप्त के हाथों पराजित होना पड़ा। समुद्रगुप्त के सभी अभियानों में यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि उसकी अपनाई नीति से गुप्त साम्राज्य में अधीनस्थ राज्य बहुत अधिक संख्या में जोड़े गए। प्रत्येक पराजित राजा को पहले ग्रहण (पराजित करना) और बाद में मोक्ष एवं अनुग्रह (उसे स्वतंत्र कर अपने अधीन करना) की नीति के तहत उसे अपने साम्राज्य से जोड़ लेना यही नीति 'ग्रहणमोक्षानुग्रह' के नाम से प्रसिद्ध है। इनकी सूची इस प्रकार है–
   - कौशल नरेश महेन्द्र (आधुनिक रायपुर एवं विलासपुर, म.प्र.)
   - महाकांतार का व्याघ्रराज (ओडिशा का महावन क्षेत्र)
   - पिस्टपूर (आंध्र प्रदेश) नरेश महेंद्र गिरि
   - कोट्टूर (ओडिशा)
   - कौशल नरेश अष्टराज
   - एरण्डपल्ली का शासक राजा दमन (आंध्र प्रदेश का विशाखापत्तनम क्षेत्र)
   - कांची का राजा विष्णुगोप (पल्लववंशी शासक- चेन्नई के समीप कांच्चीवरम)
   - अवमुक्त का नीलराज
   - वेंगी नरेश हस्तिवर्मा (पूर्व आंध्र प्रदेश)
   - पालवक नरेश उग्रसेन (नेल्लोर क्षेत्र तमिलनाडु)
   - देवराष्ट्र का राजा कुबेर (आंध्र प्रदेश)
   - कुरुथलपुर का राजा धनंजय

   ये सभी राज्य भारत के दक्षिण एवं पूर्व में स्थित थे। इन्हें परास्त करने के पश्चात उन्हें गुप्त साम्राज्य से राजनष्ठिा की शपथ दिलाई गई और उन्हें अधीनस्थ शासक के रूप में साम्राज्य से जोड़ लिया गया। समुद्रगुप्त का यह अभियान भारतीय उपमहाद्वीप के दक्षिण-पूर्व से होता हुआ दक्षिण में कांचीवरम तक संचालित हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि पश्चिमी दक्खन के वाकाटक एवं गुजरात के शक संभवत: इससे बचे रह गए किंतु फिर भी इस दिग्विजयी अभियान ने उस समय के भारत में गुप्त राजवंश को एक सर्वोच्च शक्ति के रूप में प्रतिष्ठापित किया। इन सारे विजित राज्यों को पुन: स्वतंत्र करने की नीति में सम्राट की दूरदर्शिता स्पष्ट होती है, क्योंकि ये राज्य उसकी राजधानी से दूर थे। उस समय उनसे संपर्क रखने से अच्छा था कि उन्हें अपने अधीन बनाएं और यही सम्राट ने किया।

3. **आर्यावर्त का द्वितीय संघर्ष :** दक्षिण दिग्विजय के दौरान उत्तर भारत के पराजित राज्यों ने समुद्रगुप्त के विरुद्ध नौ राज्यों का एक संघ बनाकर उसे पुन: ललकारा। ये सभी राज्य सम्राट की अनुपस्थिति में पुन: स्वतंत्र हो गए थे इसलिए समुद्रगुप्त

टिप्पणी

ने इन समस्त राज्यों के शासकों का समूल उन्मूलन कर उनके क्षेत्रों को गुप्त साम्राज्य के प्रत्यक्ष नियंत्रण में ले लिया।

4. **आटविक राज्य :** ये मध्य भारत एवं दक्खन के 18 ऐसे राज्य थे जो वनांचल में बसे हुए थे। इन राज्यों पर आक्रमण के दो प्रधान उद्देश्य थे- पहला यह कि इनके कबीले एवं सरदारों द्वारा भिन्न नगरों पर धावे बोलकर उनसे लूटपाट की जाती थी, जिससे ये राज्य उपद्रवी सिद्ध हो रहे थे। दूसरा यह कि उत्तर और दक्षिण भारत के मध्य से गुजरने वाले व्यापारी मार्गों को सुरक्षित करना आवश्यक था। इसी के चलते ये कबीले सम्राट के कोप का भाजन बने। इन्हें पूर्णतः नष्ट न करते हुए कर देने को विवश किया गया तथा इन 18 राज्यों का अधिकार एक राजा को दे दिया गया। रोमिला थापर का मत है कि इन विजयों से गंगा के भीतरी क्षेत्रों तक के आवागमन अबाध रूप से होने लगे।

5. **प्रत्यंत राज्य :** ये सीमावर्ती राज्य थे। समुद्रगुप्त का राज्य उस समय पूर्व में ब्रह्मपुत्र नदी से पश्चिम में चंबल नदी तक विस्तारित था। इसकी सीमा से सटे राज्यों को प्रत्यंत राज्य कहा गया। इनमें उत्तर में नेपाल, कुमायूं तथा गढ़वाल के पर्वतीय राज्य, पूर्व में समत्तट (बंगाल) एवं कामरूप (असम) तथा प्रत्यंत राज्यों को दूसरे प्रकार में उस समय के नौ गणराज्य आते हैं जो पंजाब से लेकर राजस्थान तक के क्षेत्र में बसे हुए थे। वस्तुतः गणतंत्रों का इतिहास ईसा पूर्व की छठी शताब्दी तक जाता है। समुद्रगुप्त स्वयं लिच्छविदौहित्र कहलाता था जो कि एक गणतंत्र था फिर भी उसने इन गणतंत्रों पर हमला कर उन्हें अपने अधीन बना लिया। लगभग 1000 वर्षों तक अपना अस्तित्व रखने वाले इन गणतंत्रों की संपूर्ण शक्ति नष्ट हो गई जिसका दुष्परिणाम परवर्ती गुप्त शासकों को हूण आक्रमण के समय झेलना पड़ा। इन गणराज्यों में यौद्धेय, मालव, आमीर और आर्जुनायन जैसे शक्तिशाली गणतंत्र भी थे। इन सभी प्रत्यंत राज्यों ने गुप्तों की अधीनता स्वीकार कर ली। इसके बाद कोई भी गणराज्य भारतीय इतिहास में उभरकर सामने नहीं आया।

6. **विदेशी राज्य :** इन राज्यों के अतिरिक्त समुद्रगुप्त को कुछ अन्य शासकों ने भी कर देना स्वीकार किया जिनमें गुजरात के शक, देवपुत्र शाहानुशाही कुषाण जो उस समय किदार कुषाण कहलाते थे तथा मुरुंड जो संभवतः कुषाणों की ही एक जाति थी, शामिल थे। दक्षिण में सिंहल राजा मेघवर्ण ने भी समुद्रगुप्त को उपहार भेजे थे।

इन समस्त विजयों को आधिकारिक करने हेतु समुद्रगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ का आयोजन किया तथा अपनी स्वर्णमुद्राओं पर भी उसे अंकित करवाया। समस्त उपमहाद्वीप के छोटे-बड़े राज्यों ने गुप्तों की अधीनता स्वीकार कर ली थी। जिस क्षेत्र को समुद्रगुप्त सीधे अपने नियंत्रण में न ला सका उससे भी गुप्त राज्य को कर मिलने लगा था। साम्राज्य के प्रशासन की यही स्थिति गुप्त साम्राज्य को मौर्यों से अलग करती है। गुप्त साम्राज्य का ढांचा सामंती था जबकि मौर्य प्रशासन में केंद्रीय प्रशासन का सीधा नियंत्रण प्रस्थापित होता था।

गुप्तकालीन प्रशासन व्यवस्था

अभिलेखों से गुप्तों के प्रत्यक्ष नियंत्रण में रहे क्षेत्रों के प्रशासन की जानकारी प्राप्त होती है। गुप्त साम्राज्य प्रांत, जिला, नगर, ग्राम इत्यादि छोटी-छोटी इकाइयों में विभाजित था।

टिप्पणी

प्रांत को देश या भुक्ती की संज्ञा दी जाती थी। ये सबसे बड़ी इकाई थी। प्रांतों को जिले या विषय में बांटा जाता था। विषयपति उसका प्रमुख था। उसके साथ शौल्किक, गौल्मिक, पुस्तापाल एवं लेखक जैसे कनिष्ठ पदाधिकारी होते थे। इनके बाद क्रमशः विथि, पथ, पेठक और अंत में ग्राम इकाई होती थी। इसके साथ ही केंद्रीय प्रशासन में राज्यपाल या गोफता, उपरिक, राजस्थानीय जैसे अधिकारी महत्वपूर्ण थे। इसमें कुमारमात्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण थे। रोमिला थापर का मत है कि ये कुमारमात्य स्थानीय प्रशासन तथा केंद्रीय प्रशासन के बीच एक सीधी कड़ी का कार्य करते थे। बलाधिकरणीक (सेनापति), दंडपाशिक (पुलिस का मुखिया), महादंडनायक (मुख्य न्यायधीश), चौरोद्धरणिक (गुप्तचर विभाग अध्यक्ष), महाअक्षपटलिक (अर्थ मंत्री), प्रजा को नैतिकता की सीख देने वाला एवं राज्य में शांति व व्यवस्था की देखभाल करने वाला विनयस्थितिस्थापक, महाप्रतिहार-राजमहल प्रधान, महापिलुपति (गजदल प्रमुख), महाअश्वपति (अश्वसेना प्रमुख), महासंधिविगाहक (युद्ध विभाग), अनेक मंत्री एवं सचिव थे जो केंद्रीय प्रदेश की प्रशासन व्यवस्था के अंग थे।

इस प्रकार की प्रशासन व्यवस्था के अध्ययन से ऐसा लगता है कि गुप्त प्रशासन कदाचित अत्यधिक केंद्रीकृत था पर ऐसा नहीं है। गुप्तों के अनेक ताम्रशासन अभिलेखों तथा मुद्राओं के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने अपने अधिकारों का विकेंद्रीकरण किया था। उन्होंने एक लचीली नीति का अनुकरण करते हुए अपने अधीन सामंतों को स्थानीय प्रशासन में बहुत हद तक स्वायत्तता प्रदान की थी। वे अपने राज्य में औपचारिक रूप से कोई भी निर्णय लेने में स्वतंत्र थे।

प्रशासनिक पदों पर एक व्यक्ति को एक ही समय पर एक से अधिक पदों पर नियुक्त किया जाता था, जैसे- हरिषेण को कई विभागों का जिम्मा सौंपा गया था। साथ ही प्रशासनिक पद भी वंशानुगत होते जा रहे थे जिससे प्रशासन पर नियंत्रण रख पाना कठिन हो रहा था। उदाहरणस्वरूप चंद्रगुप्त द्वितीय के समय के कुछ मंत्रियों के वंशज कुमारगुप्त प्रथम के समय भी वंशानुगत रूप में पदों पर आसीन मिलते हैं। इससे राज नियंत्रण शिथिल होने का खतरा था और बाद में वैसा हुआ भी।

अधीनस्थ शासक एवं उनकी राज्य व्यवस्था

केंद्रीय प्रशासन की ही तर्ज पर गुप्तों के अधीन छोटे राजा तथा सामंतों ने भी शब्दाडंबर युक्त विरुद धारण किए। एक ताम्रपत्र में 'सामंतराजा हस्तिन्' के अपने महासंधिविग्राहक और महाबलाधिकृत थे। एक अन्य उदाहरण में महाराज सर्वनाथ के अधिकारियों ने भी ऐसे पदनाम लिए थे जबकि ये दोनों केवल एक छोटे से सामंत राजा ही थे। केवल पदनाम ही नहीं अपितु इन प्रशासनिक पदों को भी इन सामंतों ने अपने सम्राटों की भांति ही वंशानुगत किया। महाराज हस्तिन ने अपने महासंधिविग्राहक विभुत्तीदत्त को पांच पीढ़ियों के लिए उस पद पर नियुक्त किया था। इन अधीन राजाओं ने अपने स्वामी की भांति महाराजाधिराज जैसे व्यापक और शक्तिशाली विरुद धारण किए परंतु न वे और न ही उनके पदाधिकारी उतने बड़े होते थे। ताम्रशासनों से हमें ज्ञात होता है कि असल में ये अत्यंत सीमित क्षेत्र के छोटे राजा ही हुआ करते थे किंतु उन्हें उस क्षेत्र में संपूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी और इसमें गुप्त सम्राटों को कोई विशेष आपत्ति नहीं थी क्योंकि केंद्रीय क्षेत्र को छोड़कर शेष साम्राज्य में यही व्यवस्था बनी हुई थी।

टिप्पणी

मूलत: सामंत शब्द का प्रयोग हमें सर्वप्रथम मौर्यकाल में मिलता है। इसका शाब्दिक अर्थ पड़ोसी या पड़ोसी राजा था। यह शब्द गुप्त समय तक मातहत राजाओं के लिए प्रयुक्त होने वाला एक सामान्य शब्द बन गया। कवि कालिदास की कृति रघुवंश के दो छंदों में सामंत को अपनी सेना के साथ अपने स्वामी के सैनिक अभियान में साथ बताया गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पांचवीं शती तक आते-आते यह शब्द ताबेदार या जागीरदार (Vassal) के अर्थ में प्रयोग होने लगा था। गुप्त काल से यह पद्धति प्रचलित हो चुकी थी। इसमें हमें निश्चित रूप से आनेवाली शताब्दियों के पूर्णरूपेण सामंतवाद (Feudalism) के बीज दिखाई देते हैं। अंग्रेजी में इस पद्धति के लिए ट्रिब्यूटरी (Tributary) शब्द का प्रयोग भी किया जाता है जिसका अर्थ है कि पड़ोस के राज्यों को विजित कर उसे अपने अधीन करना तथा उस शासक को कर और अन्य सैन्य सेवाएं देने के लिए विवश कर देना। कुछ इतिहासकारों के मंतव्य हैं कि यह पद्धति मूल रूप से चीन से आई प्रतीत होती है। गुप्त काल के अन्य समकालीन राजवंशों में भी इसी पद्धति के अंश प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए कुषाण सम्राटों ने भी 'देवपुत्र' तथा 'शाहानुशाही' जैसे विरुद धारण किए। देवपुत्र निश्चित रूप से सम्राट का संबंध दैवत्व की धारणा से संबद्ध करता था किंतु शाहानुशाही जैसे विरुद वैसे ही थे जैसे महाराजाधिराज।

ज्ञात रहे कि कुषाणों का संबंध चीन से था। उनके अधीन शक राजाओं के विरुद क्षत्रप एवं महाक्षत्रप भी ऐसी ही व्यवस्था के उदाहरण हैं। समुद्रगुप्त ने इसी पद्धति को अपनाया तथा अनेक स्थानीय राजाओं को अपने अधीन कर न केवल अपने साम्राज्य को विस्तृत किया अपितु उसे दीर्घकाल तक कायम भी रखा।

वैन्यगुप्त (507 ई.) द्वारा जारी किए ताम्रपत्र में पहली बार एक स्थानीय शासक के लिए महासामंत शब्द का प्रयोग हुआ। इसी प्रकार बारबर के गुहालेख में मौखरी शासक अनंतवर्मन ने अपने पिता सार्दूलवर्मन के लिए 'सामंतचूड़ामणि' शब्द प्रयोग किया। सार्दूलवर्मन का समय 500 ई. से माना जाता है जबकि मौखरी गुप्त राजवंश के सामंत हुआ करते थे। इसी प्रकार छठी शती ईसवी के वल्लभी के मैत्रकों के कुछ लेखों में उन्होंने स्वयं को 'महासामंत' एवं 'सामंत महाराज' के रूप में उल्लिखित किया है। रामशरण शर्मा का स्पष्ट मत है कि गुप्त शासक एवं उनके अधीनस्थ सामंतों के लिए 'परमभट्टारक पादानुध्यात' अर्थात अपनी निष्ठा को परमभट्टारक गुप्त सम्राटों के लिए समर्पित करने के लिए यह शब्द प्रयोग किया गया था। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि सामंत की हैसियत अब गुप्तों के अधीनस्थ या मातहत राजाओं की होती थी।

इन सामंतों के अलावा दिए जाने वाले भूमिदानों से साम्राज्य में अधिकारों के विकेंद्रीकरण को बढ़ावा मिला, साथ ही इस पद्धति से प्रजा एवं सम्राट के बीच के मध्यस्थों की संख्या में भी वृद्धि हुई। पांचवीं शताब्दी के बाद से मध्य भारत में दिए गए अनेक भूमिदानों के उल्लेख गुप्तों द्वारा जारी किए ताम्रशासनों से प्राप्त होते हैं। सामंतों के अलावा ये दान प्रमुख रूप से धार्मिक कार्य संपन्न करने वाले ब्राह्मण वर्ग को दिए जाते थे, जिन्हें अग्रहार और ब्रह्मदेय कहा जाता है। अग्रहार दान ब्राह्मणों को सामूहिक रूप से दिया गया ग्राम दान था जो कर मुक्त होता था। इस प्रकार की भूमि पर दाता अर्थात सम्राट का पूर्ण अधिकार होता ही था साथ अब ग्रहिता को भी इससे राजस्व की प्राप्ति का अधिकार मिल जाता था। दान दी गई भूमि पर जोत रहे किसानों को अब उनके नए स्वामियों को भी कर देने पड़ते थे। ग्रहिता को इस भूमि के सर्वाधिकार प्राप्त नहीं थे क्योंकि वह वर्तमान किसानों को उनकी जमीन से बेदखल भी नहीं कर सकता था तथा साथ ही ग्रहिता को

टिप्पणी

अधिक से अधिक 1/3 उपज लेने का ही अधिकार होता था। पांचवीं शती के एक ब्रह्मदेय के अधिकार में प्रशासकीय तथा राजकीय एवं आर्थिक अधिकारों को भी दिए जाने का उल्लेख मिलता है। गैर धार्मिक अधिकारी या सामंतों को उनकी सेवाओं से प्रसन्न होकर भी उपहारस्वरूप भूमिदान दिए गए जिससे आने वाले काल में सामंती समाज के उदय का मार्ग प्रशस्त हुआ। इन दानों से कृषिदासता को बढ़ावा मिला क्योंकि ये किसान अपनी जमीन से बंधे ही रहते थे तथा उन्हें अपनी सेवाएं और कर ग्रहिता को देना होता था।

यद्यपि ये अधिकार वंशानुगत नहीं होते थे और सम्राट अगर चाहे तो वह ग्रहिता से सारी भूमि को जब्त भी कर सकता था, तथापि इस प्रकार के धार्मिक एवं धर्मेत्तर दानों से भूस्वामियों के एक वर्ग का उदय हुआ जो शनैः शनैः शक्तिशाली होता चला गया जिससे केंद्रीय नियंत्रण कमजोर पड़ता गया। राजा भले ही अपने अधिकारों का उपयोग कर इन अनुदानों को समाप्त कर सकता था किंतु ऐसा करने से भूस्वामियों में रोष उत्पन्न होकर विद्रोह जैसी स्थिति पैदा हो सकती थी। अनेक भूस्वामी एकत्रित होकर सम्राट के विरुद्ध खड़े हो सकते थे। केंद्रीय क्षेत्र में या उसके निकटस्थ प्रदेश में ऐसे विरोध को कुचलना आसान था किंतु जो क्षेत्र दूर थे उनको नियंत्रित करना धीरे-धीरे मुश्किल होता जा रहा था।

रोमिला थापर के अनुसार– "यद्यपि आरंभ में ऐसे दान सीमित पैमाने पर दिए जाते थे। उनकी संख्या तथा विस्तार में अधिकता बाद में आई। इस प्रकार के दान दानभोगियों और केंद्रीय सत्ता के बीच की दूरी पैदा करते थे और प्रशासन को विकेंद्रीकरण की दिशा में ले जाते थे। बहुत बड़े-बड़े क्षेत्रों के राजस्व भोक्ता आपस में मिलकर इसकी शक्ति संसाधन संचित कर ले सकते थे कि वे शासक वंश की सत्ता को चुनौती दे सकें। इसके अतिरिक्त वे अपने जैसे और लोगों तथा वनवासियों के सरदार वगैरह दूसरे लोगों का समर्थन प्राप्त कर लेते या किसानों को अपनी ओर से लड़ने को मजबूर कर देते तो वे तत्कालीन सत्ता को उखाड़कर खुद को राजाओं के रूप में प्रतिष्ठित कर सकते थे। कम से कम राज्य के सीमांत क्षेत्रों में यह बहुत संभव था।"

स्कंदगुप्त के शासनकाल के दौरान हूणों के आक्रमण काल में उसके समक्ष घरेलू सामंतों ने ऐसी ही विद्रोह की स्थिति बना दी थी। गुप्तों द्वारा विजित क्षेत्रों के विस्तृत भूभाग पर ऐसे ही अधीन सामंतों का शासन कायम रहा था। मध्य भारत के परिव्राजक वंश, उच्छकल्प वंश साथ ही बंगाल में चंद्र, सौराष्ट्र (गुजरात) में वल्लभी के मैत्रक, कान्यकुब्ज, कन्नौज में मौखरी वंश तथा थानेश्वर के पुष्यभूती जिन्हें वर्धन वंश के नाम से जाना जाता है– ये अपने क्षेत्रों पर स्वतंत्र शासक की हैसियत से ही शासन चला रहे थे। गुप्तों के पतनोन्मुख काल में अवसर मिलते ही उन्होंने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी। इस तरह जो व्यवस्था गुप्त साम्राज्य के उत्कर्ष एवं विस्तार में सहायक साबित हुई, वही उसके पतन के लिए भी उत्तरदायी थी।

2.2.3 गुप्त साम्राज्य के सामाजिक-आर्थिक सुधार

गुप्तकालीन समाज में वर्ण-व्यवस्था पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित थी। भारतीय समाज के परंपरागत चार वर्णों-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र-के अतिरिक्त कुछ अन्य जातियां भी अस्तित्व में आ चुकी थीं। चारों वर्णों की सामाजिक स्थिति में विभेद किया जाता था। वाराहमिहिर के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्व तथा शूद्र के घर क्रमशः पांच, चार, तीन तथा दो कमरों वाले होने चाहिए। न्याय-व्यवस्था में भी विभिन्न वर्णों की स्थिति के अनुसार भेद-भाव

बरते जाने का विधान मिलता है। परंतु इस समय जाति-व्यवस्था उतनी जटिल नहीं हो पाई थी जितनी कि परवर्ती कालों में देखने को मिलती है।

टिप्पणी

समाज के सभी वर्णों एवं जातियों में ब्राह्मणों का प्रतिष्ठित स्थान था। यद्यपि उनका मुख्य कर्म धार्मिक एवं साहित्यिक था तथापि कुछ ब्राह्मणों ने अपने जातिगत पेशों को छोड़कर अन्य जातियों की वृत्ति को अपना लिया था। मृच्छकटिक, जो गुप्तकालीन रचना है, में चारुदत्त नामक ब्राह्मण को 'सार्थवाह' (व्यापारी) कहा गया है। इस ग्रंथ से पता चलता है कि उसका परिवार पिछली तीन पीढ़ियों से व्यापार तथा वाणिज्य की वृत्ति अपनाए हुए था। बौद्ध साहित्य से भी पता चलता है कि बहुसंख्यक ब्राह्मण व्यापार-वाणिज्य का कार्य करते थे। स्मृति ग्रंथों में भी इस वृत्ति को ब्राह्मण वर्ण का 'आपद्धर्म' कहा गया है। यह इस काल में व्यापार-वाणिज्य के बढ़ते हुए प्रभाव का सूचक है। कुछ ब्राह्मण शिल्पकार का काम करते थे जबकि कुछ युद्ध एवं सैनिक कार्यों में भी निपुण थे। इसी प्रकार क्षत्रिय जाति के लोगों ने भी व्यापार एवं औद्योगिक वृत्ति अपना ली थी। इस प्रकार सभी वर्गों की वृत्तियों में शिथिलता आती जा रही थी। कृषक, पशुपालक, धातुकार, तैलकार, जुलाहे, माली आदि की समाज में विशिष्ट जातियां गठित हो चुकी थीं। अनेक मिश्रित (संकर) जातियां भी अस्तित्व में आ चुकी थीं। स्मृतियों में मूर्धावसिक्त, अंबष्ट, पारशव, उग्रकरण आदि मिश्रित जातियों का उल्लेख हुआ है। समकालीन अभिलेखों में 'कायस्थ' नामक पदाधिकारियों का उल्लेख मिलता है जो पेशेवर लेखक थे तथा उनकी कोई विशिष्ट जाति नहीं बन पाई थी। गुप्तकालीन स्मृतियां शूद्रों को व्यापार, शिल्प एवं कृषि करने की अनुमति प्रदान करती हैं। वृहस्पति के अनुसार, 'प्रत्येक प्रकार की वस्तुओं की बिक्री करना शूद्र का सामान्य धर्म है (विक्रयः सर्वपण्यानां शूद्रधर्म उदाहृतः)।' उनमें से कुछ सेना में भी भर्ती होते थे। मृच्छकटिक से पता चलता है कि उज्जयिनी में कुछ शूद्र अधिकारी थे। अब उन्हें महाकाव्यों तथा पुराणों के श्रवण का अधिकार भी मिल गया। यह समाज में शूद्रों के प्रति बदलते हुए दृष्टिकोण का परिचायक है। स्मृति ग्रंथों एवं फाहियान के विवरण से पता चलता है कि समाज में अस्पृश्यता प्रचलित थी। फाहियान अछूतों को 'चांडाल' कहता है जो गांवों एवं नगरों के बाहर निवास करते थे। वे ही आखेट करते एवं मांस बेचते थे। गांवों तथा नगरों में प्रवेश करते समय वे लकड़ी पीटते हुए चलते थे ताकि लोग मार्ग से हट जाएं और उनके स्पर्श से बच जाएं। ऐसा संभवतः उनके अपवित्र कार्यों जैसे मांस काटना व बेचना, मैला ढोना आदि के कारण किया जाता था।

समाज की सभी जातियों में ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों की सर्वाधिक प्रतिष्ठा थी। ब्राह्मणों के साथ-साथ क्षत्रियों को भी उपनयन संस्कार एवं वेदाध्ययन के अधिकार प्राप्त थे। कुछ वैश्य जाति के लोग भी इन अधिकारों का उपभोग करते थे। वे ब्राह्मणों एवं विहारों को मुक्तहस्त से दान देते, अस्पताल खुलवाते तथा उनके निर्वाह की व्यवस्था करते थे। वैश्यों की श्रेणियां (Guilds) थीं जो व्यापार-वाणिज्य का संचालन करती थीं। समाज में उनकी काफी प्रतिष्ठा थी।

स्मृति ग्रंथों से समाज में दास-प्रथा के प्रचलन का भी प्रमाण मिलता है। युद्ध में बंदी बनाए गए तथा ऋण न चुका सकने वाले लोग प्रायः दास बनाए जाते थे। मृच्छकटिक से पता चलता है कि दास के शरीर पर उसके स्वामी का पूर्ण नियंत्रण होता था। किंतु यहां दास-प्रथा पाश्चात्य देशों की दास-प्रथा के समान जटिल नहीं थी। एक निश्चित अवधि तक सेवा करने तथा ऋण चुका देने पर दास स्वतंत्रता प्राप्त कर सकने का

टिप्पणी

अधिकारी था। उसके साथ व्यवहार में मानवीय आचरण किया जाता था। यही कारण है कि यूनानी लेखकों ने इस प्रथा की ओर ध्यान नहीं दिया।

गुप्तकालीन साहित्य में स्त्रियों को प्रतिष्ठित स्थान दिया गया। प्राय: सजातीय विवाह ही होते थे। यदा-कदा निम्न वर्ण की कन्या का विवाह उच्च वर्ण में हो जाता था। ऐसे विवाह को 'अनुलोम' कहा जाता था। स्मृति ग्रंथ इसकी मान्यता देते हैं। नारद एवं पाराशर की स्मृतियों से विधवा-विवाह का समर्थन मिलता है। किंतु वृहस्पति इसे मान्यता नहीं देते। उन्होंने विधवा के लिए आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करने तथा व्रत, उपवास, तप, दान आदि में लगे रहने का विधान प्रस्तुत किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि समाज में विधवाओं की दशा अच्छी नहीं थी तथा उन्हें कठोर साधना का जीवन बिताना पड़ता था। गुप्त युग में कन्याओं का विवाह सामान्यत: 13 वर्ष की अवस्था में होता था, अत: उनका उपनयन संस्कार बंद हो गया। याज्ञवल्क्य-स्मृति कन्या के लिए उपनयन एवं वेदाध्ययन का निषेध करती है। सती प्रथा का उल्लेख केवल 510 ई. के भानुगुप्त के एरण अभिलेख में मिलता है जिसके अनुसार उसके मित्र गोपराज की मृत्यु के पश्चात उसकी पत्नी सती हो गई थी। परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रथा न तो समाज में लोकप्रिय हो पाई थी और न ही इसे कोई शास्त्रीय मान्यता ही मिल सकी थी।

समाज में वेश्याओं के अस्तित्व का भी प्रमाण मिलता है। कामसूत्र में गणिकाओं को दिए जाने वाले प्रशिक्षण का विवरण दिया गया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह व्यवसाय काफी प्रचलित था। मुद्राराक्षस से पता चलता है कि उत्सवों के समय बड़ी संख्या में वेश्याएं सड़कों पर निकलती थीं। मंदिरों में कन्याएं देवदासी के रूप में नृत्यगान करती थीं। कालिदास ने उज्जयिनी के महाकाल मंदिर में नृत्यगान करने वाली देवदासियों का विवरण दिया है।

पर्दा-प्रथा का प्रचलन नहीं था तथा स्त्रियां स्वतंत्रतापूर्वक विचरण कर सकती थीं। किंतु कुलीनवर्ग की महिलाएं बाहर निकलते समय अपने मुंह पर घूंघट डालती थीं। गुप्तकालीन स्मृतियों में स्त्री के संपत्ति संबंधी अधिकार को मान्यता प्रदान की गई तथा स्त्रीधन का दायरा अत्यंत विस्तृत कर दिया गया। पुत्र के अभाव में पति की संपत्ति पर पत्नी का अधिकार होता था। नारद तथा कात्यायन आदि स्मृतिकार कन्या को भी पिता की संपत्ति की अधिकारिणी मानते हैं। कात्यायन ने तो यह व्यवस्था दी है कि अचल संपत्ति में भी स्त्री का अधिकार होता है और वह स्त्रीधन के साथ इसे भी बेच सकती अथवा बंधक रख सकती है।

समाज के उच्च वर्गों का जीवन सुखी तथा आमोदपूर्ण था। संगीत, नृत्य, नाटक आदि के द्वारा लोग आनंद लेते थे। युवकों को प्रणयकला की शिक्षा की जाती थी। कामसूत्र में इस प्रकार के सुख-संपन्न नागरिकों की दिनचर्या का वर्णन मिलता है। किंतु यही स्थिति समाज के निम्नवर्गों की नहीं थी।

अर्थव्यवस्था

गुप्त राजाओं का शासन-काल आर्थिक दृष्टि से समृद्धि एवं संपन्नता का काल माना जा सकता है। कृषि की उन्नति पर विशेष ध्यान दिया गया। अमरकोश में लोहे से बने हलके फाल के लिए पांच नाम दिए गए हैं जिससे सूचित होता है कि यह महत्वपूर्ण कृषि उपकरण सर्वसुलभ था तथा इसका उपयोग भूमि जोतने के लिए किया जाता था। कालिदास ने कृषि तथा पशुपालन को राष्ट्रीय संपत्ति का एक बड़ा साधन निरूपित किया

टिप्पणी

है। धान, गेहूं, गन्ना, जूट, तिलहन, कपास, ज्वार-बाजरा, मसाले, धूप, नील आदि प्रभूत मात्रा में उत्पन्न होते थे। सिंचाई की समुचित व्यवस्था थी। उद्योग-धंधे उन्नति पर थे। कपड़े का निर्माण करना इस काल का सर्वप्रमुख उद्योग था जिससे बहुसंख्यक लोगों को जीविका मिलती थी। इसके अतिरिक्त हाथी-दांत की वस्तुएं बनाना, मूर्तिकारी, चित्रकारी, शिल्प-कार्य, मिट्टी के बर्तन बनाना, जहाजों का निर्माण आदि इस समय के कुछ अन्य उद्योग-धंधे थे।

गुप्त युग में व्यापार-व्यवसाय के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व प्रगति हुई। व्यवसाय एवं उद्योग का संचालन श्रेणियां (Guilds) करती थी। 'श्रेणी' एक ही प्रकार के व्यवसाय अथवा शिल्प का अनुसरण करने वाले लोगों की समिति होती थी। मंदसोर के लेख में 'पट्टवायश्रेणी' (रेशमी सूत बुनने वालों की समिति) तथा इंदौर लेख में 'तैलिक' श्रेणी का उल्लेख मिलता है। श्रेणियां बैंकों का भी कार्य करती थीं और इस रूप में अपने सदस्यों को सूद पर धन देती थीं। प्रत्येक श्रेणी का एक प्रधान तथा चार या पांच व्यक्तियों की एक कार्यकारिणी होती थी। बृहस्पति स्मृति से ज्ञात होता है कि ईमानदार, वेदों तथा अपने कर्तव्यों के ज्ञाता योग्य, आत्मसंयमी और कुलीन व्यक्ति ही श्रेणियों के प्रबंध अधिकारी नियुक्त किए जाते थे। श्रेणियां स्वायत्तशासी संस्थाएं थीं जिनके अपने नियम और कानून होते थे। राज्य सामान्य तौर से उनका सम्मान करता था। स्मृतियों में राजा को निर्देश दिया गया है कि वह श्रेणियों के रीति-रिवाजों का पालन करवाए। अपने सदस्यों के झगड़ों का निपटारा वे स्वत: करती थीं। प्रत्येक श्रेणी के पास अपनी अलग मुहर (Seal) होती थी। वैशाली से एक संयुक्त श्रेणी की 274 मुद्राएं प्राप्त हुई हैं। इसमें साहूकार, व्यापारी तथा सौदागर सम्मिलित हैं। व्यापार-व्यवसाय में नियमिति सिक्कों का प्रचलन हुआ। गुप्त राजाओं ने सोने, चांदी तथा तांबे के बहुसंख्यक सिक्के चलवाए। इस समय सोने तथा चांदी के सिक्कों का अनुपात 1:16 था। सामान्य लेन-देन कौड़ियों में होता था।

गुप्त युग में व्यापारिक प्रगति हुई। लंबी एवं चौड़ी सड़कों द्वारा प्रमुख नगर जुड़े हुए थे। भड़ौच, उज्जयिनी, प्रतिष्ठान, विदिशा, प्रयाग, पाटलिपुत्र, वैशाली, ताम्रलिप्ति, मथुरा, अहिच्छत्र, कौशांबी आदि प्रमुख व्यापारिक नगर थे। चंद्रगुप्त द्वितीय ने उज्जयिनी को अपनी द्वितीय राजधानी के रूप में विकसित किया था। इसने शीघ्र ही वैभव तथा समृद्धि में पाटलिपुत्र का स्थान ले लिया। मृच्छकटिक से ज्ञात होता है कि यहां अनेक धनाढ्य श्रेष्ठि तथा सौदागर निवास करते थे। माल ढोने के लिए गाड़ियों तथा जानवरों का प्रयोग किया जाता था। गंगा, ब्रह्मपुत्र, नर्मदा, गोदावरी, कृष्णा एवं कावेरी नदियों द्वारा भी व्यापार होता था। भारतीयों ने मालवाहक जहाजों का निर्माण किया था। कुछ जहाजों में एक साथ 500 तक व्यक्ति बैठ सकते थे। विविध प्रकार के कपड़े, मसाले, खाद्यान्न, नमक, बहुमूल्य पत्थर आदि साम्रगियां एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाई जाती थीं। इस समय बंगाल में ताम्रलिप्ति प्रमुख बंदरगाह था जहां से चीन, लंका, जावा, सुमात्रा आदि देशों के साथ व्यापार होता था। पश्चिमी भारत का प्रमुख बंदरगाह भृगुकच्छ (भड़ौच) था, जहां से दक्षिणी-पूर्वी एशिया एवं पश्चिमी एशिया के विभिन्न देशों के साथ भी भारत का व्यापार उन्नति पर था। कपड़े, बहुमूल्य पत्थर, हाथी-दांत की वस्तुएं, गरम मसाले, नारियल, सुगंधित द्रव्य, नील, दवाएं आदि निर्यात की प्रमुख वस्तुएं थीं।

व्यापारी एक स्थान से दूसरे स्थान को माल लेकर जाते समय समूह में चलते थे। इसे 'सार्थ' तथा इसके नेता को 'सार्थवाह' कहा जाता था। व्यापारियों की समिति भी होती थी जिसे 'निगम' कहा जाता था। निगम का प्रधान 'श्रेष्ठि' कहलाता था।

टिप्पणी

एस. के. मैती का विचार है कि गुप्तकाल में भारत तथा पाश्चात्य विश्व के बीच व्यापारिक संबंधों में गिरावट आ गई थी। इसका प्रमाण हमें कुमारगुप्तकालीन मंदसोर लेख से मिलता है जिससे ज्ञात होता है कि 'पट्टवायश्रेणी' लाट प्रदेश को छोड़कर दशपुर में जाकर बस गई थी। इस प्रवजन का मुख्य कारण यही प्रतीत होता है कि इस समय पश्चिमी देशों के साथ व्यापार लाभकारी नहीं रह गया था। आर. एस. शर्मा भी आर्थिक दृष्टि से गुप्तकाल को पतन का काल मानते हैं। किंतु यह विचार सही नहीं है। मंदसोर लेख से यह सूचित नहीं होता है कि बुनकरों की श्रेणी ने अपना परंपरागत पेशा छोड़कर अन्य पेशों को अपना लिया था। इसी लेख में एक स्थान पर कहा गया है कि उन्होंने शिल्प द्वारा अर्जित धन से सूर्य के भव्य मंदिर का निर्माण करवाया तथा बाद में क्षतिग्रस्त होने पर उसका जीर्णोद्धार भी करवाया था। यदि बुनकर आपत्तिग्रस्त होते तो अपनी गाढ़ी कमाई का उपयोग मंदिर-निर्माण में कदापि नहीं करते। बुनकरों का प्रवजन सुरक्षा संबंधी कारणों से भी हो सकता है। इस संबंध में एक अन्य विचारणीय बात यह है कि रोम के साथ स्थल मार्ग से व्यापार भी होता था तथा यह चौथी शती में इतना अधिक विकसित हुआ कि 'सिल्क जो आर्लियन के काल (161-80 ई.) में सोने से तौल कर बिकता था तथा धनी एवं कुलीन वर्ग की विलासिता की वस्तु था, वह जूलियन के काल (361-63 ई.) में इतना सस्ता हो गया कि सामान्य मनुष्य भी उसे खरीद सकता था।' अत: यह नहीं कहा जा सकता है कि गुप्त युग में भारत का रोम के साथ व्यापारिक संबंध पतनोन्मुख रहा। रोम इतिहास पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि 408 ई. में हूण आक्रांता एलरिक ने रोम का घेरा डाला तथा फिरौती के रूप में तीन हजार पौंड गोलमिर्च तथा चार हजार थान रेशमी वस्त्र प्राप्त करने के बाद ही अपना घेरा उठाया था। यह इस बात का सूचक है कि पांचवीं शती में भी रोम में भारतीय माल प्रचुर मात्रा में था। रोम के पतन के बाद उसका स्थान कांस्टैनटिनोपुल अथवा बैजेंटियम ने ग्रहण किया तथा कांस्टैंटाइन महान ने 330 ई. में उसे अपने शासन का केंद्र बनाया। इस समय से भारत तथा रोम का व्यापारिक संबंध और घनिष्ठ हो गया। बैजेंटियम चिकित्सा-प्रबंधों (Byzantine Medical Treatises) से पता चलता है कि वहां के बाजारों में सभी प्रकार के भारतीय मसाले बहुतायत से प्राप्त थे। जस्टिनियन 'ला डाइजेस्ट' (Law Digests) में आयातित वस्तुओं की जो सूची मिलती है, उनमें अधिकांश भारतीय हैं। भारत के विभिन्न भागों से प्राप्त बैजेंटियम सिक्कों से भी दोनों देशों के बीच घनिष्ठ व्यापारिक संबंधों की सूचना मिलती है। अत: हमारे पास यह सिद्ध करने के लिए कोई भी प्रमाण नहीं है कि गुप्तयुग में व्यापार-वाणिज्य का ह्रास हुआ। रोमिला थापर के शब्दों में, 'गुप्तकाल की व्यापारिक समृद्धि उस आर्थिक प्रगति का अंतिम चरण थी जो पिछले काल में प्रारंभ हुई थी।'

अपनी प्रगति जांचिए

1. किसके दोनों पूर्वजों को केवल महाराज कहा गया है?
   (क) अशोक के (ख) चंद्रगुप्त के
   (ग) गांधी जी के (घ) श्रीगुप्त के
2. किसने वाकाटक राज्य के शासन का संचालन किया था?
   (क) कुमारदेवी ने (ख) बुधगुप्त ने
   (ग) प्रभावतीगुप्ता ने (घ) पुरुगुप्त ने

टिप्पणी

2.3 दक्षिण भारत में राज्य गठन : प्रमुख क्षेत्र एवं चोल राज्य

मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद उत्तरी भारत की भाँति दक्षिण भारत में भी अनेक राज्यों का उदय हुआ। इनमें प्रमुख थे- चोल राज्य।

2.3.1 प्रमुख क्षेत्र

दक्षिण भारत में जनजीवन पर पहले पहल संगम साहित्य से ही स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। यद्यपि हमें इस साहित्य में राजनीतिक जीवन, राज्यों के गठन तथा राजनीतिक गतिविधियों के तिथिक्रम के सम्बन्ध में यथेष्ट जानकारी प्राप्त नहीं होती फिर भी यह दक्षिण भारत के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक इतिहास तथा संस्कृति के अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण स्त्रोत है। ऐसा लगता है कि ई.पू. प्रथम शती तक जहाँ उत्तर पश्चिम दक्षिण में सातवाहन तथा वाकाटका का उद्‌भव हुआ वहीं सूदर दक्षिण में तीन प्रमुख राज्यों पांडय, चेर और चोलों का उद्‌भव हो चुका था जैसा कि संगम साहित्य से स्पष्ट है। कलिंग के शासक खाखेल के प्रसिद्ध हाथीगुफा अभिलेख में भी तमिल प्रदेश के तीन राज्यों के संघ (त्रामिर देश संघटम्) को खाखेल शासक द्वारा पराजित करने का वर्णन आता है। किंतु इससे भी पहले 4 शताब्दी ई.पू. में मेगस्थनीज ने पांडयों के राज्य का उल्लेख किया है संगम कवियों ने इन तीन राज्यों की प्राचीनता तथा सम्मानित परम्परा प्रदान करने के लिए इनका सम्बन्ध महाभारत के कौरव पांडवों से जोड़ा है। उदाहरणस्वरूप इस साहित्य में प्रथम चेर शासक उदियनजेरल द्वारा कुरुक्षेत्र के युद्ध में भाग लेने वाले सभी योद्धाओं को भोजन कराने की बात कही गई है, यह अलग बात है कि इन घटनाओं का ऐतिहासिक तथ्यों से कोई मेल नहीं है। इन तीन बड़े राज्यों के अतिरिक्त कई छोटे-छोटे राज्य भी यहां विद्यमान थे जो परिस्थितिनुरूप इन तीन बड़े राज्यों में से किसी न किसी राज्य की युद्ध में सहायता करते रहते थे। संगम कवियों ने इन छोटे राज्यों की उनके राजाओं की उदारता के कारण काफी प्रंशसा की है तथा इन राजाओं के लिए उन कवियों ने वेल्लल (संरक्षक) नाम का उपयोग किया है। दक्षिण भारत के इन राज्यों के उद्‌भव की एक विशेषता यह है कि ये 'राज्य कुल संघ' प्रतीत होते हैं।

इस प्रकार के राज्य उत्तरी भारत में भी रहे हैं, जिन्हें कौटिल्य ने 'कुल संघ' कहा है। ऐसे राज्य में कुल के विभिन्न परिवारों के वयस्क पुरुष राज्य कार्य में भाग लेते थे। संगम कवियों ने लम्बे गृहयुद्ध का वर्णन किया है। चोल राज्य में उत्तराधिकार के युद्ध में नव शासकों की मृत्यु हो गई थी। इस युद्ध में शेनगुट्टुवन राजा ने हस्तक्षेप किया। संगम कवियों द्वारा अपनी रचनाओं में राजवंश के अनेक शासकों के नाम भरना भी यही साबित करता है कि राजवंश के सभी सदस्यों का सत्ता में कुछ-न-कुछ हिस्सा था। इसका संकेत पदिटुटपातु में चेर शासकों के शासन काल से भी मिलता है। उदियनजेरल के बाद तीन पुश्त में होने वाले पाँच शासकों ने शासन किया। कुल मिलाकर इन लोगों ने 209 वर्ष शासन किया, साथ ही उसी वंश की अन्य शाखा के तीन शासकों ने 58 वर्ष तक शासन किया। इससे ऐसा लगता है कि इन शासकों ने क्रमिक उत्तराधिकार के अनुसार शासन नहीं किया वरन एक साथ ही सत्ता में भागीदारी करते रहे। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस युग में वंशानुगत राजतंत्र का प्रचलन था। उत्तराधिकार के लिए युद्ध होते थे। राजा सर्वशक्तिमान होता था। उसकी निरंकुशता को बुद्धिमान मंत्री या राजा के कवि मित्र ही अपने प्रभाव से

टिप्पणी

कम करते थे। साधारणतया इस काल का साहित्य प्रजा को सुखी तथा राजा के प्रति निष्ठावान दर्शाता है। राजा का व्यवहार सभी व्यक्तियों के लिए अनुकरणीय माना जाता था, इसलिए अनेक कवियों ने राजा के व्यवहार में नैतिकता पर जोर दिया है। उसके लिए कला, साहित्य तथा धर्म का संरक्षक होना अपेक्षित माना गया है। राजा का आदर्श था प्रजा को संतान रूप में मानना तथा प्रजा को पक्षपातरहित शासन प्रदान करना। राजा प्रतिदिन अपनी सभा (नालवै) में प्रजा के कष्टों को सुनता था और उनका समाधान करता था। राज्य-संचालन में राजा के अत्यंत कठिन उत्तरदायित्व का बोध कवियों में था। राजा को प्रजा के लिए प्राणस्वरूप माना गया। राजा अपने दिन-प्रतिदिन के क्रियाकलापों तथा राजकार्य के संचालन में योग्य ब्राह्मण सहायकों पर निर्भर रहता था। ब्राह्मणों को कष्ट न देना राजा की अभिलाषा होती थी। राज्य का अस्तित्व खेती पर ही आधारित था। राजा में विजेता होने की आकाँक्षा होती थी और इसके लिए वे युद्ध भी करते थे। संपूर्ण भारत की विजय (दिग्विजय) करना भारतीय शासकों के लिए सदैव ही एक आदर्श रहा है। पुरनानुरू में सम्मिलित एक कविता में चक्रवर्ती राजा की चर्चा की गई है। इसी कृति में सम्मिलित एक अन्य कविता में राजा की मृत्यु के बाद उसके साथी द्वारा आत्महत्या करने का उल्लेख है। बाद में इस परंपरा का व्यापक प्रचलन मिलता है। राज्य का सर्वोच्च न्यायालय राजा की सभा (मन्रम) ही होता था। उरैयूर के मन्रम में मलैयमान के लड़कों के अपराध की न्यायिक जाँच के बाद उन्हें मृत्युदंड दिया गया, किंतु किलार के हस्तक्षेप के कारण उन्हें छोड़ दिया गया। सभासदों से यह अपेक्षा की जाती थी कि न्याय-संबंधी विवादों में वे निष्पक्ष रहेंगे। सभा में राजा अन्य प्रशासकीय विषयों पर भी परामर्श करता होगा। संगम काल के बाद की एक कृति कुरल में सभा को सभी कार्यों को संपादित करने वाली साधारण परिषद् कहा गया है। प्रशासन तथा न्याय-व्यवस्था के अंतर्गत बंदीगृह भी स्थापित थे। इसके अतिरिक्त ग्रामीण जीवन की सामाजिक तथा धार्मिक समस्याओं के समाधान के लिए भी मन्रम नामक सभा होती थी। प्रत्येक गाँव में सामाजिक क्रियाकलापों, खेल-कूद, मनोरंजन के कार्यक्रमों आदि के लिए एक विशेष स्थान होता था। ऐसे स्थलों का कभी-कभी पेड़ों के नीचे होने का उल्लेख भी मिलता है। इस प्रकार के ग्रामीण आयोजनों में राजनीतिक विचार-विमर्श तथा निर्णय भी होते होंगे जिनका आगे चलकर ग्रामीण स्वशासन की संस्था के रूप में विकास हुआ। बाद में चोल शासकों के अंतर्गत स्थानीय स्वशासन अत्यंत सुसंगठित संस्था के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

कृषि तथा व्यापार ही राज्य की आय के मुख्य साधन थे। किंतु कृषि-उत्पादन में राज्य का कितना भाग होता था, इसका कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं है। विदेशी व्यापार का बड़ा महत्त्व था क्योंकि इससे सीमा-शुल्क (कस्टम) के रूप में राज्य को भारी धनराशि प्राप्त होती थी। पुहार (कावेरीपत्तिनम) के संबंध में विशेष रूप से वहाँ के अधिकारियों के बारे में पट्टिनप्पालइ में बड़ा सजीव वर्णन है। आंतरिक व्यापार में भी चुंगी ली जाती थी। अनधिकृत व्यापार की रोकथाम के लिए सड़कों पर सैनिकों द्वारा रात-दिन निगरानी की जाती थी। कर-वसूली में समय तथा नरमी के लिए परंपरित मान्यता तथा कवियों का आग्रह राजा को प्रभावित करना था। युद्ध में लूट की सामग्री भी आय का एक स्त्रोत था।

सभी शासक पेशेवर सैनिकों की सेना रखते थे। सेना के कप्तान की उपाधि 'एनाड़ी' थी। परंपरित चतुरंगिणी - रथ, हाथी, घोड़े तथा पैदल - सेना संगठित की जाती थी। अस्त्र-शस्त्र में तलवार, धनुष- बाण, बाघंबर का कवच, बर्छे, भाले, ढाल का उल्लेख मिलता है। सैनिकों के आह्वान के लिए नगाड़े तथा शंख की ध्वनि प्रयोग में लाए जाते थे। युद्ध में मृत्यु स्वर्ग के द्वार के रूप में मान्य थी। युद्ध में मृत सैनिकों की पत्थर की मूर्तियाँ बनाई जाती थीं।

टिप्पणी

राजा स्वयं लड़ाई के मैदान में सैनिकों के साथ लड़ता था। युद्ध में शत्रु के खेतों तथा फसल को नष्ट कर दिया जाता था। राजा केवल राज्य का ही प्रमुख नहीं था वरन समाज में भी इसको उच्च स्थान प्राप्त था। राजा द्वारा विभिन्न ललित कलाओं को प्रोत्साहन तथा संरक्षण प्रदान किया जाता था। कभी-कभी राजा मुक्त हस्त से कवियों तथा कलाकारों को धनराशि वितरित करता था। करिकाल ने पट्टिनप्पालइ के रचयिता को 16,00,000 सोने की मुद्राएँ प्रदान कीं। कवियों को विशेष रूप से दरबार में प्रश्रय मिलता था। मनोरंजन के लिए गायकों की मंडली भी राजा के दरबार से जुड़ी होती थी। इनमें कुछ मंडलियाँ जनजाति के लोक गीतों को प्रस्तुत करने वाली थीं। जनजाति के गायकों की आर्थिक दशा अत्यंत दयनीय थी। वे बहुत निर्धन होते थे।

इसके विपरीत राजा और उसके सेना के नायक 'एनाड़ी' लोगों के पास प्रचुर धन-संपत्ति होती थी। अपार धन के कारण इन लोगों में मदिरापान, विषय-वासना तथा मनोरंजन के रीति-रिवाजों का बड़ा सजीव चित्रण कवियों ने किया है। इस काल के पुरुषों का प्रभुत्व स्थापित हो चुका था और स्त्री-समाज की दशा अच्छी प्रतीत नहीं होती। विधवाओं के सादा जीवन का वर्णन प्राप्त होता है तथा सती प्रथा का भी प्रचलन था। निश्चित ही ये विवरण स्त्रियों की दुर्बल स्थिति के परिचायक हैं। संगमकालीन राजतंत्र के तत्कालीन राजनीतिक जीवन पर जनजातीय तत्त्वों का प्रभाव स्पष्ट नज़र आता है। एम.जी. नारायणन ने संगम साहित्य का गहन अध्ययन करके जनजातीय रीतिरिवाजों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। संगम कवियों ने मरवा नामक जनजातियों में प्रचलित वेत्ची (गोग्रहण या गोहरण) प्रथा के अंतर्गत पशुओं की चोरी या लूट का यथेष्ट विवरण प्रस्तुत किया है। कहीं तो निंदा का स्वर मुखरित करते हुए इन पशुहरण करने वाले योद्धाओं की तुलना मांसाहारी गिद्धों से की गई है और कहीं लूट में उनकी वीरता की उन्मुक्त प्रशंसा के विवरण प्राप्त होते हैं। पहाड़ की ढलानों पर स्थित पशुहरण में कुशल और लड़ाकू मरवर जाति तथा मैदान के शांतिप्रिय पशुपालक लोगों के बीच संघर्ष संगम काल के दैनिक जीवन का एक अभिन्न अंग प्रतीत होता है। पुरुणानूर में संकलित एक कविता में, जंगल में चरवाहे को मारने के बाद गायों के झुंड को लाकर उपहारस्वरूप बाँटने वाले नायक की वीरोचित प्रशंसा की गई है। एक अन्य वेत्ची नायक का चोल राजा से संबंध था। कभी-कभी आमोद-प्रमोद और मांसाहार के लिए पशुओं को लूटा जाता था और कभी यह लूट युद्ध के प्रारंभिक धावे के रूप में होती थी। पशुहरण में प्रवीण मरवर योद्धा राजा के साथ युद्ध में भाग लेते थे। इस प्रकार राजा भी वेत्ची से संबंधित हो जाता था। अपने स्वामी तथा गाँववालों के लिए युद्ध करना क़बीले के नेता अपना कुलधर्म मानते थे। कबीले के प्रधान की सहायता हेतु पूरे गाँव वाले अग्रसर रहते थे।

युद्ध में जिस स्थल पर इनकी मृत्यु होती वहाँ उस नायक के सम्मान में पत्थर लगाया जाता था। ये मरवा क़बीले के लोग तमिल शासकों की सेना में स्थान पाते थे। इन लोगों की पशुपालन तथा कृषि में रुचि नहीं थी। ब्राह्मण धर्म के उच्च आदर्शों के प्रति भी इनका कोई विशेष लगाव दृष्टिगोचर नहीं होता। पूर्व-वैदिक समाज में पशु, विशेष रूप से गाय, की चोरी व लूट होती थी क्योंकि इन्हें संपत्ति के रूप में माना जाता था। उत्तर भारत की वैदिक परंपरा में भी सफल पशुहरण के उपलक्ष में आयोजित उत्सव में पुरोहित दान आदि प्राप्त करते थे। सामाजिक विकास तथा वर्गीकरण की प्रक्रिया में इस बात की पर्याप्त संभावना है कि उत्तर तथा दक्षिण भारत के अनेक क्षेत्रीय शासक, चाहे वे आर्य हों अथवा अनार्य, अपनी मूल यायावरी या अर्धयायावरी सामाजिक पृष्ठभूमि से ही शक्तिशाली शासक वर्ग

टिप्पणी

के रूप में प्रतिष्ठित हुए। सूर्यवंशी तथा चंद्रवंशी शासक के रूप में प्रसिद्ध होने पर भी इन लोगों में कुछ पुरानी परंपराएँ चलती रहीं जिनमें पशुहरण भी एक थी। संगम कवियों से स्पष्ट है कि चेर, चोल, पांड्य तथा दक्षिण के अन्य छोटे राज्यों के अंतर्गत जिस सामाजिक ढाँचे में ब्राह्मण संस्कृति की नैतिकता तथा उच्च आदर्श स्थापित थे उसी में जनजातीय रीति-रिवाज तथा जीवन-मूल्य भी प्रतिष्ठित थे। इनमें प्रचलित युद्ध के तरीकों, नायकों की परिकल्पना, शूरवीरता संबंधी उनकी मर्यादा, मृत नायकों के सम्मान में पाषाण प्रतिमाओं की स्थापना, उनमें गोमांसाहार की परंपरा, आदि की तात्कालिक जीवन पर गहरी छाप है। मूल रूप से अनेक महत्त्व के कारण जनजातीय लोगों ने संगम काल के राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन को अनेक ढंगों से प्रभावित किया।

2.3.2 दक्षिण का चोल राज्य

चोल राज्य बहुत प्रचीन राज्य था। इसका उल्लेख महाभारत, मेगास्थनीज के यात्रा-वृत्तांत और अशोक के शिलालेखों से प्राप्त होता है। संगम साहित्य में अनेक चोल शासकों का वर्णन है। इस राज्य में मद्रास, उसके आसपास का क्षेत्र और कर्नाटक के कुछ क्षेत्र सम्मिलित थे। संगम साहित्य में करिकाल को चोलवंश का संस्थापक कहा गया है। उसका अभ्युदय-काल दूसरी शताब्दी माना जाता है। उसने अपने साम्राज्य के विस्तार के लिए सक्रिय प्रयास किए। उसकी बढ़ती हुई शक्ति से चिंतित पांड्यों और चेरों आदि ने उसके विरुद्ध संघ बनाया किंतु 'करिकाल' के सामने वे ठहर न सके। उसने अपनी पुत्री आदिनंदि का विवाह चेर राजकुमार अति के साथ कर दिया था। 'करिकाल' एक सफल विजेता होने के साथ ही कुशल शासक भी था। उसके शौर्य की गाथाओं को कवियों ने ओजस्वी स्वर दिए हैं। 'पट्टूपट्टू' नामक काव्य-संग्रह में उसके शौर्य की गाथाएं संकलित हैं। करिकाल के बाद उसका पुत्र 'नेद्युदिकिल्ल' राजसिंहासन पर बैठा। वह एक अशक्त शासक था। फलतः उसके शासन-काल में चोल राजवंश पतन के गर्त में चला गया। उसे पतन के गर्त से निकलने में लंबा समय लगा। नवीं शताब्दी के पूर्वाद्ध में उस राजवंश का पुनः उत्कर्ष हुआ। इसका श्रेय चोलवंशी शासक विजयालय को है। विजयालय पल्लवों का एक सामंत था। पल्लवों और पांड्यों के युद्ध के समय उसने तंजौर पर अधिकार बनाया। वहां उसने निशुंभसूदनी का मंदिर बनवाया। इस प्रकार 850 ई. के आसपास उसने स्वतंत्र चोल राज्य की स्थापना की। उसे चोल साम्राज्य का द्वितीय संस्थापक भी कहा जाता है। विजय के अवसर पर उसने नरकेशरी की उपाधि धारण की थी।

आदित्य प्रथम (871-907)

विजयालय के बाद उसका पुत्र आदित्य प्रथम 871 ई. में राजा बना। उसने चोल राज्य की शक्ति और सीमा का विस्तार किया। उसने कोंदराम की उपाधि ली। आदित्य प्रथम के पश्चात उसका पुत्र परांतक प्रथम शासक बना। उसने 907 ई. से 955 ई. तक राज्य किया और दक्षिणी भारत में चोल शक्ति को बढ़ाया। उसने पांड्य राजा का राज्य जीतकर अपने राज्य में मिला लिया और इस विजय के उपलक्ष्य में 'मदुराई कोंड' की उपाधि धारण की। परांतक प्रथम को राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय से घमासान युद्ध करना पड़ा और परांतक प्रथम पराजित हुआ और चोल राज्य के कुछ भागों पर कृष्ण तृतीय का अधिकार हो गया। इस पराजय से चोल शक्ति को आघात पहुंचा। उसका उत्तराधिकारी गुंडारादित्य और फिर परांतक द्वितीय हुआ। परांतक द्वितीय उत्तम चोल के नाम से भी जाना जाता है।

टिप्पणी

राजाराजा महान (985-1014 ई.)

चोल साम्राज्य का सबसे शक्तिशाली शासक राजाराजा महान था जिसने 985 ई. से 1014 ई. तक राज्य किया। राजाराजा एक महान विजेता और साम्राज्य निर्माता था। उसने वेंगी के पूर्वी चालुक्य राजा, मदुरा के पांड्य राजा और मालाबार तट के सामंतों को हराकर अपने अधीन किया। उसने लंका का उत्तरी भाग जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। उसने उनकी राजधानी अनुराधापुर को नष्ट कर दिया और लंका के जीते भाग का नाम मामुंडीचोल पुरम रखा। इसी विजय की खुशी में जगन्नाथ ने विरुद धारण किया। उसने नई राजधानी पोलोन्नरूवा बनाई जिसका बाद में जंजातमंगलम नाम रखा। उसने कलिंग को विजय किया। उसने एक शक्तिशाली जहाजी बेड़े द्वारा लक्षद्वीप और मलाद्वीप टापुओं पर अधिकार किया और पूर्वी द्वीपसमूह पर आक्रमण किया। उसने वेंगी को जीतकर अपने पक्ष के शक्ति वर्मा को वहां का शासक बनाया। ऐसा करने में उसका प्रयोजन यह था कि चोल वंश के विरुद्ध पश्चिमी तथा पूर्वी चालुक्य मिलकर एक हो जाएं। इस मैत्री को और घनिष्ठ बनाने के लिए उसने अपनी पुत्री का विवाह शक्ति वर्मा के छोटे भाई से कर दिया।

राजाराजा के राज्यकाल में चोल साम्राज्य समस्त सुदूर दक्षिण में फैल गया। इसके अतिरिक्त लक्षद्वीप, मालद्वीप और उत्तरी लंका का भाग उसके साम्राज्य में शामिल था। राजाराजा एक महान विजेता ही नहीं था, बल्कि एक योग्य प्रशासक भी था। उसने अपने राज्य में स्थानीय स्वशासन को प्रोत्साहन दिया। वह कलाप्रेमी था और विद्वानों का आश्रयदाता था। वह शिव का भक्त था और उसने भव्य शिव मंदिरों का निर्माण कराया। उसने तंजौर में 'राजराजेश्वर' शिव मंदिर का निर्माण कराया। राजाराजा प्रथम शैव था जिसने शिवपाद शेखर की उपाधि प्राप्त की। अपने शासन के दौरान उसने ऐतिहासिक प्रशस्ति के साथ चोल अभिलेखों का निर्माण करवाने की प्रथा शुरू की। उसने सुमात्रा के विजय साम्राज्य के सम्राट भार विजयोत्तुंग वर्मन को नागपट्टम में चुड़ामणि बौद्ध विहार बनाने की आज्ञा दी।

राजेंद्र प्रथम (1014-1044 ई.)

राजाराजा महान के पश्चात उसका पुत्र राजेंद्र प्रथम राजा बना। राजाराजा ने अपने शासन-काल में ही उसे युवराज घोषित कर दिया था और उसने प्रशासन और सैनिक अभियानों का अच्छा अनुभव प्राप्त किया था। उसने 1044 ई. तक राज्य किया और अपने पिता से प्राप्त साम्राज्य को और भी अधिक सुदृढ़ एवं विस्तृत बनाया। राजाराजा ने उत्तरी लंका को जीतकर अपने राज्य में मिलाया था परंतु राजेंद्र प्रथम ने 1018 ई. में समस्त लंका को जीत कर अपने साम्राज्य में मिला लिया। उसके राज्यकाल में लक्षद्वीप और मालद्वीप पर चोलों का अधिकार बना रहा। पश्चिमी चालुक्य राजा जयसिंह द्वितीय के साथ उसका संघर्ष हुआ, परंतु राजेंद्र प्रथम को कोई निर्णायक सफलता नहीं मिली और तुंगभद्रा तट के प्रदेशों पर जयसिंह द्वितीय का अधिकार बना रहा। राजेंद्र प्रथम ने एक विशाल सेना पूर्वी भारत की ओर भेजी जो उड़ीसा होते हुए बंगाल पहुंची और गंगा प्रदेश में अपनी विजय पताका फहराई। इस विजय की खुशी में उसने गंगैकोंड चोलपुरम नामक नई राजधानी की स्थापना कर गंगैकोंडचोल की उपाधि ग्रहण की। उसकी अन्य उपाधियां थीं– 'मुंडकोंड' तथा 'पंडित'। उसने सिंचाई हेतु चोलगंगम नामक झील बनवायी। उसने मुंडीकोंड चोल, उत्तम चोल एवं पंडित चोल की उपाधियां प्राप्त कीं। उसने पूर्वी द्वीपसमूह में भी सफल सैनिक अभियान किए।

टिप्पणी

राजेंद्र प्रथम को अपने शासन-काल के अंतिम चरण में आंतरिक विद्रोहों का सामना करना पड़ा। लंका ने अपनी स्वतंत्रता के लिए विद्रोह कर दिया। पांड्य और केरल राज्यों में भी विद्रोह हो गया परंतु राजेंद्र प्रथम के पुत्र राजाधिराज प्रथम ने इन विद्रोहों को कुचल दिया।

राजेंद्र प्रथम के समय में चोल राज्य का बहुत विस्तार हुआ। 1044 ई. में उसकी मृत्यु के पश्चात उसका पुत्र राजाधिराज प्रथम शासक बना। उसने 1052 ई. तक राज्य किया। चालुक्य शासक सोमेश्वर को पराजित कर उसने विजय राजेंद्र तथा वीराभिषेक की उपाधि ली। उसने अश्वमेध यज्ञ किया जो प्राचीन भारत में यज्ञ का अंतिम उदाहरण है। 1052 ई. में राजाधिराज तथा सोमेश्वर चालुक्य नरेश सोमेश्वर की सेनाओं से कोप्पम में भयंकर युद्ध हुआ। इस युद्ध में राजाधिराज वीरगति को प्राप्त हुआ, किंतु उसके अनुज राजेंद्र द्वितीय ने चालुक्यों के साथ युद्ध जारी रखा और अंत में सोमेश्वर को परास्त करने में सफल हुआ। राजेंद्र द्वितीय (1052-1063) का संघर्ष चालुक्यों से चलता रहा। सिंहल द्वीप के शासक से भी उसका संघर्ष हुआ। राजेंद्र द्वितीय अपने साम्राज्य की सीमाओं की रक्षा करने में सफल रहा। वीर राजेंद्र प्रथम (1063-1070 ई.) राजेंद्र द्वितीय का उत्तराधिकारी हुआ। उसने चालुक्य नरेश सोमेश्वर प्रथम को पराजित किया। चोलों और चालुक्यों का दूसरा संघर्ष 'कुंडलशंकरगम' नामक स्थान में हुआ। वीर राजेंद्र ने इस विजय की उपलब्धि में तुंगभद्रा नदी के तट पर अपना विजय-स्तंभ स्थापित किया। उसने चालुक्यों पर विजय के उपलक्ष्य में 'आइवभल्लकुलकाल' की उपाधि धारण की। उसने भूमिदान द्वारा चालीस हजार विद्वानों तथा वेदशास्त्री ब्राह्मणों को संतुष्ट किया। उसके समय में बुद्ध भित्त ने 'वीर सोवियम' नामक तमिल ग्रंथ की रचना की। 1070 ई. में वीर राजेंद्र की मृत्यु के उपरांत अधिराजेंद्र सिंहासन पर बैठा।

वीर राजेंद्र की मृत्यु के उपरांत अधिराजेंद्र सिंहासन पर बैठा किंतु उसकी विद्रोहियों ने हत्या कर दी। इस प्रकार उसकी हत्या से चोल नरेशों की महान परंपरा का अंत हो गया। उसकी मृत्यु के उपरांत राजाराजा प्रथम का प्रपौत्र कुलोत्तुंग प्रथम (1070-1118 ई) राज सिंहासन पर बैठा। उसने पांड्य राज्य और केरल के नरेश को पराजित किया। उसने अपनी पुत्री का विवाह सिंहल युवराज से किया। इसके साथ ही उसने कन्नौज, कंबोज, चीन तथा वर्मा से अपने दौत्य संबंध साथापित किए। उसने 1077 ई. में 72 व्यापारियों को चीन भेजा था। उसके शासन में चोल साम्राज्य की समृद्धि को नये आयाम मिले। उसने दो बार भूमि की पैमाइश कराई। उसने करों को हटाकर 'शुंगतवित्त' (करों को हटाने वाला) की उपाधि धारण की। उसके समय में कांची की भी बड़ी उन्नति हुई। उसके समय में 'गंगकोड चोलपुरम' चोल राज्य की राजधानी थी।

कुलोत्तुंग प्रथम के उपरांत क्रमशः विक्रम चोल कुलोत्तुंग द्वितीय, राजाराजा द्वितीय, राजाधिराज द्वितीय कुलोत्तुंग तृतीय, राजाराजा तृतीय तथा राजेंद्र तृतीय सिंहासन पर बैठे। इनका राजत्वकाल लगभग सौ वर्षों तक रहा। परंतु चोल साम्राज्य उत्तरोत्तर पतन के गर्त में गिरता गया। इसका मुख्य कारण आंतरिक कलह तथा काकतीयों, होयसलों और पांड्यों के आक्रमण थे। अंत में 1258 ई. में पांड्य शासक सुंदर ने चोल नरेश राजेंद्र तृतीय को अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। इस प्रकार चोल राज्य के स्वतंत्र अस्तित्व का अंत हो गया।

टिप्पणी

राज्य व्यवस्था

चोल शासकों ने भारी भरकम उपाधि लेनी शुरू की जैसे- चक्रवर्तीगल। चोल वंश में मृत राजाओं की प्रतिमाएं पूजी जाती थीं। इससे इस बात का संकेत मिलता है कि चोल शासक राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धांत में विश्वास करते थे। चोलों से पूर्व भारतीय इतिहास में कुषाण राजाओं के बीच यह परंपरा प्रचलित थी। चोल शासकों का राज्याभिषेक निम्नलिखित स्थानों पर होता था- तंजौर, गंगइकोंडचोलपुरम, चिदंबरम और कांचीपुरम, जबकि चालुक्य शासकों का राज्याभिषेक पत्तादकल में होता था। इस अवधि में पुरोहित का कार्य एवं पद महत्वपूर्ण हो गया। पुरोहित न केवल राजगुरु वरन समस्त धार्मिक एवं आध्यात्मिक बातों में परामर्श देने के अतिरिक्त राजा का विश्वसपात्र एवं पापमोचक था।

चोल प्रशासन : चोल प्रशासन व्यवस्था एक जटिल नौकरशाही पर आधारित थी। राजा प्रशासन का प्रमुख था। चोल राजाओं के अनेक अभिलेख उस समय की प्रशासन-व्यवस्था पर भी प्रकाश डालते हैं। चोल साम्राज्य के विस्तार के साथ राजा की शक्ति और सम्मान में भी वृद्धि हो गई थी। राजा को असीमित शक्तियां प्राप्त थीं, फिर भी राजा प्रशासन में विभागों के प्रमुख से परामर्श लिया करता था। कुछ चोल राजाओं की मूर्तियां भी मंदिर में स्थापित की गई और कुछ विशेष मंदिरों के नाम राजा के नाम पर पड़े जैसे तंजौर का राजराजेश्वर मंदिर।

चोल साम्राज्य में उत्तराधिकार का नियम निश्चित था। राजा अपने जीवन-काल में ही अपना उत्तराधिकारी घोषित कर देता था जिसे युवराज कहते थे। युवराज को प्रशासन का अनुभव कराया जाता था और शासन-कार्य में वह अपने पिता की सहायता करता था। चोल प्रशासन में हम मंत्रिमंडल का उल्लेख नहीं पाते। अभिलेखों से पता चलता है कि सिविल सर्विस का संगठन सुव्यवस्थित था और विभागाध्यक्ष अपने विभाग का कार्य देखता था। अधिकारियों का उच्च वर्ग पेरूंदनम एवं निम्नवर्ग सेरूंदनम कहलाता था। अधिकारियों को भू राजस्व में दिया जाने वाला वेतन जीविता कहलाता था। एक विशेष अधिकारी ओलइकुट्टम राजा द्वारा जारी आदेशों को क्रियान्वित होते देखता था। किसी विशेष क्षेत्र की सुरक्षा के लिए शक्तिशाली अधिकारियों को सुरक्षाकर पाडिकावलकूली देना पड़ता था।

आय के साधन : राजा की आय का प्रमुख साधन भूमि-कर था। भूमि-कर को एकत्र करने का कार्य ग्रामसभाएं करती थीं। किसानों को इस बात की सुविधा थी कि वे भूमिकर चाहे नकद दें अथवा अनाज के रूप में। भूमिकर उपज का 1/3 भाग था। विशेष स्थिति, जैसे अकाल पड़ने पर भूमिकर माफ कर दिया जाता था।

राजा की आय के अन्य स्रोत थे- व्यवसाय कर, आयात कर, चुंगी कर, वनों और कारखानों से आय इत्यादि। व्यय की प्रमुख मदे थीं- राजा, राजपरिवार और उसका दरबार, नागरिक प्रशासन, सेना, मंदिर और सार्वजिनक निर्माण तथा धार्मिक अनुदान इत्यादि। भू राजस्व को कदमई कहा जाता था। राजस्व कर-आयम, सुपारी कर-कडमई, व्यापारिक प्रतिष्ठानों पर कर-कढ़ैइरै, द्वारकर-वाशल्परम, आजीवकों पर कर-आजीवक्काशु, नर-पशुधन कर-किडाक्काशु, वृक्षकर-मरमज्जाडि, गृहकर-मनैइरै, ग्राम सुरक्षा कर-पडिकावल, व्यवसाय कर-मगलमै, तेलघानी कर-पेविर कहे जाते थे।

सैनिक प्रशासन : चोल राजाओं ने एक विशाल सेना का संगठन किया। सेना के प्रमुख अंग थे- पैदल, घुड़सवार, हाथी और नौसेना। सेना में अनुशासन पर बड़ा जोर दिया जाता था। सेना को नियमित रूप से ट्रेनिंग दी जाती थी और विशेष सैनिक शिविर (कडगम)

टिप्पणी

भी लगाये जाते थे। अश्व सेना के लिए बहुमूल्य अरबी घोड़ों को खरीदा जाता था। इनमें अधिकांश घोड़े दक्षिण भारत की जलवायु के कारण मर जाते थे और इस प्रकार राज्य का बहुमूल्य धन विदेशों को चला जाता था।

चोल सेना की एक विशेषता जहाजी बेड़े का संगठन था। इस शक्तिशाली जहाजी बेड़े के कारण ही चोल राजाओं ने समुद्र पार अनेक द्वीपों को विजय किया था। बंगाल की खाड़ी एक चोल झील बन गई थी। वर्तमान समय की तरह, उस समय भी सेना में अनेक पद (रैंक) होते थे, जैसे- 'नायक', 'महादंडनायक' इत्यादि। विशेष वीरता दिखाने पर परमवीरचक्र की तरह 'क्षत्रिय शिखामणि' की उपाधि दी जाती थी। यद्यपि सेना में अनुशासन पर जोर दिया जाता था, फिर भी चोल सैनिकों का विजित शत्रुओं के प्रति व्यवहार बहुत बर्बर होता था। स्त्रियों और बच्चों पर भी अमानुषिक अत्याचार किए जाते थे। सेना में अलग-अलग हिस्सों के अलग-अलग नाम थे। राजा की व्यक्तिगत सुरक्षा में पैदल सेना- बड़ेपेर्रकैक्कोलस, गजारोही दल-कुंजिरमल्लर, अश्वारोही दल- कुच्चौबगर, धनुर्धारी दल- बल्लिगढ़, पैदल सेना में सर्वाधिक शक्तिशाली-कैककोलर, भाला से प्रहार करने वाला दल-सैंगुंदर, राजा का अति विश्वसनीय अंगरक्षक-वलैक्कार कहलाते थे। सेना गुल्म एवं छावनियों (कड़गम) में रहती थी। सेना की टुकड़ी का नेतृत्व करने वाला नायक तथा सेनाध्यक्ष महादंडनायक कहलाता था।

प्रादेशिक प्रशासन : चोल साम्राज्य प्रांतों में विभाजित था जिन्हें 'मंडलम' कहा जाता था। चोल साम्राज्य में 8 मंडल थे। मंडल का प्रशासन करने के लिए किसी राजकुमार या उच्च अधिकारी की नियुक्ति की जाती थी, जो राजा के वाइसराय के रूप में कार्य करता था। प्रत्येक मंडल 'कोट्टम' में बंटा हुआ था। कोट्टम 'नादुओं' में विभाजित थे। 'नादु' संभवतः आधुनिक जिले के समान था। कई ग्रामों के समूह को 'कुर्रम' कहते थे।

स्थानीय स्वशासन : चोल प्रशासन की प्रमुख विशेषता उसका स्थानीय स्वशासन था। ग्राम स्वशासन की पूर्ण इकाई थे और ग्राम का प्रशासन ग्रामवासी स्वयं करते थे। चोल शासकों के अभिलेखों से इस व्यवस्था पर विस्तृत प्रकाश पड़ता है।

दंड व्यवस्था : आर्थिक दंड सामाजिक अपमान पर आधारित होते थे। आर्थिक दंड नकद लिया जाता था जो संभवतः सोने की मुद्रा थी।

अभिलेखों से प्राप्त जानकारी के अनुसार ग्राम को 30 भागों में विभाजित कर दिया जाता था। निश्चित योग्यता रखने वाले एक व्यक्ति को चुना जाता था। निम्नलिखित योग्यता आवश्यक थी- (1) वह उस ग्राम का निवासी हो। (2) उसकी आयु 35 और 70 वर्ष के बीच हो। (3) एक-चौथाई वेलि (लगभग डेढ़ एकड़) से अधिक भूमि का स्वामी हो। (4) अपनी ही भूमि पर बनाए मकान में रहता हो। (5) वैदिक मंत्रों और ब्राह्मण ग्रंथों का सम्यक ज्ञान हो।

निम्नलिखति बातें सदस्यता के अयोग्य घोषित करती थीं-

(1) जो पिछले तीन वर्षों से किसी समिति का सदस्य रहा हो।

(2) जिसने सदस्य के रूप में आय-व्यय का लेखा-जोखा अपने विभाग को न दिया हो।

(3) भयंकर अपराधों में अपराधी घोषित हो।

टिप्पणी

इस प्रकार की योग्यता रखने वाले 30 भागों में से प्रत्येक में एक व्यक्ति को घड़े में से निकाले पर्चे के आधार पर चुन लिया जाता था। नाम के ये पर्चे किसी बालक द्वारा निकलवा लिए जाते थे।

इन सदस्यों का कार्यकाल 1 वर्ष था। इन सदस्यों में 12 स्थायी समिति के लिए, 12 उपवन समिति के लिए और 7 तालाब समित के लिए चुने जाते थे। समिति को वारियम कहते थे और यह ग्राम सभा के कार्यों का संचालन करती थी। ग्राम सभा के कार्यों के लिए कई समितियां होती थीं।

ग्राम सभा के अनेक कार्य थे। यह भूमिकर एकत्र करके सरकारी खजाने में जमा करती थी, तालाबों और सिंचाई के साधनों का प्रबंध करती थी। ग्राम के मंदिरों और सार्वजनिक स्थानों की देखभाल, ग्रामवासियों के मुकदमों का फैसला करना, ग्राम की सड़कों को बनवाना, ग्राम में औषधालय खोलना, ग्राम के बाजारों और पैठों का प्रबंध करना इत्यादि भी ग्राम सभा के कार्य थे।

ग्राम सभा के अधिवेशन मंदिरों में होते थे। केंद्रीय सरकार गांव के मामलों में हस्तक्षेप नहीं करती थी। इस प्रकार ग्राम स्थानीय स्वशासन की एक महत्वपूर्ण इकाई था।

व्यापारियों में संबंधित हितों की देखभाल हेतु-मणिग्रामम, वलंजियार, नानादेशी जैसे समूह थे। धार्मिक हित समूहों में 'मूलपेरूदियार' था। यह मंदिरों की व्यवस्था की निगरानी करता था। संपूर्ण साम्राज्य मंडलों (प्रांतों) में बंटा हुआ था। प्रांतों का विभाजन वलनाडु या नाडु में होता था। उसके नीचे गांव का समूह कुर्रम या कोट्टम कहलाता था। सबसे नीचे गांव था। ग्राम की स्थिति पट्टे के अनुसार भिन्न प्रकार की होती थी। गांवों की तीन श्रेणियां थीं- ऐसे ग्राम सबसे ज्यादा होते थे जिनमें अंतर्जातीय आबादी होती थी एवं जो भू-राजस्व चुकाते थे। सबसे कम संख्या में ऐसे ग्राम होते थे जो ब्रह्मदेय कहलाते थे एवं इनमें पूरा ग्राम या ग्राम की भूमि किसी एक ब्राह्मण समूह को दी गई होती थी। ब्रह्मदेय से संबंधित अग्रहार अनुदान होता था जिसमें ग्राम ब्राह्मण बस्ती होता था एवं भूमि अनुदान में दी गई होती थी। ये भी कर मुक्त थे, किंतु ब्राह्मण अपनी इच्छा से निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था कर सकते थे।

देवदान : ऐसे गांव देवदान कहलाते थे जो मंदिरों को दान में दिए गए होते थे। ऐसे गांवों में भू-राजस्व वसूला जाता था किंतु उसकी वसूली सरकारी अधिकारी के बजाय मंदिर के अधिकारी करते थे। ग्राम स्तर पर तीन प्रकार की संस्थाएं थीं। साधारण गांव में 'उर' नामक संस्था थी जबकि ब्रह्मदेय या अग्रहार गांव में सभा और ऐसी बस्ती थी जिनमें व्यापारी निवास करते थे, वहां नगरम नामक संस्था गठित होती थी- 'सभा' एवं 'उर' दोनों गठित की जाती थी। परांतक प्रथम के समय के उत्तरमेरु अभिलेख (919-929) से सभा की कार्रवाई पर प्रकाश पड़ता है। सबसे प्राचीन उत्तरमेरु अभिलेख पल्लव शासक दंतिवर्मन के काल का है। सभा एक औपचारिक संस्था थी जो ग्रामीणों की एक गैर औपचारिक संस्था उरार के साथ मिलकर काम करती थी। सभा अपनी समितियों के माध्यम से कार्य करती थी। यह वारियम कहलाती थी। समिति में 30 सदस्य चुने जाते थे। इन 30 सदस्यों में से 12 ज्ञानी व्यक्तियों की एक वार्षिक समिति गठित की जाती थी जो 'समवत्सर वारियम' कहलाती थी। 'तोट्टावारियम' (उपवन समिति), 'एनवारियम' (सिंचाई समिति), 'पंचभार' (पंच बनकर झगड़ों का निपटारा), 'पोनवारियम' (स्वर्ण समिति)। सभा को पेरूर्गुरी कहा गया है। इसके सदस्यों को पेरूमक्कल कहा जाता था।

संन्यासियों एवं विदेशियों की समिति को उदासिकवारियम कहा जाता था। उर की कार्यकारिणी समिति को उलुंगनाट्टार कहा जाता था। प्रायः सभी बैठकें मंदिर के अहाते में होती थीं। ढोल बजाकर लोगों को एकत्रित किया जाता था।

टिप्पणी

सामाजिक व्यवस्था

प्राचीन काल में हिंदू समाज चार वर्गों- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में विभाजित था। इस काल में समाज में अनेक जातियां और उपजातियां हो गईं। अनेक जातियां पेशों के आधार पर बन गईं, जैसे- लोहे का काम करने वाला लुहार, सोने का काम करने वाला स्वर्णकार, लकड़ी का काम करने वाला बढ़ई और चमड़े का काम करने वाला चर्मकार कहलाया। अनुलोम और प्रतिलोम विवाह के कारण भी मिश्रित जातियां बनीं। अनुलोम विवाह वह था जिसमें पिता की जाति ऊंची और माता की जाति नीची हो। जब ऊंची जाति की कन्या अपने से नीची जाति के लड़के से विवाह करती थी तो उसे प्रतिलोम विवाह कहते थे।

समाज में ब्राह्मण का ऊंचा स्थान था। दक्षिण भारत में बल्लालो का भी स्थान ऊपर था। ब्राह्मण भी अनेक समूह में विभाजित हो गए, जैसे- सारस्वत, सरयूपारी, पाठक, शुक्ल, अग्निहोत्री, द्विवेदी, चतुर्वेदी इत्यादि। ब्राह्मणों का मुख्य कार्य पूजा-पाठ, धार्मिक अनुष्ठान कराना और मंदिरों में पुरोहित का कार्य करना था। ब्राह्मणों के बाद क्षत्रियों का स्थान था जिन्हें राजपूत कहा जाता था। इनका कार्य देश की रक्षा करना, प्रशासन चलाना और युद्ध करना आदि था। वैश्यों का कार्य व्यापार, दुकानदारी और खेती-बाड़ी था। इन तीनों वर्गों को द्विज के नाम से जाना जाता था। शूद्रों का क्षेत्र सेवा-कार्य करना था। समाज में इनकी दशा शोचनीय थी। एक नई जाति का उदय हुआ जिसे कायस्थ कहते थे। नवीं शताब्दी के आरंभ में कायस्थ कर्मचारी के लिए प्रयुक्त होता था। परंतु बारहवीं शताब्दी में कायस्थ एक जाति रूप में माने जाते लगे। जाति का विभाजन बलंगै (दायीं भुजा वाले) और इलंगै (बायीं भुजा वाले) में भी होता था। इन दोनों में क्रमशः 98-98 जातियां थीं। इन वर्गों में वलंगै के पास विशेषाधिकार थे। इन दोनों के बीच कभी-कभी संघर्ष भी छिड़ जाते थे। ऐसा ही एक संघर्ष कुलोत्तुंग के समय हुआ था। ब्राह्मण और बल्लाल जो समाज में सबसे महत्वपूर्ण थे, बलंगै जातियों का समर्थन करते थे क्योंकि ये जातियां किसी-न-किसी रूप में कृषि उत्पादन से संबंधित थीं। इलंगै जातियों में कम्माल जाति अपनी आर्थिक उपयोगिता के कारण सबसे महत्वपूर्ण थी। चोल सम्राटों ने उनकी आर्थिक उपयोगिता देखते हुए उन्हें यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकार दिया। इलंगै जातियों को अधिक कर देना पड़ता था। इस तरह हम देखते हैं कि समकालीन दक्षिण भारत में सामाजिक जीवन का आधार आर्थिक था।

हिंदू समाज में जन्म से लेकर मृत्यु तक अनेक संस्कारों का प्रचलन था। इनमें विवाह संस्कार प्रमुख था। आम तौर पर सजातीय विवाह होते थे, परंतु अंतर्जातीय विवाह का भी प्रचलन था। एक गोत्र के लोगों में विवाह अमान्य था। आमतौर पर पुरुष एक पत्नी रखते थे, परंतु राजाओं और सामंतों में बहु-विवाह का प्रचलन था। लोग शाकाहारी थे, परंतु राजपूतों में मांस-मदिरा का सेवन होता था। मुसलमानों के संपर्क का सामाजिक रीति-रिवाजों और भोजन पर भी प्रभाव पड़ा। आरंभ में दोनों के संबंध कटु रहे। मंदिरों के विनाश और बलपूर्वक धर्म-परिवर्नत ने एक नई उथल-पुथल पैदा कर दी। समाज में प्रायश्चित के विधान द्वारा हिंदू से मुसलमान बने हुए व्यक्तियों को पुनः हिंदू धर्म में दीक्षित

करने के अनेक प्रयास हुए। परंतु ग्यारहवीं शताब्दी में पुरोहितों ने शुद्धि को प्रोत्साहन देना बंद कर दिया और इस कारण हिंदुओं का इस्लाम धर्म स्वीकार करने के बाद पुनः हिंदू धर्म में लौटना कठिन हो गया।

टिप्पणी

जीवन स्तर : राजा, उसके मंत्री और सामंत शान-शौकत का जीवन बिताते थे। वे विशाल भवनों में रहते थे, बढ़िया वस्त्र धारण करते थे और बहुमूल्य आभूषणों को धारण करते थे। इनके परिवार में अनेक स्त्रियां होती थीं। राज-परिवार और सामंतों के घरों में बड़ी संख्या में नौकर-चाकर होते थे।

व्यापारी वर्ग समृद्ध था। व्यापारी रहन-सहन में सामंतों की नकल करते थे। नगरों में रहने वाले लोग भी आमतौर पर खुशहाल थे। परंतु समाज में निर्धन वर्ग भी था। कृषक जनता की आर्थिक स्थिति साधारण थी। यद्यपि भूमिकर कम था, परंतु किसान को अन्य कर भी देने पड़ते थे। दुर्भिक्ष भी समय-समय पर पड़ते थे और ऐसे समय अन्य स्थानों से सहायता न पहुंचने पर निर्धन लोगों को भूखों मरना पड़ता था। इस प्रकार धनी और निर्धन व्यक्ति के जीवन-स्तर में महान अंतर था।

स्त्रियों की दशा : इस काल में स्त्रियों के सामाजिक स्तर में गिरावट आई। नारी की स्वतंत्रता पर अनेक अंकुश लग गए। बचपन में उसे पिता पर और युवावस्था में पति पर निर्भर रहना होता था। कन्या को अपना जीवनसाथी चुनने की स्वतंत्रता थी। स्वयंवर का प्रचलन था। इस काल में कन्या के विवाह की आयु कम कर दी गई और यह कहा गया कि युवावस्था से पूर्व कन्या का विवाह कर देना चाहिए। बारहवीं शताब्दी में तुर्कों द्वारा स्त्रियों के अपहरण को रोकने के लिए कन्या के विवाह की आयु और कम कर दी गई। समाज में पर्दे की प्रथा का प्रचलन नहीं था, परंतु कालांतर में मुसलिम संपर्क के कारण पर्दे की प्रथा का प्रचलन हो गया जिससे नारी जाति की उन्नति अवरुद्ध हो गयी।

समाज में सती प्रथा का प्रचलन था। पति की मृत्यु के बाद पत्नी उसकी चिता पर जलकर भस्म हो जाती थी। अरब लेखक सुलेमान के अनुसार, राजा की मृत्यु पर उसकी रानियां भी उसकी चिता के साथ सती हो जाती थीं। राजपूतों में जौहर की प्रथा प्रचलित थी। जब राजपूत विजय की आशा नहीं देखते थे, तब केसरिया वस्त्र धारण कर शत्रु पर टूट पड़ते थे और स्त्रियां अपने सतीत्व की रक्षा के लिए सामूहिक रूप से जल जाती थीं। इस प्रथा को जौहर कहते थे।

अपनी प्रगति जांचिए

3. किस राज्य में उत्तराधिकार के युद्ध में नवशासकों की मृत्यु हो गई थी?

(क) चोल (ख) चेर

(ग) पांडय (घ) सरदारी

4. किसके समय में चोल राज्य का बहुत विस्तार हुआ?

(क) राजेंद्र द्वितीय के (ख) सोमेश्वर के

(ग) अधिराजेंद्र के (घ) राजेंद्र प्रथम के

2.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

टिप्पणी

1. (ख)
2. (ग)
3. (क)
4. (घ)

2.5 सारांश

चौथी शताब्दी ई. के आरंभ के आस-पास श्रीगुप्त अथवा गुप्त नामक एक राजा मगध के एक छोटे से राज्य में राज्य करता था, जिसके अधीन संभवत: बंगाल का कुछ अंश था। उसके बाद उसका बेटा घटोत्कच शासक हुआ। बाप और बेटे चंद्रगुप्त के समय से इस वंश के इतिहास में एक नये अध्याय का आरंभ हुआ।

गुप्त संवत के नाम से 320 ई. से एक नया संवत् प्रचलित हुआ था, जिसके संबंध में साधारणतया समझा जाता है कि वह चंद्रगुप्त के राज्यारोहण से आरंभ हुआ। चंद्रगुप्त के दोनों पूर्वजों को केवल महाराज कहा गया है, किंतु उसका उल्लेख महाराजाधिराज के रूप में हुआ है। यह बात इस ओर संकेत करती जान पड़ती है कि उसने अपने छोटे से क्षेत्र को चारों ओर बढ़ाकर एक महत्वपूर्ण राज्य का रूप दिया। उसका ऐसा करना किस प्रकार संभव हो सका, ज्ञात नहीं है। उसने लिच्छवी वंश की राजकुमारी कुमारदेवी के साथ विवाह किया और उसकी शबीह को अपनी शबीह के साथ सिक्कों पर अंकित कराया। उसके बेटे एवं उत्तराधिकारी महान सम्राट समुद्रगुप्त ने लिच्छवियों में अपना मातृकुल होने में गौरव का अनुभव किया। इन बातों से स्वाभाविक अनुमान होता है कि लिच्छवियों के साथ हुए वैवाहिक संबंध ने गुप्तों को राजनीतिक महत्ता प्राप्त करने में काफी सहायता की होगी। परंतु यह अनुमान मात्र है और उसके लिए निश्चित प्रमाण का अभी तक अभाव है। यह संभव है कि गुप्तों ने लिच्छवियों के सदृश प्राचीन क्षत्रिय जाति में विवाह कर समाज में उच्च स्थान प्राप्त किया हो और इस बात को उन्होंने समस्त संभव उपायों से घोषित किया हो।

चंद्रगुप्त के राज्य की निश्चित सीमा ज्ञात नहीं है; किंतु संभवत: वह पश्चिम में इलाहाबाद तक विस्तृत था। उसकी मृत्यु लगभग 340 ई. में हुई और उसका उत्तराधिकारी उसका बेटा समुद्रगुप्त हुआ।

समुद्रगुप्त निस्संदेह शत समरों का योद्धा था, जैसा उसके राजकवि ने प्रयाग-स्थित अशोक स्तंभ पर अंकित लंबी प्रशस्ति में लिखा है। उसके बारे में अन्य बातें भी, जिनकी चर्चा ऊपर हुई है, हमें इसी प्रशस्ति से ज्ञात हो सकी हैं। वह ने केवल अपने युग का प्रथम सैनिक था वरन उच्च कोटि का राजनीतिज्ञ भी था। यही नहीं, वह सुसंस्कृत भी था। राजकवि ने उसे न केवल वीर और युद्धकुशल ही बताया है, वरन कहा है कि वह विद्याव्यसनी एवं उच्च कोटि का कवि और संगीतज्ञ भी था। यह प्रशंसा कवि की कोरी कल्पनामात्र नहीं है, क्योंकि वह अपने कुछ सिक्कों पर वीणा बजाते अंकित किया गया है। यह भी कहा गया है कि वह स्वभाव का मृदु था। वह अपने पिता का ही लाड़ला

टिप्पणी

न था, वरन सारी जनता उसे चाहती थी। समुद्रगुप्त संभवतः चंद्रगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र नहीं था तथापि चंद्रगुप्त ने उसे ही अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया था। सभी गुप्त राजा ब्राह्मण-धर्मावलंबी थे। समुद्रगुप्त ने चिरोत्सन्न अश्वमेध यज्ञ को पुनः प्रतिष्ठित किया। किंतु वह धर्मसहिष्णु था और अपने अन्य धर्मों को भी प्रश्रय दिया। यह इस बात से भलीभांति प्रकट है कि उसने सिंहल के अपने मित्र और बौद्ध राजा को बोधगया में अपनी प्रजा के लिए एक विहार बनवाने की उदारतापूर्ण आज्ञा दी थी। जान पड़ता है कि बोधगया आने वाले सिंहली यात्रियों को निवास के अभाव के कारण काफी कठिनाई होती थी, अतः उन्होंने यह बात अपने देश के राजा मेधवर्ण से कही। मेधवर्ण ने अमूल्य उपहारों के साथ एक दूत समुद्रगुप्त के पास भेजा और अपनी प्रजा के लिए विहार बनवाने की आज्ञा मांगी। गुप्त सम्राट ने इस प्रशंसनीय कार्य के लिए सहर्ष अनुमति प्रदान की और वह यथाविधि कार्यान्वित भी हुई।

गुप्तकालीन समाज में वर्ण-व्यवस्था पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित थी। भारतीय समाज के परंपरागत चार वर्णों-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र-के अतिरिक्त कुछ अन्य जातियां भी अस्तित्व में आ चुकी थीं। चारों वर्णों की सामाजिक स्थिति में विभेद किया जाता था। वाराहमिहिर के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्व तथा शूद्र के घर क्रमशः पांच, चार, तीन तथा दो कमरों वाले होने चाहिए। न्याय-व्यवस्था में भी विभिन्न वर्णों की स्थिति के अनुसार भेद-भाव बरते जाने का विधान मिलता है। परंतु इस समय जाति-व्यवस्था उतनी जटिल नहीं हो पाई थी जितनी कि परवर्ती कालों में देखने को मिलती है।

दक्षिण भारत में जनजीवन पर पहले पहल संगम साहित्य से ही स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। यद्यपि हमें इस साहित्य में राजनीतिक जीवन, राज्यों के गठन तथा राजनीतिक गतिविधियों के तिथिक्रम के सम्बन्ध में यथेष्ट जानकारी प्राप्त नहीं होती फिर भी यह दक्षिण भारत के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक इतिहास तथा संस्कृति के अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण स्त्रोत है। ऐसा लगता है कि ई.पू. प्रथम शती तक जहाँ उत्तर पश्चिम दक्षिण में सातवाहन तथा वाकाटका का उद्‌भव हुआ वहीं सूदर दक्षिण में तीन प्रमुख राज्यों पांडय, चेर और चोलों का उद्‌भव हो चुका था जैसा कि संगम साहित्य से स्पष्ट है। कलिंग के शासक खाखेल के प्रसिद्ध हाथीगुफा अभिलेख में भी तमिल प्रदेश के तीन राज्यों के संघ (त्रामिर देश संघटम्‌) को खाखेल शासक द्वारा पराजित करने का वर्णन आता है। किंतु इससे भी पहले 4 शताब्दी ई.पू. में मेगस्थनीज ने पांडयों के राज्य का उल्लेख किया है संगम कवियों ने इन तीन राज्यों की प्राचीनता तथा सम्मानित परम्परा प्रदान करने के लिए इनका सम्बन्ध महाभारत के कौरव पांडवों से जोड़ा है।

चोल राज्य बहुत प्रचीन राज्य था। इसका उल्लेख महाभारत, मेगास्थनीज के यात्रा-वृत्तांत और अशोक के शिलालेखों से प्राप्त होता है। संगम साहित्य में अनेक चोल शासकों का वर्णन है। इस राज्य में मद्रास, उसके आसपास का क्षेत्र और कर्नाटक के कुछ क्षेत्र सम्मिलित थे। संगम साहित्य में करिकाल को चोलवंश का संस्थापक कहा गया है। उसका अभ्युदय-काल दूसरी शताब्दी माना जाता है। उसने अपने साम्राज्य के विस्तार के लिए सक्रिय प्रयास किए। उसकी बढ़ती हुई शक्ति से चिंतित पांड्यों और चेरों आदि ने उसके विरुद्ध संघ बनाया किंतु 'करिकाल' के सामने वे ठहर न सके। उसने अपनी पुत्री आदिनंदि का विवाह चेर राजकुमार अति के साथ कर दिया था। 'करिकाल' एक सफल

टिप्पणी

विजेता होने के साथ ही कुशल शासक भी था। उसके शौर्य की गाथाओं को कवियों ने ओजस्वी स्वर दिए हैं। 'पट्टूपट्टू' नामक काव्य-संग्रह में उसके शौर्य की गाथाएं संकलित हैं। करिकाल के बाद उसका पुत्र 'नेद्युदिकिल्ल' राजसिंहासन पर बैठा। वह एक अशक्त शासक था। फलतः उसके शासन-काल में चोल राजवंश पतन के गर्त में चला गया। उसे पतन के गर्त से निकलने में लंबा समय लगा। नवीं शताब्दी के पूर्वाद्ध में उस राजवंश का पुनः उत्कर्ष हुआ। इसका श्रेय चोलवंशी शासक विजयालय को है। विजयालय पल्लवों का एक सामंत था। पल्लवों और पांड्यों के युद्ध के समय उसने तंजौर पर अधिकार बनाया। वहां उसने निशुंभसूदनी का मंदिर बनवाया। इस प्रकार 850 ई. के आसपास उसने स्वतंत्र चोल राज्य की स्थापना की। उसे चोल साम्राज्य का द्वितीय संस्थापक भी कहा जाता है। विजय के अवसर पर उसने नरकेशरी की उपाधि धारण की थी।

चोल राज्य बहुत प्रचीन राज्य था। इसका उल्लेख महाभारत, मेगास्थनीज के यात्रा-वृत्तांत और अशोक के शिलालेखों से प्राप्त होता है। संगम साहित्य में अनेक चोल शासकों का वर्णन है। इस राज्य में मद्रास, उसके आसपास का क्षेत्र और कर्नाटक के कुछ क्षेत्र सम्मिलित थे। संगम साहित्य में करिकाल को चोलवंश का संस्थापक कहा गया है। उसका अभ्युदय-काल दूसरी शताब्दी माना जाता है। उसने अपने साम्राज्य के विस्तार के लिए सक्रिय प्रयास किए। उसकी बढ़ती हुई शक्ति से चिंतित पांड्यों और चेरों आदि ने उसके विरुद्ध संघ बनाया किंतु 'करिकाल' के सामने वे ठहर न सके। उसने अपनी पुत्री आदिनंदि का विवाह चेर राजकुमार अति के साथ कर दिया था। 'करिकाल' एक सफल विजेता होने के साथ ही कुशल शासक भी था। उसके शौर्य की गाथाओं को कवियों ने ओजस्वी स्वर दिए हैं। 'पट्टूपट्टू' नामक काव्य-संग्रह में उसके शौर्य की गाथाएं संकलित हैं। करिकाल के बाद उसका पुत्र 'नेद्युदिकिल्ल' राजसिंहासन पर बैठा। वह एक अशक्त शासक था। फलतः उसके शासन-काल में चोल राजवंश पतन के गर्त में चला गया। उसे पतन के गर्त से निकलने में लंबा समय लगा। नवीं शताब्दी के पूर्वाद्ध में उस राजवंश का पुनः उत्कर्ष हुआ। इसका श्रेय चोलवंशी शासक विजयालय को है। विजयालय पल्लवों का एक सामंत था। पल्लवों और पांड्यों के युद्ध के समय उसने तंजौर पर अधिकार बनाया। वहां उसने निशुंभसूदनी का मंदिर बनवाया। इस प्रकार 850 ई. के आसपास उसने स्वतंत्र चोल राज्य की स्थापना की। उसे चोल साम्राज्य का द्वितीय संस्थापक भी कहा जाता है। विजय के अवसर पर उसने नरकेशरी की उपाधि धारण की थी।

2.6 मुख्य शब्दावली

- **सदृश** : समान, उचित, उपयुक्त।
- **करद** : कर खिराज देनेवाला।
- **लिच्छवि** : एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक राजवंश।
- **सुकृत** : पुण्य, सत्कर्म।
- **प्रभूत** : प्रचुर, बहुत अधिक।
- **भित्त** : खंड, दीवार, भाग।
- **दौत्य** : संदेश, दूतत्व।

टिप्पणी

2.7 स्व-मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु-उत्तरीय प्रश्न

1. चंद्रगुप्त का उत्तराधिकारी कौन था?
2. गुप्त वंश का उत्तराधिकार कुमारगुप्त के बाद किसे प्राप्त हुआ?
3. प्रतिहार और महाप्रतिहार के मुख्य कार्य क्या हैं?
4. राजाराजा ने कब से कब तक राज्य किया?
5. राजेंद्र प्रथम ने क्या-क्या उल्लेखनीय कार्य किए?

दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न

1. समुद्रगुप्त के व्यक्तित्व तथा उसके दक्षिणी अभियान की विवेचना कीजिए।
2. गुप्त साम्राज्य की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए तथा उसके उत्थान के बारे में लिखिए।
3. गुप्त साम्राज्य के प्रशासनिक संगठन की समीक्षा कीजिए।
4. गुप्त साम्राज्य के सामाजिक व आर्थिक सुधारों की व्याख्या कीजिए।
5. चोल राज्य की विस्तारपूर्वक विवेचना कीजिए।

2.8 सहायक पाठ्य सामग्री

1. श्रेण्य युग (आर. सी. मजूमदार)- मोतीलाल बनारसीदास।
2. प्राचीन भारत का इतिहास (शैलेंद्र सेंगर)- अटलांटिक पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स।
3. प्राचीन भारत का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास (धनपति पांडेय, अशोक अनंत)- मोतीलाल बनारसीदास।
4. पूर्वमध्यकालीन भारत (प्रशांत गौरव)- राजकमल प्रकाशन।
5. अशोक (राधा कुमुद मुखर्जी)- मोतीलाल बनारसीदास।
6. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतहास (ओमप्रकाश प्रसाद, प्रशांत गौरव)- राजकमल प्रकाशन।
7. नंद मौर्य युगीन भारत (के ए नीलकंठ शास्त्री)- मोतीलाल बनारसीदास।

इकाई 3 दिल्ली सल्तनत, विजयनगर और इस्लामी राज्य : प्रकृति, कार्य एवं सिद्धांत

संरचना

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 दिल्ली सल्तनत के अंतर्गत राज्य की प्रकृति और कार्य
3.3 राज्य के इस्लामी सिद्धांत
3.4 विजयनगर राज्य : संरचना, विशेषताएं और प्रकृति
3.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.6 सारांश
3.7 मुख्य शब्दावली
3.8 स्व-मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.9 सहायक पाठ्य सामग्री

3.0 परिचय

वस्तुत: दिल्ली सल्तनत पूर्वी विरोध का एक हिस्सा थी, लेकिन व्यावहारिक नजरिए से वह एक स्वतंत्र राज्य के रूप में थी। इस्लाम धर्मशास्त्रियों का मानना था कि शरियत की श्रेष्ठता हमेशा बरकरार रहेगी। इसी धारणा पर चलते हुए दिल्ली के सुल्तानों ने अपने अभियान जारी रखे थे। दिल्ली सल्तनत के अंतर्गत राज्य की प्रकृति और उसकी समस्त गतिविधियां पूर्णत: इस्लामी सिद्धांतों के अनुसार ही थीं।

भारतवर्ष पर तुर्कों और मुगलों का आक्रमण और कालांतर में उनके द्वारा हिंदुस्तान पर शासन करने से राज्यों का प्रशासन और इनकी अर्थव्यवस्था 'राज्यों के इस्लामिक सिद्धांत' से संचालित होने लगी। फलस्वरूप एक मिली-जुली संस्कृति का उदय हुआ।

प्रस्तुत इकाई में हम दिल्ली के सुल्तानों तथा मुगलों की राज्य-व्यवस्था, सैन्य तथा अन्य प्रशासनिक प्रबंधनों का अध्ययन करेंगे। इसके साथ-साथ हम दक्षिण भारत के एक महान राज्य विजयनगर साम्राज्य की संरचना, इसकी विशेषताओं तथा प्रकृति का भी अध्ययन करेंगे।

3.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप-

- दिल्ली सल्तनत के विभिन्न पहलुओं को देख-परख पाएंगे;
- राज्य की प्रकृति और कार्यों के संबंध में जान पाएंगे;
- राज्य के इस्लामी सिद्धांतों को समझ पाएंगे;
- विजयनगर राज्य के बारे में जानकारी ग्रहण कर पाएंगे।

3.2 दिल्ली सल्तनत के अंतर्गत राज्य की प्रकृति और कार्य

इस्लाम धर्म का उद्‌भव सातवीं शताब्दी में अरब में हुआ। इसके प्रवर्तक मुहम्मद साहब ने (571-632 ई.) इस नवीन धर्म की स्थापना की। उन्होंने जिन धार्मिक-सामाजिक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया वे कालांतर में, उनकी मृत्यु के उपरांत कुरान में संकलित किए गए या हदीसों में व्यक्त किए गए। कुरान व हदीस में उल्लिखित नियमों को शरा या शरियत भी कहते हैं। प्रत्येक मुसलमान को शरा का पालन करना पड़ता है और शरा के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलना पड़ता है। वास्तव में शरियत के नियम अपरिवर्तनीय, सर्वश्रेष्ठ एंव सर्वमान्य समझे जाते हैं। सभी मुसलमानों से अपेक्षा की जाती है कि वे अपने जीवन में धर्म के प्रति पूर्ण निष्ठा रखते हुए मन व विचारों से शरियत का पूर्ण रूप से पालन करते रहेंगे।

अपने जीवन काल में मुहम्मद साहब ने असंगठित व युद्धप्रिय अरब कबीलों को एकता के सूत्र में बांधा और उन्हें एकता के महत्व से परिचित कराया। उन्होंने इन कबीलों को प्रेरित किया कि वे अल्लाह या ईश्वर की इबादत में पूर्णत: संलग्न रहें और पारस्परिक भ्रातृत्व बनाए रखें। उनके इस उपदेश के परिणामस्वरूप सिद्धांत: किसी प्रकार का धार्मिक विभाजन मुसलिम समाज में न हो सका अपितु वह एक इकाई के रूप में बना रहा। मुसलमान चाहे किसी भी इस्लामी मत का अनुयायी हो अपने समाज का वह एक अविच्छिन्न अंग माना जाता है। मुहम्मद साहब की मृत्य के बाद इस्लामी शक्ति को नवीन चुनौतियों का सामना करना पड़ा। मुसलिम समुदाय को एक ऐसे नेता की आवश्यकता थी जो मुहम्मद साहब के स्थान पर उनका नेतृत्व व मार्गदर्शन कर सके। मुहम्मद साहब ने न तो अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया था और न ही इस संबंध में कोई नियम बनाया था। उन्होंने कुरान में केवल इतना ही कहा है कि मुसलमान स्वयं पारस्परिक विचार-विमर्श से अपने मामलों को तय करें। परिणामस्वरूप मुहम्मद साहब की मौत के बाद जब उत्तराधिकारी के चयन का प्रश्न उठा तो भरी सभा में उलेमाओं के मध्य अनवर ने प्रस्ताव रखा कि दो इमाम होने चाहिए- प्रथम कुरेश कबीले के लिए तथा द्वितीय उनके लिए। परंतु इस्लाम को विभाजित होने से बचाने के लिए सभा में उपस्थित व्यक्तियों ने सर्वसम्मति से अबू बक्र को अपना नेता चुना। सर्वसाधारण ने इसका अनुमोदन किया और उसके प्रति स्वामिभक्त बने रहने की सौगंध खायी। निर्वाचित अबू बक्र को खलीफा कहकर संबोधित किया जाने लगा।

अबू बक्र के खलीफा होने पर कुछ बिद्रिन जातियों ने विरोध किया। उन्होंने जकात देने से इनकार कर दिया तथा वैधानिक करों को भी देने से मना कर दिया और केंद्रीय शक्ति से पृथक होने की प्रक्रिया प्रारंभ की। किंतु अबू बक्र ने इस दृष्टिकोण को इस्लाम विरोधी माना व तत्काल उन्हें अपने अंतर्गत लाने के लिए उनके विरुद्ध जेहाद का अभियान छेड़ा। अबू बक्र ने इस प्रकार इस्लाम के अविभाजन पर विशेष बल दिया और उसके अनुयायियों ने उसे छिन्न-भिन्न न होने दिया। इस प्रकार खलीफा को ही मुसलमानों का मुख्य नेता समझा जाने लगा। कालांतर में मुसलमान विधिवेत्ताओं ने इस्लामी राजनीतिक व्यवस्था में उसके कार्यों का अवलोकन किया। उसका प्रमुख काम इस्लाम की रक्षा करना, इस्लामी राज्य की रक्षा करना, सर्वोच्च न्यायाधीश के रूप में न्याय करना, इस्लामी संसार पर प्रशासन करना व उसे संगठित करना, शरियत का पालन कराना इत्यादि

था। उसे मुहम्मद साहब का उत्तराधिकारी, मुसलमानों का सेनानायक तथा सभी मुसलमानों का शासक माना गया। उसे शरियत का उल्लंघन करने का अधिकार नहीं था किंतु वह उसकी व्याख्या कर उसे लागू करने का अधिकारी था। उसके द्वारा की गई शरियत की व्याख्या अंतिम निर्णय समझी जाती थी। वास्तव में मुसलमान विधिवेत्ताओं में अत्यधिक सूझ-बूझ थी। अतएव जब भी कभी वे शरियत के नियमों में अनियमितताएं देखते थे, तो उन्हें दूर कर दिया करते थे। वे नियमों के छंदों का विभिन्न अर्थ निकालकर उन्हें व्यावहारिक बना दिया करते थे।

चूंकि अब्बासी काल से मुसलमान संसार की सीमाओं में वृद्धि होती रही, इसलिए इतने विशाल साम्राज्य पर शासन करना खलीफा के लिए असंभव हो गया। अतएव इस्लामी एकता व दारूल-इस्लाम की प्रमुखता बनाए रखने हेतु खलीफाओं ने इस्लाम के अंतर्गत लाए गए विभिन्न प्रदेशों के शासकों को मान्यता प्रदान की और इन्हें अर्द्ध-स्वतंत्र शासक स्वीकार कर उन प्रदेशों पर शासन करने का अधिकार प्रदान किया। मावार्दी ने इन शासकों को तीन श्रेणियों में बांटा- सीमित अधिकार वाले शासक, असीमित अधिकार वाले शासक जो अपने प्रदेशों में पूर्णत: स्वतंत्र तो थे किंतु वे खलीफा की प्रभुता को स्वीकार करते रहे तथा वे शासक जिन्होंने कि स्वयं अपने राज्यों की स्थापना करके शासन प्रारंभ किया। खलीफा ने इन तीनों श्रेणियों के शासकों व प्रांतपतियों को मान्यता दी ताकि दारुल-इस्लाम तथा मुसलमान संसार की एकता बनी रहे। मुसलमान विधिवेत्ताओं ने भी इस व्यावहारिक स्थिति को स्वीकार किया।

भारत में सर्वप्रथम इस्लाम की प्रभुता सिंध में उस समय स्थापित हुई जबकि खलीफा के प्रांतपति हज्जाज खलीफा के सैनिकों की सहायता से सिंध का प्रदेश 712 ई. में विजित कर लिया गया। तत्पश्चात गजनी के शासक महमूद गजनवी ने, जो कि खलीफा का प्रतिनिधि था, पंजाब पर प्रभुता स्थापित की (1000-1030 ई.)। इस प्रकार पूर्वी खिलाफत का विस्तार पंजाब तक हो गया। महमूद गजनवी के पुत्र मसूद को भी अब्बासी खलीफा से मान्यता प्राप्त थी व उसे पंजाब का शासक स्वीकार किया गया अर्थात गजनवी सुल्तान खलीफा को अपना संप्रभु शासक मानते रहे। यही स्थिति गोरियों के समय भी विद्यमान रही और वे भी खलीफा को अपना संप्रभु शासक मानते रहे। मुहम्मद गोरी ने जब 1192 ई. में पंजाब की विजय प्राप्त की, उस समय तक खलीफा के प्रति अधीनता प्रकट करना एक परंपरा बन गई थी। उसने अपने नाम के साथ खलीफा के नाम को भी खुदवाने की परंपरा को जारी रखा तथा अल मुस्तासिर बिल्लाह व नासिरुद्दीन इल्लाह नामक खलीफाओं से खिलअते प्राप्त करता रहा। वास्तव में इस्लामी संसार के विविध शासक अपने लिए सुल्तान की पदवी का प्रयोग खलीफा की अनुमति से करते रहे। अतएव शासक के रूप में वे खलीफा के प्रतिनिधि के रूप में ही समझे जाते रहे।

दमयाक नामक स्थान पर 25 मार्च 1206 ई. को मुहम्मद गोरी की हत्या हो गई। उस समय तक उसके सेनानायको ने उत्तरी भारत के अनेक प्रदेश विजित कर यहां तुर्की साम्राज्य की स्थापना कर दी थी. अब कुतुबुद्दीन ऐबक ने दिल्ली सल्तनत के रूप में उत्तरी भारत के तुर्की क्षेत्र को एक स्वतंत्र राज्य के रूप में संगठित करने की कोशिश की और इस कार्य में उसे सफलता मिली। किंतु उसने सुल्तान की पदवी ग्रहण नहीं की। वह अपने को मलिक या सिपाहसालार ही कहता रहा। किंतु गजनी के शासक ताजुद्दीन यल्दूज के मुकाबले अपने वैधानिक दावों को सुदृढ़ करने के लिए उसने 1208 ई. में गोर के

टिप्पणी

स्वामी, मुहम्मद गोरी के भतीजे गयासुद्दीन महमूद से राजचिह्न प्राप्त किए। ऐबक को उससे सुल्तान की पदवी भी प्राप्त हुई। किंतु उसने सुल्तान की पदवी संभवत: धारण नहीं की, यद्यपि वह निर्विवाद रूप से दिल्ली सल्तनत का स्वतंत्र शासक था। उसने न तो अपने नाम के सिक्के जारी किए और न ही खलीफा से मान्यता का पत्र ही प्राप्त किया। व्यावहारिक दृष्टि से खलीफा से मान-पत्र प्राप्त करना अब उतना आवश्यक नहीं रह गया था जितना कि पहले था। भारत में नव-स्थापित तुर्की साम्राज्य के मुसलमान विधिवेत्ताओं ने भी ऐबक द्वारा खलीफा से मानपत्र प्राप्त न करने पर कोई आपत्ति नहीं उठाई क्योंकि ऐबक अपने को खलीफा के अधीनस्थ मानता था।

दिल्ली सल्तनत के इतिहास में सुल्तान अथवा शासक की वैधानिक स्थिति के दो महत्वपूर्ण पहलू थे- सुल्तान की स्वतंत्र शासक के रूप में स्थिति तथा खलीफा के प्रतिनिधि के रूप में स्थिति। कुतुबुद्दीन ऐबक ने दिल्ली सल्तनत की रूपरेखा निर्धारित की तथा इल्तुतमिश ने उसे पूर्णरूपेण स्वतंत्र व वैध स्तर प्रदान किया। इलतुतमिश ने उपर्युक्त दोनों पहलुओं से अपने को सुदृढ़ किया। एक ओर वह दिल्ली सल्तनत पर स्वतंत्र रूप से शासन करता रहा तो दूसरी ओर वह खलीफा अल मुस्त नासिर बिल्लाह की प्रभुता को स्वीकार करते हुए उसके अधीनस्थ बना रहा। खलीफा से मान-पत्र प्राप्त करने के पूर्व भी वह सिक्कों पर उसका नाम खुदवाता रहा। फरवरी 1229 ई. में खलीफा अबू जाफर मंसूर उल मुस्तनासिर बिल्लाह के राजदूत दिल्ली पहुंचे। उन्होंने इल्तुतमिश को खलीफा द्वारा प्रेषित मानपत्र प्रदान किया जिसे प्राप्त कर वह सल्तनत का वैधानिक शासक बन गया। इस अवसर पर दिल्ली शहर को खूब सजाया गया था और धूमधाम से राजदूतों का स्वागत किया गया। खलीफा द्वारा भेजी गई खिलअतें इल्तुतमिश के पुत्रों, अमीरों व दासों को प्रदान की गईं। खलीफा का नाम सिक्कों पर खुदवाया जाता रहा। इस प्रकार मुसलमानों की नजर में दिल्ली सल्तनत का प्रदेश दारुल इस्लाम का एक भाग बन गया और यह भी स्पष्ट हो गया कि अन्य शासकों की भांति दिल्ली सल्तनत का शासक भी खलीफा के प्रति निष्ठावान है व उसके अधीन है।

जब खलीफा जाहिर की मृत्यु का समाचार सुल्तान अलाउद्दीन मसूद शाह के पास पहुंचा तो सिक्कों पर खलीफा जाहिर के नाम के स्थान पर उसके उत्तराधिकारी अल मुस्तासिम का नाम अंकित किया जाने लगा। 1258 ई. में हलाकू खान ने बगदाद पर आक्रमण किया और खलीफा मुस्तासिम को पदच्युत कर उसका वध करके खिलाफत को नष्ट कर दिया। अब कोई खलीफा न रहा। खलीफा मुस्तासिम के कोई पुत्र न था और न ही कोई उत्तराधिकारी बन कर उस पद को आगे बढ़ा सका। खलीफा के न रहने पर अब भारत में नव स्थापित तुर्की सल्तनत के समाने यह संकट पैदा हो गया कि अब वे किसके प्रति अपनी अधीनता प्रकट करें। दिल्ली के विधिवेत्ताओं ने इसका विकल्प शीघ्र ही ढूंढ़ निकाला कि खलीफा अल मुस्तासिम का नाम खुतबा में बराबर पढ़ा जाता रहे, सिक्कों पर भी उसका नाम चलता रहे। खलीफा अल मुस्तासिम की मृत्यु के अनेक वर्षों बाद तक यह प्रक्रिया चलती रही। यद्यपि खलीफा की मृत्यु हो चुकी थी किंतु 'खिलाफत दीर्घायु रहे' की सूक्ति में मुसलमानों का विश्वास हो गया था। यही कारण है कि खलीफाओं का नाम भी खुतबा में निरंतर पढ़ा जाता रहा। बलवन की निष्ठा भी खलीफा के प्रति थी। यह जानते हुए भी कि बगदाद में खिलाफत का अंत हो गया है तथा मिस्र में खलीफा की शक्ति क्षीण है, बलबन ने अपने पुत्र बुगरा खान को फिर भी परामर्श दिया कि वह अब्बासी खलीफा से मान्यता प्राप्त कर ले।

सुल्तान जलालुद्दीन फिरोजशाह खिलजी के शासन (1290-96 ई.) के अंत तक खलीफा अल मुस्तासिम का नाम सिक्कों पर अंकित होता रहा जबकि उसे मरे हुए चालीस वर्ष हो गए थे, उल्लेखनीय है कि सुल्तान जलालुद्दीन फिरोज शाह खिलजी ने दिवंगत खलीफा का नाम खुतबा व सिक्कों से निकालने से मना कर दिया था। उसके पुत्र रुकनुद्दीन इब्राहीम ने अपनी उपाधि में केवल नासिर-उल-अमीर उल मोमिनीन शब्द रख कर अपने को संतुष्ट रखा। सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी ने सुल्तान रुकनुद्दीन इब्राहिम की पदवी में यामिन-उल-खिलाफत (खिलाफत का दाहिना हाथ) और जोड़ दिया। इन दोनों ही पदवियों से स्पष्ट है कि सुल्तान अलाउद्दीन स्वयं को खलीफा नहीं कहना चाहता था, किंतु उसके पुत्र सुल्तान कुतबुद्दीन मुबारक शाह खिलजी ने वह कर दिखाया जो अलाउद्दीन ने नहीं किया था। उसने घोषणा की कि वह महान इमाम, दोनों संसार के रक्षक एवं पोषक महान ईश्वर का खलीफा, मुसलमानों का सेनानायक इस्लाम के भोर का सितारा है। उसने अबुल मुजफ्फर मुबारक शाह की पदवी ग्रहण की व उपरोक्त सूक्तियां अपने सिक्कों पर भी अंकित करवाई। इससे पूर्व वह अपने को खलीफा का दाहिना हाथ व मुसलमानों का सेनानायक कहा करता था। प्रश्न यह उठता है कि इन उपाधियों के ग्रहण करने के उपरांत भी क्या वह अपनी जनता में लोकप्रिय सिद्ध हुआ? इसका उत्तर वास्तव में नकारात्मक ही होगा। खिलजी वंश का अंत करके जब नासिरुद्दीन खुसरो शाह (15 अप्रैल 1320 से 5 सितम्बर 1320 तक) ने सत्ता हस्तगत की तो वह अपनी पदवी 'मुसलमानों के नेता मित्र' से ही संतुष्ट रहा।

तुगलक वंश के संस्थापक सुल्तान गयासुद्दीन तुगलक ने भी इल्बारी व खिलजी शासकों की भांति मिस्र के खलीफा के प्रति निष्ठा प्रकट करते हुए केवल 'अमीर उल नासिर उल मोनिनीन' की ही पदवी ग्रहण की। अब तक दिल्ली के विधिवेत्ताओं के मध्य सुल्तान की वैधानिक स्थिति पर वाद-विवाद चलता रहा। प्रश्न यह था कि कब तक दिवंगत खलीफा अल मुस्तासिम का नाम सिक्कों व खुतबा में चलाया जाए। विधिवेत्ता इस स्थिति को स्वीकार करने को तैयार न थे कि दिल्ली का सुल्तान किसी अज्ञात व काल्पनिक खलीफा का सहायक अथवा मित्र है। उनका समर्थन सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक ने किया। उसने दिल्ली सल्तनत को वैधानिक रूप से स्वतंत्र माना। उसने सिक्कों पर खलीफा का नाम लिखा जाना बंद करवा दिया। उसके स्थान पर उसने सिक्कों पर कलमा, कुरान की आयतें, धार्मिक उपदेश तथा प्रथम चार खलीफाओं के नाम अंकित करवाए। सुल्तान का संभवत: यह विश्वास था कि यदि खिलाफत समाप्त हो गई है और सुल्तान द्वारा निष्ठा व्यक्त किए जाने के लिए ऐसा कोई रास्ता नहीं रह गया है तो उसे प्रथम खलीफाओं के प्रति निष्ठा व्यक्त करनी चाहिए। परंतु जब उसे निरंतर विफलताओं का मुंह देखना पड़ा तो उसके गुरु कुतलुग खान से उसे बताया कि बिना खलीफा से मान्यता प्राप्त किए कोई भी शासक वैधानिक शासक नहीं माना जा सकता है। तो उसने खिलाफत के संबंध में पूछ-ताछ करनी प्रारंभ की। उसे ज्ञात हुआ कि मिस्र में अब्बासी खिलाफत की पुन: स्थापना हो चुकी है (1340 ई.)। अतएव 1344 ई. में उसने अपने सिक्कों पर तत्कालीन खलीफा अल मुस्तावाकी बिल्लाह का नाम अंकित करवा कर उसके प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त की। सुल्तान व उसके अमीरों ने खलीफा के प्रति अपनी निष्ठा की सौगंध खाई तथा खलीफा से मानपत्र प्राप्त करने हेतु अपने राजदूत मिस्र भेजे। 1343 ई. में मिस्र से सैइद सरसरी भारत आया। वह सुल्तान के लिए खलीफा अल हाकिम द्वितीय का मानप्रत्र, सुल्तान के लिए खलअतें व पताका लेकर आया। मुहम्मद

बिन तुगलक ने उसका आदर सत्कार किया और ये वस्तुएं सादर स्वीकार की। इस अवसर पर संपूर्ण शहर सजाया गया व खुशियां मनाई गई। तत्पश्चात जुमा व ईद की नमाजें पुनः प्रारंभ कर दी गई, खलीफा का नाम पुनः खुतबा में पढ़ा जाने लगा तथा आदेश दिए गए कि केवल खलीफा का नाम ही इमारतों पर लिखा जाए। इस भांति मुहम्मद बिन तुगलक ने खलीफा के प्रति निष्ठा प्रकट की।

मुहम्मद बिन तुगलक के उत्तराधिकारी फिरोज तुगलक ने अपने ग्रंथ फुतुहात-ए फिरोजशाही में लिखा है कि खलीफा के दरबार में मुझे परम अधिकार प्राप्त होने एवं खलीफा का नायब होने से संबंधित आदेश पत्र प्राप्त हो गए हैं। अमीर उल मोमिनीन के उत्कृष्ट दरबार से मेरी अधीनता के स्वीकृति-पत्र में मुझे सैय्यद-उस सलातीन की उपाधि से सम्मानित किया गया। अफीफ ने लिखा है कि जिस प्रकार खलीफा के यहां से सुल्तान मुहम्मद तुगलक के लिए खिलअत आते थे उसी भांति खलीफा ने सुल्तान फिरोज शाह के लिए खिलअतें भेजीं तथा अपने मराजिब के चिह्न भी भेजे। फिरोजशाह ने राजदूतों द्वारा लाई खिलअत को आदरपूर्वक स्वीकार किया, खलीफा की राजधानी की ओर सिर झुकाया तथा खिलअतें व पताकाएं अपने हेतु स्वीकार कीं। उसने खलीफा के लिए उपहार भेजे। उसने अपने सिक्कों पर खलीफाओं के नाम अंकित करवाए तथा उन शासकों के नाम भी खुतबा में पढ़वाए जिन्हें कि खलीफाओं से मान-पत्र प्राप्त नहीं हुए थे।

परवर्ती तुगलक काल में जब तैमूर के आक्रमण का झंझावात निकल गया तो खिज्र खां ने सैय्यद वंश की स्थापना करके तुगलक वंश का अंत कर दिया। उसने सुल्तान की पदवी ग्रहण न करके अपने को नासिर उल मोमिनीन की पदवी से विभूषित किया। उसके उत्तराधिकारी मुबारक शाह व उसके उत्तराधिकारियों ने भी यही पदवी धारण की। यह परंपरा लोदी शासकों के समय भी बनी रही। इस प्रकार खलीफा के प्रति निष्ठा प्रकट करना केवल औपचारिकता ही थी। 1517 ई. में इस्माइली तुर्कों ने मिस्र के अब्बासी खिलाफत का अंत कर दिया। तत्पश्चात तुर्की के शासक अपने को खलीफा कहने लगे।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि दिल्ली सल्तनत के प्रायः सभी शासक, केवल चंद अपवादों को छोड़कर, बगदाद व तत्पश्चात मिस्र के खलीफओं के प्रति अपनी निष्ठा प्रकट कर शासक के रूप में अपनी वैधानिक स्थिति की रक्षा करते रहे व मुसलिम समाज को यह आभास कराते रहे कि वे खलीफाओं के प्रतिनिधि के रूप में शासन कर रहे हैं। डॉ. ईश्वरी प्रसाद ने 'ए हिस्ट्री आफ दि करुना टर्क्स इन इंडिया' में लिखा है कि मध्यकाल में मुसलमान राज्य की प्रकृति धर्मतांत्रिक थी या राज्य का मुख्य उद्देश्य ईश्वर की सेवा करना था। जो व्यक्ति प्रजा की सेवा में रहते थे वे अपने धर्म व आदर्शों से जुड़े रहते थे। धर्म भी राज्य को प्रभावित करता था। उलेमा शरियत के नियमों की व्यवस्था करते थे तथा उनके निर्णय पर ही मुसलमान शासकों द्वारा विजित किए गए हजारों लोगों का सुख-दुःख निर्भर करता था। मुसलमान राज्य का आदर्श काफिरों के विरुद्ध युद्ध करना, उनकी स्वतंत्रता को समाप्त करने के लिए जेहाद करना, दारूल हरब को दारूल इस्लाम में परिवर्तित करना ही था। जिन मुसलमान शासकों ने इन आदर्शों का पालन किया उनकी प्रशंसा मुसलिम इतिहासकारों ने की। अपने मुसलमान शासकों के अंतर्गत हिंदुओं को जजिया देना पड़ता था, लकड़हारों व भिश्तियों के समान रहना पड़ता था। मुहम्मद साहब के सहिष्णुता व धर्म परिवर्तन संबंधी नियम मुसलमान शासक बहुत ही-कम मानते थे, ऐसा डॉ. ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है। डॉ. इश्तियाक हुसेन कुरैशी के अनुसार शरियत

की सर्वोच्चता का भ्रमात्मक अर्थ लगाकर कुछ इतिहासकारों ने मान लिया है कि सल्तनत में धर्मसंगठित पुरोहित वर्ग न था, अतः उसे धर्मतंत्रात्मक कहना उचित नहीं होगा। इस काल में विधिवेत्ता भी शरियत की व्याख्या करने में भूल-चूक कर सकते थे। अतः सल्तनत का धर्मतांत्रिक होना संभव नहीं था। गिव ने 'ह्वीदर इस्लाम' में इस्लामी प्रशासन को केंद्रीय-धर्मतंत्र कहा है। आर. पी. त्रिपाठी के अनुसार चूंकि उलेमा व सुल्तान में अनेक मामलों में कोई मतभेद नहीं रहता था, अतः दोनों ही अपने निजी लक्ष्यों को प्राप्त करते रहे। उनके अनुसार राज्य की कोई प्रकृति नहीं थी।

सल्तनतकालीन प्रशासन

दिल्ली के सुल्तानों के जीवन का द्वितीय पहलू वास्तविक शासक के रूप में उनकी स्थिति है। सैद्धांतिक रूप से दिल्ली सल्तनत पूर्वी खिलाफत का एक भाग थी किंतु व्यावहारिक दृष्टिकोण से वह एक स्वतंत्र राज्य के रूप में थी। मुसलमान विधिवेत्ताओं तथा धर्मशास्त्रियों का अटूट विश्वास था कि शरियत की सर्वश्रेष्ठता बनी रहेगी। प्रत्येक मुसलमान का यह अटूट विश्वास है कि शरियत ईश्वर का आदेश है जिसकी अनुभूति मुहम्मद साहब को हुई। इस अनुभूति को मुहम्मद साहब भी नहीं बदल सकते थे। वे केवल उसकी व्याख्या करने व उसे समझाने हेतु ही सक्षम थे। उनकी व्याख्या हदीस में की गई जिसकी उपेक्षा कोई मुसलमान नहीं कर सकता है। कुरान व हदीस ही इस्लामी कानून के आधार बने। कालांतर में इस्लामी कानूनों की व्याख्या व वृद्धि मुसलमान समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप विद्वान विधिवेत्ता समय-समय पर करते रहे। यह कानून सभी मुसलमान देशों में सार्वभौम बन गए। कोई भी शक्ति उनके ऊपर नहीं थी और सभी उसी के द्वारा शासित होते थे। यदि कोई भी शासक इन कानूनों की उपेक्षा या उल्लघंन करता है तो किसी भी मुसलमान को उसके विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार है। यह भी उल्लेखनीय है कि शरियत का संबंध पूरे इस्लामी जगत से होने के कारण इसकी व्याख्या करने वाले विधिवेत्ता किसी देश या प्रदेश विशेष के न होकर किसी भी इस्लामी देश के हो सकते हैं। यही कारण है कि शरियत की सर्वश्रेष्ठता सर्वत्र मान्य है।

शरियत का पालन कराने के लिए मुसलमान अपने शासक को निर्वाचित या नियुक्त करते हैं। यह अनिर्वायता ही राज्य की आवश्यकता पर बल देती है। इस हेतु मुसलमानों द्वारा नियुक्त किया गया शासक खलीफा कहलाया, जो कि मुख्य कार्यकारी व न्यायकारी अधिकारी माना जाता था। भारत में दिल्ली सल्तनत के सुल्तान उसके प्रतिनिधि माने जाते थे। उन्होंने सभी अधिकार या तो खलीफा के नाम पर उपभोग किए या स्वयं अपने अधिकार प्राप्त कर लिए। जिस समय दिल्ली सल्तनत की स्थापना हो रही थी अब्बासी खिलाफत का ह्रास हो रहा था। किंतु इस्लामी शासकों ने इस्लामी जगत की सैद्धांतिक एकता बनाए रखने के लिए खिलाफत का विचार अपनाया जाना जारी रखा और शरियत के नियमों को लागू करने की भरसक कोशिश की। सैद्धांतिक रूप से सुल्तान को ही शरियत की व्याख्या करने व उसे लागू करने का एकाधिकार था किंतु व्यावहारिक स्थिति यह थी कि न तो वह सर्वमान्य व्याख्या के विरुद्ध जा सकता था और न ही किसी मामले में सर्वसाधारण के विचारों की अवहेलना कर सकता था। जहां विधिवेत्ताओं में पारस्परिक मतभेद हो, वह स्वतंत्र ढंग से कार्य करने के लिए सक्षम होता था। ऐसी स्थिति में उसे स्वयं विद्वान व विधिवेत्ता होना चाहिए और शरियत को भली-भांति समझने में सक्षम होना चाहिए। व्यवहार में वह आमतौर पर बहुमत के पक्ष में रहने व उसकी इच्छानुसार कार्य

टिप्पणी

करने की चेष्टा करता था। शरियत के रहते हुए भी सर्वसाधारण के कल्याण के लिए कार्य करते समय वह नये-नये नियम बना सकता था। किंतु ये नियम जहां तक संभव होता था शरियत के अनुरूप या अनुकूल ही हुआ करते थे। सल्तनत काल में शरियत की सर्वश्रेष्ठता स्वीकार किए जाने व उसके प्रभाव के कारण यह प्रतीत होता है कि सल्तनत की प्रकृति धर्मतांत्रिक थी और उसका प्रशासन धर्माधिकारियों अथवा धर्मनिष्ठ विद्वानों के एक संगठित वर्ग के द्वारा हुआ करता था जिसे उलेमा वर्ग कहते थे। किंतु यह एक भ्रमात्मक विचार है। वास्तव में सल्तनत काल में शासन का स्वरूप राजतंत्रात्मक था और इस प्रकार की कोई संस्था नहीं थी जो राजा (सुल्तान) को अनिवार्य रूप से निर्देशित कर सकती। उलेमा वर्ग प्रतिष्ठा का पात्र माना जाता था। इसका तात्पर्य यह नहीं था कि सुल्तान उनके इशारे पर शासन करने के लिए पूर्णतया बाध्य हो। अस्तु सल्तनत कालीन राज्य की प्रकृति को धर्मतांत्रिक कहना कदापि उचित नहीं है।

जहां एक ओर सुल्तानों का यह प्रयत्न हो सकता था कि वे शरियत का पालन करने की चेष्टा करें वहां दूसरी ओर कभी-कभी वे राज्य व सर्वसाधारण की आवश्यकताओं के कारण उसका उल्लंघन भी किया करते थे। फिर भी वे अपने कार्यों को न्यायसंगत व दोषमुक्त ही ठहराने की चेष्टा करते थे। शरियत सुल्तान द्वारा अधिकारों के दुरुपयोग पर अंकुश लगाता था। उन्हें क्रूर, दंभी अन्यायी, होने से रोकता था। तत्कालीन राजतंत्र में सुल्तान का प्रमुख स्थान होता था। उसकी सुरक्षा के अभाव के कारण ही लोग सामान्य ढंग से सामाजिक जीवन व्यतीत करते थे। राजकीय सुरक्षा के अभाव में समाज दिशाहीन हो जाने व चारों ओर हिंसा, उत्पात व अशांति उत्पन्न हो जाने का पूरा खतरा रहता था। अतएव सुल्तान का होना परम आवश्यक था। मुसलमान विधिवेत्ताओं के अनुसार सुल्तान को ही न्याय के दिन ईश्वर के सम्मुख अपनी प्रजा की दिशा, अपने द्वारा किए गए न्याय व अन्याय के संबंध में उत्तर देना पड़ेगा। अत: न्यायप्रिय शासक जो प्रजा का हितैषी हो, के लिए मुसलिम विधिवेत्ताओं ने ईश्वर का प्रतिनिधि एवं पृथ्वी पर ईश्वर की प्रतिष्ठा जैसी महान उपाधियों का प्रयोग किया। राजतंत्र का केंद्र बिंदु होने के कारण वही प्रजा का रक्षक, हितैषी व शासक माना गया।

मुसलिम विधिवेत्ताओं ने सुल्तान के प्रमुख कर्तव्यों पर विचार करते हुए लिखा है कि उन्हें धर्म की रक्षा करनी चाहिए, प्रजा के पारस्परिक झगड़ों को तय करना चाहिए, अपने राज्य की रक्षा करनी चाहिए, यात्रियों के लिए सड़कें व मार्ग सुरक्षित रखना चाहिए, दंड संहिता के नियमों को लागू करना चाहिए। राज्य की सीमाओं की आक्रमणों से रक्षा करनी चाहिए, इस्लाम का विरोध करने वालों के विरुद्ध युद्ध करना चाहिए, कर व महसूल वसूल करना चाहिए, राजकोष से गरीबों, दरिद्रों, नि:सहाय व्यक्तियों को उनका भाग देना चाहिए, राजकार्य एवं प्रजा से संबंधित कार्यों में सहायता करने हेतु अधिकारियों की नियुक्तियां करनी चाहिए तथा सर्वसाधारण के संपर्क में रहकर उनकी दशा की जानकारी रखनी चाहिए। समकालीन ऐतिहासिक स्रोतों से यह स्पष्ट होता है कि सल्तनत काल (1206-1526) में अधिकांश सुल्तानों ने शासक के रूप में अपने कठिन दायित्वों को निभाने की भरसक कोशिश की। इस हेतु उनेक लिए बहुत से राजचिह्नों का धारण करना व राजोचित उपाधियां धारण करना आवश्यक था। अत: वे छत्र, पताकाएं अपनाते थे, अपना नाम खुतबों में पढ़वाते थे, अमीरों के अभिवादन को स्वीकार करते थे, दरबार आयोजित करते थे अपने नाम के सिक्के चलाते थे। वे तरह-तरह की उच्च उपाधियां धारण कर अपने शौर्य, गरिमा, शक्ति एवं प्रभाव का आभास कराते थे।

टिप्पणी

राजत्व-सिद्धांत

सुल्तानों की शक्ति, गरिमा व प्रभाव का दिग्दर्शन उनके द्वारा अपनाए गए राजत्व-सिद्धांत से भी होता था। उनके राजत्व का सिद्धांत क्रमिक विकास को प्रकट करता है तथा उसमें कई देशों की परंपराओं का प्रभाव दिखाई पड़ता है। सल्तनत काल में इस्लामी जगत के विभिन्न भागों से समय-समय पर प्रवासी के रूप में अनेक मुसलमान दार्शनिक, इतिहासकार, विधिवेत्ता, सूफी, अधिकारी, अमीर, राजकुमार, साहित्यकार, कलाकार इत्यादि भारत आते रहे। अतः उनके माध्यम से यहां विभिन्न इस्लामी देशों की राजनीतिक, धार्मिक व सांस्कृतिक मान्यताएं तथा प्रशासनिक पद्धतियां प्रवेश करती रहीं एवं इन सबका प्रभाव सुल्तानों पर निरंतर पड़ता रहा। इन विचारधाराओं के अंतर्गत ही सुल्तानों के राजत्व सिद्धांत का विकास होता रहा। इल्तुतमिश के समय में सर्वप्रथम राजत्व की निश्चित अवधारणा दिखाई पड़ती है। वास्तव में सल्तनत की प्रभुसत्ता का इतिहास भी उसी के समय से प्रारंभ होता है। डॉ. राम प्रसाद त्रिपाठी ने भी यह मत व्यक्त किया है। इल्तुतमिश ने दिल्ली को भारतीय तुर्की राज्य की राजधानी बनाया। दिल्ली ही राजनीतिक एवं प्रशासनिक केंद्र बना। अतः स्वाभाविक था कि यहीं सांस्कृतिक केंद्र भी बनता। अस्तु अब दिल्ली को हजरत-ए-देहली या शहर-ए-देहली कहा जाने लगा। इलतुतमिश ने यहां निरंकुश शासन की स्थापना हेतु हर संभव कार्य किया। उसने अपनी निरंकुशता के सिद्धांत का ताना-बाना ईरानी परंपरा से लिया और उसे भारतीय परिवेश में ढाल कर लागू किया। उसने बगदाद से 'अब्दुस सलातीन' तथा 'मासीर-उस सलातीन' नामक ग्रंथ मंगवाए जिसमें ईरानी निरंकुशता का विस्तारपूर्वक उल्लेख था। इन्हीं ग्रंथों के प्रभाव में आकर उसने अपने शासन की प्रतिष्ठा में चार चांद लगाए। सुल्तान के पद को गौरवमय, आकर्षक व प्रभावशाली बनाने हेतु उसने पूर्ण चेष्टा की। ईरानी शासकों की भांति वह स्वयं को खलीफा का प्रतिनिध, इस्लाम धर्म का रक्षक एवं पोषक समझता था। वह सुल्तान की दैवी शक्ति तथा अधिकारों में विश्वास रखता था। अतः वह स्वयं को उमरा वर्ग तथा सर्वसाधारण से ऊपर समझता था। उसकी सार्वभौमिक शक्ति का आधार बहुत पुष्ट था क्योंकि वह खलीफा से मान-पत्र भी प्राप्त कर चुका था और उसे चालीस तुर्की गुलामों के गुट तथा अन्य तुर्की व गैर तुर्की विदेशी मुसलमानों के वर्ग (ताजिक वर्ग) का पूरा सहयोग प्राप्त था।

बलबन का राजत्व-सिद्धांत : इल्बारी तुर्क शासकों में सुल्तान गयासुद्दीन बलबन (1265-1287) ने जो राजत्व का सिद्धांत अपनाया उससे सुल्तान के पद व उसकी गरिमा में जितनी वृद्धि हुई उतनी पहले कभी नहीं हुई थी। बलवन ने जिस परिस्थिति में सुल्तान का पद, इल्तुतमिश की मृत्यु के बाद गिरते हुए देखा था वह उस परिस्थिति को खत्म करके उसे पूर्णतया सुदृढ़ करना चाहता था। उसके गद्दी पर बैठने तक इल्तुतमिश को मरे हुए तीस वर्ष बीत गए थे। इन तीस वर्षों में सुल्तान की पद-प्रतिष्ठा व गरिमा मिट्टी में मिल चुकी थी। अमीर वर्ग (उमरा वर्ग) राजनिर्माता बन गए थे और सुल्तान उनके हाथों की कठपुतली। जब कोई सुल्तान उनकी मुट्ठी से बाहर निकलना चाहता तो वे उसकी सत्ता उलट देते और उसकी हत्या कर देते थे। इन विभीषिका के पांच शिकार क्रमशः रुकुनुद्दीन फिरोज शाह (1236 ई.), रजिया (1236-1240 ई.), मुईजुद्दीन बहराम शाह (1240-42), अलाउद्दीन मसूद शाह (1242-46) तथा नासिरुद्दीन महमूद (1246-1265) हो चुके थे और बलबन ने स्वयं इनमें से कई षड्यंत्रों में सक्रिय भाग गुप्त रूप से विष दिलवा कर हत्या करवा चुका था। खिलजी पर अंतिम शासक को

टिप्पणी

का आरोप उसके ऊपर लगाया जाता है। बलबन ने जब गद्दी हस्तगत की तो उसे इस प्रक्रिया को खत्म करने की आवश्यकता महसूस हुई अन्यथा उसकी भी खैर नहीं थी। अस्तु उसने राजत्व-सिद्धांत पर बहुत दृढ़ता से अमल करने की कोशिश की। राजत्व-सिद्धांत को परिभाषित करने का भी उसने प्रयास किया। जब कभी उसे अवसर मिलता वह सुल्तान के महान पद व उसकी प्रतिष्ठा के बारे में विचार प्रकट करने से नहीं चूकता था। अपने मलिकों व अमीरों से वह बारबार कहा करता था कि सुल्तान का महान पद स्वयं ईश्वर का प्रतिनिधि व उसकी प्रतिछाया होता है। पैगंबर साहब के बाद अन्य कोई पद इतना गरिमामय नहीं है जितना कि सुल्तान का, अपने उत्तरदायित्वों की पूर्ति करने में वह सदैव ईश्वर द्वारा ही प्रेरित होता है, ईश्वर ही उसका मार्गदर्शन करता है। तात्पर्य, यह है कि बलबन यह प्रकट करना चाहता था कि उसकी शक्ति का स्रोत सर्वसाधारण जनता या अमीर न होकर केवल ईश्वर ही होता है। सुल्तान ईश्वर के ही प्रति उत्तरदायी होता है न कि जनता या अमीरों के प्रति। वह यह भी प्रकट करना चाहता था कि केवल उच्च वंश के लोगों को ही यह पद मिलता है। उसने स्वयं को तूरान के प्रसिद्ध काल्पनिक शासक अफ्रासियाब का वंशज बताया यद्यपि इस तथ्य की पुष्टि में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। इस तथ्य द्वारा बलबन ने यह स्पष्ट करना चाहा कि निम्नवंशीय लोग इस पद की प्राप्ति के बारे में सोच नहीं सकते हैं।

वास्तव में बलबन अपनी कमजोरियों से भली-भांति अवगत था। उसे यह ज्ञात था कि वास्तव में उसकी धमनियों में राज परिवार का रक्त नहीं प्रवाहित है और न ही उसे दासता से मुक्त ही किया गया था। अस्तु वह प्रजा पर शासन करने के लिए अनुपयुक्त था। इस कमी को छिपाने के लिए उसने दैवी कृपा की कल्पना का सहारा लिया। बलबन के राजत्व-सिद्धांत की विशेषता यह है कि वह ईरान के सासानी शासकों के राजत्व-सिद्धांत से लिया गया है ईरान में सासानी सम्राटों ने सम्राट के पद को अत्यंत उच्च स्तर तक उठा दिया था और सभी ने उस पद की दैवी प्रकृति को स्वीकार कर लिया था। केवल सासानी परिवार के सदस्य ही गद्दी पर बैठ सकते थे। बलबन ने उन्हीं के अनुकरण पर और उन्हीं को आदर्श मानकर अपना राजत्व-सिद्धांत बनाया था। सुल्तान की इस दैवी गरिमा के अनुरूप उसने अपने को सर्वसाधारण से दूर रखना शुरू किया। उसने तुच्छ लोगों से मिलना-जुलना बंद कर दिया। वह बहुत शानशौकत से रहता था ताकि लोग उससे डरें। वह बहुमूल्य परिधान धारण करता था और सदैव राजसी वेश में रहता था उसके व्यक्तिगत सेवक तक उसे किसी साधारण वेश में नहीं देख सकते थे। उसने राज-दरबार में पूर्ण अनुशासन लागू किया। उसकी उपस्थिति में न तो कोई दरबारी एक-दूसरे से ऊंचे स्वर में बात-चीत कर सकता था और न ही आपस में हंसी-मजाक कर सकता था। वह स्वयं भी नहीं हंसता था। कहा जा सकता है कि उसने अपने अंदर के साधारण मानव को बाहर निकाल दिया था और उसकी जगह एक कठोर सुल्तान को बसा लिया था। वह प्रशासन में केवल तुर्को को ही रखने के पक्ष में था। उसमें निम्न जातियों के लिए कोई स्थान न था, जो लोग निम्न जाति के पाए गए उन्हें सेवा से मुक्त कर दिया गया। उसने दरबार में सीस्तानी पहलवान नियुक्त किए जो कि चमकती हुई तलवारें लिए आकर्षक वस्त्रों में उसके सिंहासन के पीछे खड़े रहते थे। उनकी मुद्रा सदैव गंभीर रहती थी। उसने दरबार में सिजदा व पैबोस की रस्में अदा करना अनिवार्य कर दिया। ये अभिवादन के तरीके थे। उसने भय का वातावरण उत्पन्न करने के लिए और भी बहुत कुछ किया ताकि कोई अमीर उसके खिलाफ बगावत न कर सके। उसने कठोर दंड संहिता बनाई। उसका

विश्वास था कि आतंक ही उसकी शक्ति का आधार है। अपने को और गरिमामय बनाते हुए उसने पूरी तरह से ईरानी रीति-रिवाजों को ही मानना शुरू कर दिया। राजगद्दी तक पहुंचने के पहले उसके पुत्र या पौत्र महमूद या मुहम्मद जैसे नामों से अभिहित किए गए। उसने जो राजत्व-सिद्धांत बनाया उसकी एक और प्रमुख विशेषता यह थी कि उसका दृष्टिकोण व्यावहारिक था न कि धार्मिक। उसने धर्मनिष्ठ होते हुए भी राजनीति को धर्म से पृथक ही रखा। वास्तव में वह अपनी निरंकुशता के मार्ग में बाधा नहीं पसंद करता था।

खिलजी काल में राजत्व-सिद्धांत : बलबन की मृत्यु के पश्चात पुनः राजनीतिक अस्थिरता उत्पन्न हो गई। अमीरों के षड्यंत्र हिंदुओं व मुसलमान अमीरों के विद्रोह, खिलजी मलिकों में बढ़ता असंतोष या अयोग्य उत्तराधिकारी बलबन-वंश के पतन में सहायक सिद्ध हुए। खिलजियों ने 1290 ई. में सत्ता छीन ली। जलालुद्दीन फिरोज खिलजी के शासन (1290-1296) के बाद जब सत्ता की बागडोर अलाउद्दीन ने छीन ली तो पुनः बलबन जैसी पूर्ण निरंकुशता की उत्पत्ति हुई। अलाउद्दीन ने बलबन के ही पद-चिह्नों पर चलना प्रारंभ किया और साथ ही अपनी योग्यता के अनुसार राजत्व सिद्धांत में कुछ परिवर्तन भी किया। बलबन की भांति अलाउद्दीन खिलजी रक्त की शुद्धता में विश्वास नहीं करता था। वह इतना संकीर्ण विचार नहीं अपनाता था बल्कि उसका दृष्टिकोण व्यापक था। वह योग्यता को प्राथमिकता देता था। उसने बलबन की तरह से अनावश्यक दिखावे भी नहीं किए जैसे कि अपने को अफ्रासियाब जैसे किसी उच्च शासक के खानदान से संबंधित बताना या आम जनता से अत्यधिक दूरी बनाए रखना। बलबन ही की तरह वह भी अपने को पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि मानता था और खलीफा की प्रभुसत्ता का सिद्धांत मानता था। अमीर खुसरो व बरनी दोनों ही इस तथ्य का समर्थन करते हैं। अमीर खुसरों ने 'खजाइनुल फुतूह' में उसको संसार का सुल्तान, पृथ्वी के शासकों का सुल्तान, विश्व-विजेता तथा जनता का पोषक बताया है। इन उपाधियों में अतिशयोक्ति क्यों न हो किंतु उनसे ज्ञात होता है कि वह पूर्ण निरंकुश शासक था। फ्रांस के लुई चतुर्दश की भांति वह राज्य में स्वयं को सर्वेसर्वा मानता था। जियाउद्दीन बरनी के अनुसार सुल्तान को परिस्थितियों के अनुसार कठोर व उदार होना चाहिए । उसके कर्तव्य है कि वह सही धर्म की स्थापना करे, निरपेक्ष न्याय करे और देखे कि उसके साम्राज्य में कोई भी व्यक्ति निर्वस्त्र या भूखा न रह जाए। अलाउद्दीन खिलजी ने निरंकुश शासक होते हुए भी जन कल्याण की ओर ध्यान दिया। अतएव उसकी गणना कुछ हद तक प्रबुद्ध शासकों में की जा सकती है।

उसके राजत्व सिद्धांत की विशेषता यह थी कि बलबन की भांति उसने भी धर्म को राजनीति से पृथक रखा। काजी मुगीसुद्दीन से वाद-विवाद करते हुए उसने स्पष्ट रूप से कहा कि राजनीति में उलेमा के परामर्श पर चलना उसके लिए असंभव है। उसने कहा कि उसे ज्ञात नहीं है कि उसके नियम धर्म के अनुसार है या नहीं किंतु जो भी कार्य वह राज्य के हित के लिए सोचता है करता है। उसके विचार में सुल्तान का कर्तव्य शासन करना है व काजियों तथा मुफ्तियों का कार्य शरियत की व्याख्या करना है। डॉ. त्रिपाठी के अनुसार अलाउद्दीन खिलजी ने कोई भी कार्य ऐसा नहीं किया जिसे कि इस्लामी कानून के सिद्धांतों के विरुद्ध कहा जा सके। वास्तव में वह शक्तिशाली सम्राट था। वह सिकंदर की तरह विश्व-विजयी होने का ख्वाब रखता था यद्यपि उसने इसे अव्यवहारिक मानकर पूरा करने की कोशिश नहीं की। ऐसे शासक का यह कहना स्वाभाविक ही था कि

टिप्पणी

'आखिरी न्याय के दिन क्या होगा, यह वह नहीं जानता है। फिर भी उसने खलीफा के नायब के रूप में यामीन-उल-खिलाफत नासिर अमीर-उल-मोमिनीन' की पदवी धारण की थी। किंतु उसके उत्तराधिकारी कुतुबुद्धीन मुबारक शाह ने खलीफा की इस सैद्धांतिक प्रभुसत्ता को अमान्य करते हुए स्वयं को ही खलीफा घोषित कर दिया। उसने खलीफा की सर्वश्रेष्ठता की मिथ्या को समाप्त कर दिया और दिल्ली सल्तनत को बाह्य शक्ति, चाहे वह काल्पनिक ही क्यों न हो, की पराधीनता से मुक्त कर दिया। उसने घोषणा की कि वह स्वयं ईश्वर का प्रतिनिधि एवं महान इमाम है। इस प्रकार खिलजी राजत्व-सिद्धांत का प्रमुख आधार न तो जातीय श्रेष्ठता का विचार था और न ही निर्वाचन या खलीफा के अनुमोदन के ऊपर आश्रित था, उसका आधार था सैन्य-कला। राजत्व किसी विशिष्ट वर्ग का एकाधिकार नहीं था बल्कि उसे प्राप्त हो सकता था जिसमें शक्ति व योग्यता हो। इसमें धार्मिक सहायता की भी कोई आवश्यकता नहीं थी। राजत्व बिना किसी धार्मिक सहायता के भी चल सकता है क्योंकि सुल्तान का दृष्टिकोण धार्मिक समुदाय के दृष्टिकोण से भिन्न होता है। ये खिलजी शासकों, खास तौर पर अलाउद्दीन की, राजत्व के क्षेत्र में प्रमुख उपलब्धियां थीं।

तुगलक काल : अब तक वंशानुगत उत्तराधिकारी के विचार ने जड़ें पकड़ ली थीं। उमरा व उलेमा दोनों ही वर्गों का यह विश्वास था कि खिलजी वंश के किसी सदस्य को ही गद्दी पर बैठना चाहिए। नासिरुद्दीन खुसरो शाह के एक महीने के शासन के पतनोपरांत गयासुद्दीन तुगलक ने अलाउद्दीन खिलजी व कुतुबुद्दीन मुबारकशाह के परिवार के सदस्यों के संबंध में जांच करवाई कि क्या उनमें से कोई जीवित है जिसे गद्दी सौंपी जा सके। यह सबको विदित था कि खुसरों खां ने खिलजी वंश के सभी लोगों को मार डाला था। अत: गयासुद्दीन तुगलक को गद्दी पर बैठने में कोई कठिनाई नहीं हुई। चूंकि खुसरो खां ने इस्लाम की प्रतिष्ठा को धूल-धूसरित कर दिया था अत: गयासुद्दीन तुगलक भारत में इस्लाम के पोषक के रूप में माना गया। उसने अपने आचरण, व्यवहार तथा कार्य द्वारा राजनीतिक व्यवस्था में धार्मिक पुट का समावेश किया। पूर्व शासकों की भांति उसने भी नासिर-उल मोमिनीन की उपाधि ग्रहण की। उसका राजत्व सिद्धांत खिलजी शासकों के राजत्व सिद्धांत से किसी भी भांति भिन्न न था। परंतु उसके उत्तराधिकारी मुहम्मद बिन तुगलक ने अपने राज्यकाल के प्रारंभ में खिलाफत से संबंध-विच्छेद कर लिया। उसे अपनी योग्यता व शक्ति में पूरा विश्वास था। उसका झुकाव बुद्धिवाद की ओर था। राजनीतिक आवश्यकता के कारण वह बलबन की भांति समझता था कि सुल्तान पृथ्वी पर ईश्वर की प्रतिछाया है। उसने अपने सिक्कों पर भी यह उक्ति अंकित करवाई। अपनी सार्वभौमिक शक्ति को सुदृढ़ करने हेतु उसने शरियत की परवाह न कर बुद्धिवाद का सहारा लिया। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह शरियत की अवहेलना करना चाहता था या धर्मशास्त्रियों के विचारों की परवाह नहीं करता था। यह संकीर्ण धारणा कि शासन करने का अधिकार केवल अमुक जाति या वर्ग को ही है, वह नहीं मानता था। इसका खंडन करते हुए उसने पुराने दंभी एवं अयोग्य अमीरों को हटाकर निम्न वर्गों या अविशिष्ट वर्गों के सदस्यों को प्रशासन में भर्ती करना प्रारंभ किया। इसके परिणाम दूरगामी सिद्ध हुए। उसने जनता की सार्वभौमिक शक्ति की महत्ता को स्पष्ट किया और सुल्तान के प्रति उनके कर्तव्य को बताने का प्रयास भी किया। उसने अपने सिक्कों पर नवीन अनुश्रुतियां जैसे कि 'सार्वभौमिकता सभी लोगों को प्रदत्त नहीं की जाती है वरन विशिष्ट व्यक्ति को ही दी जाती है', 'सुल्तान ही ईश्वर की परछाई है' या 'ईश्वर ही सुल्तान का सहायक

है' आदि अंकित कराईं। किंतु जब उसी व्यक्तिगत योग्यता एवं उदारता भी जनसाधारण में उसे लोकप्रिय नहीं बना सकी और सल्तनत में विद्रोह होने लगे तो उसे आभास हुआ कि संभवत: खिलाफत की उपेक्षा करने के कारण ही प्राकृतिक विपदाएं आ रही हैं व जनमानस में उसके प्रति असंतोष व दुराव है। अत: उसने अपनी नीति में परिवर्तन किया और खिलाफत के प्रति अपनी निष्ठा दिखाने लगा। वह सिक्कों पर मिस्र के खलीफा का नाम अंकित कराने लगा और उसने खुतबा में खलीफा का नाम शामिल कर लिया। वह सभी आदेश खलीफा के नाम पर जारी करने लगा। खलीफा से उपहार या मानपत्र प्राप्त करने का कोई अर्थ नहीं था। उसकी नीतियों से कट्टर उलेमा वर्ग ही नहीं साधारण जनता भी तंग आ चुकी थी। अब न तो इस्लामी नीति के स्वांग का कोई अर्थ था और न ही उसकी सहिष्णुता-जन्य नीति ही कुछ लाभ कर सकती थी। यह एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति थी और इसका कारण था उसका बुद्धिवादी मार्ग पर बहुत आगे तक बढ़ जाना। निश्चित रूप से उसका बुद्धिवाद समय से बहुत आगे था।

फिरोज शाह तुगलक का दृष्टिकोण मुहम्मद बिन तुगलक के दृष्टिकोण से भिन्न था। फिरोज को उलेमाओं, काजियों, शेखों व मलिकों का सहयोग मिला था। उन्होंने ही उसे सुल्तान निर्वाचित किया था। प्रथमत: जो सहयोग मुहम्मद अपने शासन के उत्तरार्द्ध में चाहकर भी नहीं प्राप्त कर पाया था उसे फिरोज सहज ही पा गया था। दूसरे शीघ्र ही खलीफा अल मुस्तान्सिर बिल्लाह के वंशज गयासुद्दीन मखदूम जादा ने उसके सिंहासनारोहण की स्वीकृति प्रदान कर दी। इन बातों से फिरोज के राजत्व-सिद्धांत को दिशा मिली। उसने खुतबा में अपने नाम के साथ दिल्ली के पूर्व सुल्तानों का नाम भी पढ़वाना शुरू किया। खलीफा के प्रति उसके दिल में आदर की भावना थी। वह स्वयं को खलीफा का नायब कहता था। वह राजनीतिक एवं सामरिक दक्षता का व्यक्ति नहीं था। अपनी इस दुर्बलता को छिपाने के लिए उसने धार्मिक वर्ग को पुन: अपने ऊपर व राजनीति पर प्रभावी होने का अवसर प्रदान किया। इस प्रकार जहां सशक्त सुल्तान राजनीति को धर्म से अलग रखने के पक्ष में रहते थे, उसने धर्म का सहरा लिया। उसने घोषणा की कि वह धर्म की रक्षा करेगा तथा उसका प्रचार करेगा। राजनीतिक संकट से मुक्त होने का यही एक रास्ता था। इसी तरह वह जनता का सहयोग प्राप्त कर सकता था। वह एक उदार शासक ही नहीं बल्कि ईश्वर-भीरु शासक था। वह प्रजा के हित के लिए अधिकाधिक कार्य करने का प्रयास करता था। इस कार्य में वह अपने पूर्ववर्तियों से कहीं आगे निकल गया। उसके उदार व्यक्तितत्व के कारण उसकी मृत्यु के बाद भी जनता की आस्था व स्वामिभक्ति उसके वंशजों के प्रति कई वर्षों तक बनी रही। तुगलक वंश के पतन के बाद जब खिज्र खां ने सैय्यद वंश की स्थापना की तो उसने न तो सुल्तान की पदवी धारण की और न ही तुगलक शासकों के सिक्कों का प्रचलन बंद किया।

सैय्यद शासक खिज्र ने अमीर तैमूर का नाम खुतबा में पढ़वा कर उसके प्रति निष्ठा प्रकट की व 'रैयत-ए-आला' की उपाधि धारण की। तैमूरियों की अधीनता स्वीकार करने के कारण खलीफा का नाम खुतबा व सिक्का दोनों से लुप्त हो गया। किंतु यह दिखावा अधिक समय तक नहीं चल पाया। उसके पुत्र मुबारक शाह (1421-1434) ने तुगलकों व तैमूरियों का नाम खुत्बे व सिक्कों से हटवा दिया। उसने शाह सुल्तान की उपाधि भी ग्रहण की। परिणामस्वरूप तैमूरियों ने सैय्यदों को सहायता देना बंद कर दिया व भारत की सीमा पर वे निरंतर आक्रमण करते रहे। सैय्यदों के राज्य में जगह-जगह विद्रोह होने लगे। भारत में या उसके बाहर कहीं भी सैय्यदों की सार्वभौमिकता को किसी ने भी स्वीकार

टिप्पणी

नहीं किया। अस्तु सैय्यदों को राजत्व-सिद्धांत के विकास में किसी योगदान का श्रेय नहीं जाता है।

अफगान राजत्व सिद्धांत : अफगानों के उत्कर्ष (लोदी वंश) के साथ दिल्ली सल्तनत की सार्वभौमिक शक्ति के विकास में एक नया अध्याय प्रारंभ हुआ। अफगानों का संगठन कबायली आधार पर टिका हुआ था। वे कबायली स्वतंत्रता में विश्वास करते थे। उनका विश्वास अविभाज्य व पूर्ण सार्वभौमिकता या निरंकुशता में नहीं था। बहलोल लोदी ने अफगानों की इस जातीय भावना को ध्यान में रखकर अपने राजत्व-सिद्धांत को अपनाया। वह जानता था कि अफगान साम्राज्य विभिन्न अफगान कबीलों का एक संघ मात्र है जिसका अनन्य सहयोग उसे प्राप्त है। उनके सहयोग को अक्षुण्ण रूप से बनाए रखने के लिए यह आवश्यक था कि उनकी मनोवृत्ति को ध्यान में रखा जाए और उसका सम्मान किया जाए। अस्तु बहलोल लोदी ने बलबन या अलाउद्दीन जैसे शासकों द्वारा अपनाए गए तुर्की राजत्व-सिद्धांत को, जिसका मूलमंत्र अविभाज्य निरुंकुशता थी, ही अपनाया। अफगान कबीलों को अपने वशीभूत करते हुए भी वह उनका अविभाज्य सार्वभौम शासक नहीं बना। अपितु उसने अपने को कबायली मालिकों के समकक्ष ही माना। वह दरबार में या अन्य अवसरों पर भी कभी सिंहासन पर नहीं बैठता था और न ही एक निरंकुश शासक की भांति आदेश जारी करता था। वह अपने अमीरों के साथ शाही-कालीन पर बैठकर उसके साथ विचार-विमर्श करता था। वह अपने अमीरों को मसनद-ए-आली कहकर संबोधित करता था। जब कभी कोई कबायली नेता या अमीर उससे रुष्ट हो जाता तो वह उसके घर जाकर उसे मनाता था। अपनी तलवार कमर से निकाल कर उसके समाने रख देता और इस पर भी न मानने पर अपनी पगड़ी उतार कर उसके सामने रख देता और कहता कि यदि वह उनका शासक होने का लायक नहीं है तो वे किसी और को इस हेतु चुन लें। बहलोल की इस नीति का मनोवैज्ञानिक रूप से प्रभाव पड़ता और वह अमीरों का कोपभाजन होने से बच जाता था। किंतु इस राजत्व-सिद्धांत से लाभ व हानि दोनों ही हुई। इससे एक ओर अमीरों के षड्यंत्रों तथा सिंहासन प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा में कमी हुई तो दूसरी ओर, अफगान अमीर अपने प्रभाव व शक्ति के बारे में अत्यधिक सजग हो गए। बहलोल लोदी ने सुल्तान की पदवी के स्थान पर अमीरों की शक्ति व प्रतिष्ठा में काफी वृद्धि कर दी। इससे ताज की प्रतिष्ठा कम हो गई और सुल्तान एक उच्च अमीर या अमीरों का अमीर मात्र ही बनकर रह गया। एक निरंकुश शासक के स्थान पर उसने अनेक निरंकुश शासक उत्पन्न कर दिए। अफगान अमीर तो उसके इस दृष्टिकोण से अवश्य खुश हुए किंतु गैर-अफगानों में इससे कोई प्रेरणा न उत्पन्न हो सकी। गैर-अफगान राजतंत्र में कोई स्थान न पा सके और न ही प्रशासन में उनकी कोई आवाज रह गई।

बहलोल की मृत्यु के उपरांत अफगान कबायली नेताओं में एकता समाप्त हो गई। अपने जीवन काल में बहलोल ने अपने पुत्र को यह चेतावानी दी थी कि वह कभी भी सूर या नियाजी अफगानों को उच्च पद प्रदान न करे क्योंकि सूर बहुत महत्वाकांक्षी व नियाजी धोखेबाज होते हैं। सिकंदर लोदी ने गद्दी पर बैठते ही अफगान राजत्व की अवधारणाओं को त्याग दिया और तुर्की राजत्व सिद्धांत को अपनाया। उसे विभाजित शक्ति में तनिक भी विश्वास न था। वह सत्ता के मामले में अपने साम्राज्य के किसी अन्य व्यक्ति को भागीदार नहीं बनाना चाहता था। उसने अमीरों के प्रति अपने पिता के उदार दृष्टिकोण को छोड़कर कठोर दृष्टिकोण अपनाया। उसने तुर्क-सुल्तानों द्वारा लागू किए गए

दरबारी नियमों को पुनः लागू करके अमीरों को सुल्तान की प्रतिष्ठा करने के लिए बाध्य किया। उसके आदेश को मानने के लिए सभी लोग बाध्य थे। उसकी अनुपस्थिति में भी उसके आदेशों के प्रति पूर्व श्रद्धा दिखानी होती थी। अमीरों को छह मील आगे बढ़कर उसके द्वारा भेजे गए फरमान को स्वीकार करना पड़ता था व उसे अपने सिर पर रखना पड़ता था। फरमान को जनता के मध्य खड़े होकर पढ़ना औपचारिकता बन गई। वह स्वयं एक योग्य, अनुशासनप्रिय व अटल विचारों वाला था इसलिए अफगानों में उसके प्रति विरोध की भावना नहीं पनप सकी। वे उसका आदर करने लगे। वह सत्ता का प्रतीक बन गया। जब कुछ अमीरों ने उसे पदच्युत करके उसके छोटे भाई फतह खां को गद्दी पर बैठाने का एक कुचक्र रचा भी तो उसे इसका पता चल गया और उसने अपने बाईस अमीरों को दरबार से बहिष्कृत कर दिया। इस प्रकार सिकंदर लोदी ने अफगान-परम्पारओं से प्रेरणा न लेकर तुर्क-परंपराओं से प्रेरणा ली और काफी सफल हुआ। वह प्रशासन में दृढ़ता व अनुशासन का पुनः संचार कर सका।

इस वंश के आखिरी शासक इब्राहिम लोदी ने सिकंदर की ही नीतियों को जारी रखते हुए पूर्ण निरंकुशता जन्य राजत्व-सिद्धांत अपनाया किंतु उसे पूर्ण सफलता न मिली। अफगान राजत्व-सिद्धांत का पूर्ण उल्लंघन करते हुए उसने 'राजा का कोई संबंधी नहीं होता' इस विचारधारा पर आधारित तुर्की राजत्व-सिद्धांत को अपनाया। अमीरों को दरबार में पूर्ण अनुशासन में क्षुद्र स्थिति में खड़े रहना पड़ता था। जरा-सा भी संदेह होने पर वह अमीरों को सैन्य बल से दबाने का उपक्रम करता था। इससे अमीरों में भय की लहर व्याप्त हो गई और परिणाम यह हुआ कि वह अमीरों के हार्दिक सहयोग का पात्र न रह गया। इसका भयंकर परिणाम लोदी-वंश के समापन में देखा जा सकता था।

उपरोक्त विवरण से कई बातें स्पष्ट होती हैं। दिल्ली सल्तनत की स्थापना के साथ ही वहां के सुल्तानों ने बाह्य एवं आंतरिक समस्याओं को देखकर राजत्व सिद्धांत अपनाया। काल एवं परिस्थितियों के अनुरूप इस राजत्व-सिद्धांत का क्रमिक विकास होता रहा। केवल सैय्यद शासकों व बहलोल लोदी को छोड़कर प्रायः सभी सुल्तानों का विश्वास था कि सार्वभौमिकता अविभाज्य एवं पवित्र है। सुल्तान समाज के अन्य सभी वर्गों से कहीं ऊपर होता है। वह खलीफा का नायब, इस्लाम का रक्षक, प्रचारक व पोषक, जनहितकारी तथा पृथ्वी पर ईश्वर की प्रतिछाया होता है। अपने कार्यों के प्रति वह समाज के किसी वर्ग के प्रति उत्तरदायी न होकर ईश्वर के प्रति उत्तरदायी होता है। सुल्तान की पद-प्रतिष्ठा एवं गरिमा में वृद्धि करने में दिल्ली सल्तनत के सभी शासकों का विश्वास था। उनका राजनीतिक आदर्श उनके राजत्व-सिद्धांत के अनुरूप था।

केंद्रीय शासन व्यवस्था एवं राजमहल के कर्मचारी

निरंकुश राजतंत्रात्मक शासन में सुल्तान का पद सल्तनत काल में शीर्षस्थ था। सिद्धांत में उसकी सत्ता सार्वभौम थी और उसकी इच्छा ही कानून था। किंतु वास्तव में उसके अंतर्गत जो प्रशासनिक ढांचा था, जिसमें केंद्रीय से लेकर ग्राम्य प्रशासन तक के अधिकारी आते थे, वही उसकी सार्वभौमिकता को साकार रूप देता था। एक व्यक्ति सिद्धांततः सार्वभौमिक शक्ति का दावा भले कर ले किंतु वह भी आश्रित होता है निष्ठावान अधिकारियों या मंत्रियों पर, जो उसके नाम पर प्रशासन की सारी जिम्मेदारियों को निभाते हैं। अस्तु व्यवहारतः एक व्यक्ति की सार्वभौमिकता मिथ्या है। कोई भी व्यक्ति बिना अन्य व्यक्तियो की सहायता से न तो अपनी इच्छा थोप सकता है और न ही विशाल साम्राज्य पर शासन

कर सकता है। प्रशासन की विभिन्न इकाइयों यथा केंद्रीय, प्रांतीय, स्थानीय प्रशासन के माध्यम से ही सुल्तान की सार्वभौमिकता व्यक्त होती है। अत: सुल्तान राज्य का सर्वेसर्वा होता हुआ भी विभिन्न लोगों के सहयोग से शासन करता था। इसमें उमरा वर्ग, उलेमा वर्ग तथा सैनिक वर्ग की अहम भूमिका होती थी। उनके अतिरिक्त अनेक कर्मचारी जो प्रशासन के विभिन्न विभागों में कार्य करते थे, होते थे।

इन सबमें केंद्रीय प्रशासनिक व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान था क्योंकि अन्य इकाइयों की कार्य-क्षमता भी इसी की शक्ति पर निर्भर करती थी। यदि केंद्रीय शासन कमजोर होता तो शेष इकाइयां स्वत: कमजोर या विद्रोही हो जातीं। इसका केंद्र राजधानी होती थी जो ऐबक के समय लाहौर, इल्तुतमिश से बहलोल लोदी तक दिल्ली व तदुपरांत सिकंदर एवं इब्राहिम के समय आगरा में थी। केंद्रीय शासन व्यवस्था के दो अंग थे- सार्वजनिक शासन तंत्र व घरेलू विभाग। अरब में एक कहावत मशहूर थी कि वीर पुरुषों को अस्त्र-शस्त्र की तथा कुशल व बुद्धिमान शासकों को मंत्रियों की आवश्यकता होती है। मुहम्मद साहब में सूझबूझ और बुद्धिमत्ता की कोई कमी नहीं थी। उन्हें ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त था। फिर भी वे अपने अनुयायियों से अनेक विषयों पर परामर्श लिया करते थे। इसी भांति सुल्तान भी बिना मंत्रियों से परामर्श किए हुए कोई भी कार्य करने के लिए सक्षम नहीं होते थे चाहे वे कितने ही कूटनीतिज्ञ, राजनीतिज्ञ व प्रशासकीय क्षमतामय क्यों न हों। केंद्रीय स्तर पर एक मंत्रिमंडल होता था जिसके मुख्य विभाग दीवान-ए-वजारत, आरिज-ए-ममालिक, दीवान-ए-इंशा और दीवान-ए-रसालत थे, यद्यपि कभी-कभी नायब-ए-ममालिक नामक मंत्री भी होता था। दीवान-ए-कज़ा भी मंत्री तुल्य हुआ करते थे। इसके अतिरक्त घरेलू विभाग का जो अध्यक्ष होता था, वह भी मंत्री तुल्य प्रभाव रखता था।

दीवान-ए-वजारत : केंद्रीय प्रशासन का प्रमुख विभाग दीवान-ए-वजारत होता था जिसका अध्यक्ष वजीर कहलाता था। मुसलिम राजनीतिक विचारधारा ने वजीर के पद को अत्यधिक महत्व प्रदान किया। अल फखरी के अनुसार वह सुल्तान व उसकी प्रजा के बीच की कड़ी था। फख्र मुदविर ने वजीर को सार्वभौमिकता का सहभागी स्वीकार किया है तथा कहा है कि सुल्तान को अपना राज कार्य उसी पर छोड़ देना चाहिए। वह आगे लिखता है कि बिना वजीर के सहयोग के सार्वभौमिकता व साम्राज्य समृद्धशाली नहीं बन सकते और न ही वे चरमोत्कर्ष पर पहुंच सकते हैं। वजीर का परामर्श ही साम्राज्य में समृद्धि व जन-कल्याण कर सकता है। विधिवेत्ताओं के वजीर की स्थिति की वैधानिकता की चर्चा भी की और कहा है कि वजीर सुल्तान व खलीफा का मुख्य प्रतिनिधि होता है, जिसे सुल्तान व खलीफा अपने अधिकार सौंपते हैं। मावार्दी के अनुसार वजीर दो प्रकार के हो सकते हैं, वजीर-ए-तौफीद या वजीर-ए-तनफीद। प्रथम प्रकार के वजीर को असीमित अधिकार प्राप्त होते हैं। वह सुल्तान के अधिकारों व विशिष्ट अधिकारों का उपभोग करने में सक्षम होता है। ऐसे वजीर सुल्तान को सभी विषयों में सूचना देते हैं तथा बिना उसकी अनुमति के राज्य के अधिकारियों की नियुक्तियां व पदोन्नतियां कर सकते हैं अथवा पदच्युत कर सकते हैं। अधिकारियों के विरुद्ध शिकायतें सुन सकते हैं। यदि किसी विषय में सुल्तान व वजीर दोनों ने बिना एक-दूसरे की जानकारी के आदेश दे दिए हों, तो जिसका आदेश पहले निकला हो वही आदेश माना जाता था। किंतु जब कभी दोनों में मतभेद होता था तो सुल्तान की इच्छा ही सर्वोपरि होती थी। वजीर न तो अपना

प्रतिनिधि या उत्तराधिकारी नियुक्त कर सकता था और न ही अपने अधिकार किसी अन्य व्यक्ति को सौंप सकता था। यदि एक से अधिक वजीर नियुक्त किए जाते तो सुल्तान उनके कार्य व अधिकार स्पष्ट कर देता था ताकि वे एक समिति के सदस्य के रूप में कार्य करें।

वजीर-ए-तनफीद के अधिकार सीमित हुआ करते थे। वह सुल्तान के आदेशों का पालन करता था। उसे परामर्श देता था तथा राजकीय नियमों को लागू करता था। उसके अनेक अधिकार होते थे क्योंकि वही प्रशासन का मुख्य अधिकारी होने के नाते नौकरशाही व सर्वसाधारण पर अपना नियंत्रण रखता था। सुल्तान द्वारा दिए गए सभी आदेश उसके हाथों से गुजरते थे। उसी के कार्यालय में उन आदेशों को अंतिम रूप दिया जाता था। दिल्ली सल्तनत में दोनों ही प्रकार के वजीर हुए। शक्तिहीन, अनुभवहीन व दुर्बल शासकों के अंतर्गत वजीर-ए-तौफीद व अनुभवी, शक्तिशाली एवं योग्य शासकों के समय वजीर-ए-तनफीद होते थे। सुल्तान जब अभियानों का नेतृत्व करते थे, नये-नये प्रदेशों को विजित करते थे, लोगों को उपहार देते थे व मजलिसों अथवा युद्ध-स्थलों में प्रकाशमान होते थे, वजीर उनके साम्राज्य को समृद्धशाली बनाता था। उसका कर्तव्य कर एकत्र करना, अधिकारियों की नियुक्ति करना, कारखानों में माल के हिसाब रखने की व्यवस्था करना, घोड़ों, ऊंटों, खच्चरों तथा अन्य जानवरों की गणना करना, विभिन्न कार्यालयों का संगठन करना व उनकी कार्य-विधि पर दृष्टि रखना व राजकार्य करना था। यद्यपि केंद्रीय वित्त विभाग की देखभाल करना उसका विशेष कार्य था किंतु वह अन्य विभागों की भी देख-रेख किया करता था। दीवानी कार्यालय के कर्मचारियों के कार्य की देख-भाल करना भू-राजस्व एवं अन्य कर वसूल करने की व्यवस्था करना तथा व्यय के स्रोतों पर नियंत्रण रखना उसका विशेष कार्य था किंतु वह अन्य विभागों की भी देख-रेख किया करता था। दीवानी कार्यालय के कर्मचारियों के कार्य की देख-भाल करना, भू-राजस्व एवं अन्य कर वसूल करने की व्यवस्था करना तथा व्यय के स्रोतों पर नियंत्रण रखना विशेष दायित्व था। विभिन्न विभागों से प्राप्त हिसाब की जांच उसके विभाग के कर्मचारी व सहायक करते थे। उसका विभाग विभिन्न कार्यालयों की मांगों पर विचार कर उनका अनुमोदन भी किया करता था। सैनिक विभाग की सभी आवश्यकताएं उसके सम्मुख रखी जाती थीं। वह सैनिक विभाग के बारे में जांच भी किया करता था। नि:सहाय, गरीब व धार्मिक व्यक्तियों को वजीफे या वित्तीय सहायता भी देता था।

वजीर का पद ऐसा था कि सुल्तान व उसमें तालमेल होना आवश्यक होता था। सुल्तान उसे पूर्ण सहयोग व प्रतिष्ठा देते थे। किंतु जब सुल्तान व वजीर के बीच मतभेद उत्पन्न हो जाता था तो राजनीतिक संकट उपस्थित हो जाता था। सुल्तान सदैव ऐसे व्यक्तियों को अपना वजीर नियुक्त करता था जिसे प्रशासन की बारीकियों का ज्ञान हो, जो सौम्य, उदार अनुशासन प्रिय, साहसी, बुद्धिमानी, दूरदर्शी व कर्तव्यनिष्ठ तथा मृदुभाषी हो। वजीर की सहायता के लिए नायब-ए-वजीर, मुशरिफ-ए-ममालिक व मुस्तौफी-ए-ममालिक (लेखा परीक्षक) होता था।

दीवान-ए-आरिज : दीवान-ए-आरिज (सेना-विभाग) का अध्यक्ष या आरिज-ए-ममालिक केंद्रीय मंत्रि-मंडल का एक महत्वपूर्ण सदस्य होता था। उसका कार्य सैनिकों की नियुक्ति करना, उनका हुलिया, नाम इत्यादि का विवरण रखना तथा घोड़ों का हिसाब रखना था। वह सैनिकों का निरीक्षण किया करता था, उनमें अनुशासन बनाए रखता था, उन्हें प्रशिक्षण

देता था, उनका वेतन निर्धारित करता था, वेतन बंटवाता था और हाथियों व घोड़ों की व्यवस्था करता था। यह विभाग इतना महत्वपूर्ण था कि कभी-कभी सुल्तान स्वयं इस विभाव के कार्यों में रुचि लेता था। सुल्तान ही प्रमुख सेनाध्यक्ष होता था। दीवान-ए-ममालिक को सेना के किसी भाग का नेतृत्व करना पड़ता था अन्यथा सुल्तान स्वयं ही सेना लेकर लड़ाई के मैदान में उतरता था अथवा कुछ प्रमुख अमीरों के अंतर्गत सेना देता था।

दीवान-ए-इंशा : केंद्रीय प्रशासन का एक महत्वपूर्ण विभाग दीवान-ए-इंशा होता था जो कि शाही फरमान, पत्र इत्यादि तैयार करवाता था। इस विभाग का अध्यक्ष दबीर-ए-खास होता था जिसकी सहायता के लिए कई कुशल दबीर होते थे जो पत्र-लेखन कला व शैली में प्रवीण होते थे। सुल्तान के सभी पत्र व आदेश जो कि अन्य राज्यों के शासकों, अधीनस्थ राज्यों, अधिकारियों आदि को भेजे जाते थे, इसी विभाग में तैयार किए जाते थे। यह विभाग गुप्त रूप से वजीर व अन्य अधिकारियों के संबंध में सूचनाएं भी एकत्र करता था। अनुदान संबंधी प्रपत्रों व आदेशों पर भी सुल्तान की मुहर यहीं लगाई जाती थी। मामूली आदेशों पर दीवान-ए-इंशा की मुहर ही लगाई जाती थी। जब सुल्तान किसी अधिकारी के प्रति कृपा करना चाहता था या उसे महत्वपूर्ण समझता था तो वह फरमान पर स्वयं अपने हाथ से कुछ शब्द लिख दिया करता था। इस विभाग का कार्य अत्यंत गोपनीय प्रकृति का होने से दीवान-ए-इंशा का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान होता था।

दीवान-ए-रसालत : यह विभाग धार्मिक मामलों की देख-रेख किया करता था। खनकाहों व दरगाहों को अनुदान, धार्मिक व्यक्तियों व विद्वानों को अनुदान इत्यादि मामले देखना उसका कार्य था। इस विभाग का मुख्य अधिकारी सद्र-उस-सुदूर कहलाता था। कभी-कभी मुख्य काजी जो काजी-ए-मुमालिक कहलाता था, न्याय विभाग के साथ-साथ इस विभाग के कार्यों को भी देखता था। डॉ. ए. बी. हबीबुल्लाह महोदय का यह मत है कि दीवान-ए-रसालत विदेश-विभाग था जो कूटनीतिक पत्राचार को देखता था व दूतों को भेजता तथा उनसे मिलता था। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव भी यह मत समीचीन मानते हुए लिखते हैं कि धार्मिक मामलों, अनुदानों व खैरात की देख-रेख सद्र-उस-सुदूर करता था। डॉ. आई. एच. कुरेशी दीवान-ए-रसालत को धार्मिक मामलों से ही संबद्ध मानते हैं।

गुप्तचर विभाग : केंद्रीय प्रशासन में एक अन्य महत्वपूर्ण विभाग गुप्तचर विभाग होता था जो कि सुल्तान को विभिन्न प्रकार की सूचनाएं व खबरें दिया करता था। इस विभाग का अध्यक्ष बरीद-ए-मुमालिक होता था। वह राज्य में होने वाली घटनाओं तथा अमीरों व अधिकारियों के बारे में सूचनाएं एकत्र करता था और सुल्तान को उनसे अवगत कराता था। उसके अंतर्गत राज्य की सभी प्रशासनिक इकाइयों में बरीद रहते थे जो उसे बराबर खबरें भेजते रहते थे। अत्यंत योग्य व निष्ठावान लोगों को ही बरीद के पद पर नियुक्त किया जाता था। यदि वे किसी अपराध की सही सूचना या अधिकारियों की क्रूरता या विद्रोहात्मक रूख की सही सूचना नहीं देते थे तो उन्हें दंडित भी किया जाता था। बरीद की सहायता के लिए अनेक गुप्तचर भी हुआ करते थे।

दीवान-ए-रियासत : उपर्युक्त प्रमुख विभागों के अलावा कुछ शासकों के समय कभी-कभी नये विभाग बनाए गए। ऐसा ही एक विभाग अलाउद्दीन खिलजी ने बनाया जिसे दीवान-ए-रियासत कहा गया। उलाउद्दीन ने जब बाजार-नियंत्रण प्रणाली लागू की तो उसके कार्यान्वयन के लिए उसने इस विभाग का गठन किया। इसका कार्य था सुल्तान के द्वारा बनाई गई मूल्य सूची के आधार पर सभी सामानों के विक्रय का प्रबंध करना। सभी प्रमुख वस्तुओं के बाजार के लिए अलग-अलग अधीक्षक होते थे जिन्हें शहना-ए-मंडी

कहा जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि अलाउद्दीन खिलजी की मृत्यु हो जाने पर इस विभाग की कोई आवश्यकता नहीं रह गई क्योंकि बाजार नियंत्रण व्यवस्था ही समाप्त हो गई थी।

टिप्पणी

दीवान-ए-कोही : मुहम्मद बिन तुगलक ने कृषि में नवीन प्रयोग करने के लिए दीवान-ए-कोही या कृषि विभाग की स्थापना की। इस विभाग में दीवान-ए-अमीर कोही की मदद के लिए बहुत से पदाधिकारियों की नियुक्तियां की गई। मुहम्मद बिन तुगलक ने अन्य कई विभागों की स्थापना की जो इस प्रकार थे- दीवान-ए-सियासत, दीवान-ए-इमारत, दीवान-ए-मुस्तखराज (बकाया भू-राजस्व की वसूली करने वाले), दीवान-ए-बंदगान (दास विभाग), डाक विभाग व दीवान-ए-नजर। दीवान-ए-नजर विभाग उपहार को भी वही राजकोष से धन लेकर हाजिब द्वारा सही व्यक्ति की शिनाख्त हो जाने पर उसे देता था।

दीवान-ए-इश्तिहाक : यह विभाग पेंशन से संबंधित था। इसका कार्य खनकाहों को अनुदान देकर उनके रख-रखाव का प्रबंध करना, आलिमों, हाफिजों व शेखों इत्यादि को अनुदान देना था। फिरोजशाह तुगलक के समय यह विभाग चार हजार दो सौ आलिमों को भत्ते व पेंशन दिया करता था।

दीवान-ए-खैरात : इस विभाग की स्थापना फिरोजशाह तुगलक के काल में हुई। इसका मुख्य कार्य गरीब लड़कियों के विवाह के लिए मुसलमान माता-पिता को वित्तीय सहायता देना था। वित्तीय सहायता प्राप्त करने वाले लोगों का पंजीकरण किया जाता था और उन्हें 50 या 30 या 20 तन्का की मदद दी जाती थी।

दीवान-ए-बंदगान : इस विभाग की स्थापना दासों की बढ़ती हुई संख्या को देखकर की गई। फिरोज शाह तुगलक ने दासों को कार्य दिलाने की ओर ध्यान दिया। उसने दासों को उपयुक्त प्रशिक्षण देने व उनके कार्य व योग्यतानुसार वेतन, भोजन, वस्त्र देने की व्यवस्था की। इस विभाग के प्रमुख अधिकारी चौश-ए-गूरी, नायब-ए-चौश-ए-गूरी तथा दीवान हुआ करते थे। इस विभाग के लिए पृथक राजकोष होता था और और एक पृथक मजमुआदार भी होता था।

इमारत-ए-खाना विभाग : न्याय करना सुल्तान पुनीत कार्य समझते थे। अतएव उन्होंने न्याय व्यवस्था की ओर भी बराबर ध्यान दिया। उन्होंने इस विभाग को अन्य विभागों से अलग रखा। यद्यपि सद्र-उस-सुदूर धार्मिक विभाग का कार्य देखता था किंतु साधारणतया वही काजी-ए-मजालिम का कार्य भी देखता था। अर्थात वह मुख्य न्यायधीश भी होता था। सैद्धांतिक रूप से सुल्तान सल्तनत का सर्वोच्च अधिकारी होने के नाते शरियत का कानून लागू करने वाला होता था। उसे अपने धर्म की रक्षा करनी पड़ती थी। मुहम्मद बिन तुगलक अनेक व्यक्तियों व अभियोगियों को दंड देने में प्रवीण था। उसने इस कार्य हेतु दीवान-ए-रियासत नामक पृथक विभाग की स्थापना की। उसके समय में मुकदमों की 'संख्या इतनी बढ़ गई थी कि उसे इस विभाग की स्थापना करनी पड़ी। इस विभाग में अनेक विधि-वेत्ता नियुक्त किए गए थे। वह तब तक न्यायाधीशों का निर्णय स्वीकार नहीं करता था जब तक वह स्वयं उनके साथ तर्क न कर ले कि शरियत के नियमों के अंतर्गत अभियुक्त दोषी है या नहीं। दीवान-ए-कजा में दो प्रकार के अधिकारी होते थे- (1) मुफ्ती जो कि निर्णय देता था तथा (2) मुतसर्रिफ जो कि सही बातें मालूम करते थे व तर्क-वितर्क करते थे।

समकालीन ऐतिहासिक ग्रंथों में दो प्रकार के न्यायालयों का उल्लेख किया गया है। ये थे दीवान-ए-मजालिम तथा दीवान-ए-कजा। इब्नबतूता के अनुसार मुहम्मद बिन तुगलक सोमवार तथा वृहस्पतिवार को दीवान-ए-मजालिम में बैठकर न्याय करता था। सबसे पहले प्रार्थी को किसी हाजिब को अर्जी देनी पड़ती थी। यदि प्रार्थी की अर्जी निरस्त कर दी जाती तो उसे काजी-ए-ममालिक के पास अपना मुकदमा पेश करना पड़ता था। यदि वहां भी उसे न्याय न मिले तो वह सीधे सुल्तान के न्यायालय में अपनी अर्जी पेश कर सकता था। सुबह-अल-अशा में सुल्तान के न्यायालय दीवान-ए-मजालिस का सविस्तार उल्लेख मिलता है। यहां सुल्तान स्वर्ण सिंहासन पर बैठता था। उसके निकट अंगरक्षक तथा अधिकारी खड़े रहते थे। काजी-ए-ममालिक सुल्तान को परामर्श देने के लिए उपस्थित रहता था। जब दरबार के प्रारंभ होने की घोषणा कर दी जाती थी तो प्रार्थी आगे बढ़कर अपना मुकदमा पेश करते थे। जब सुल्तान अनुपस्थित रहता था जो हाजिब मुकदमें से संबंधित अर्जियां एकत्र कर मुख्य हाजिब के पास भेज दिया करता था जो उन्हें सुल्तान के पास पहुंचा देता था। सुल्तान सिकंदर लोदी के समय बजीर मजलिस न्यायालय की अध्यक्षता करते थे। ऐसे अवसर पर काजी तथा अन्य बारह विधिवेत्ता न्यायिक परामर्श देने के लिए उपस्थित रहते थे। प्रार्थी सुल्तान की सवारी निकलते समय भी अपनी अर्जी दे सकते थे। मुकद्दमों का फैसला वादी व प्रतिवादी दोनों के तर्क सुनने के बाद ही होता था।

दीवान-ए-मजालिम : अथवा सुल्तान के न्यायालय के अतिरिक्त एक अन्य न्यायालय दीवान-ए-कजा भी होता था। इस विभाग का मुख्य न्यायाधीश काजी-ए-ममाजिक या काजी-उल-कुजात हुआ करता था। दिल्ली सल्तनत के अंतर्गत मुख्यतः सद्र-उस-सुदूर ही काजी-उल-कुजात होता था। उसकी मदद के लिए एक नायब की नियुक्ति की जाती थी। पहले काजी-ए-ममालिक दिल्ली के ही दीवान-ए-कजा के अध्यक्ष के रूप में कार्य करता था परंतु बाद में राजधानी दिल्ली के लिए एक पृथक काजी की नियुक्ति होने लगी। काजी-ए-ममालिक की सहायता के लिए अनेक काजी हुआ करते थे। मुहम्मद तुगलक के समय उसे 60,000 टंका वेतन मिलता था।

न्याय विभाग से संबद्ध एक अन्य महत्वपूर्ण व्यक्ति अमीर-ए-दाद पद पर नियुक्त किया जाता था। सुल्तान की अनुपस्थिति में वह मजालिम के न्यायलय में अध्यक्ष के रूप में कार्य करता था। सुल्तान की उपस्थिति में वह कार्यकारिणी के कार्य की देख-रेख किया करता था। मुहम्मद तुगलक के समय में उसे 50,000 टंका वेतन मिलता था। अमीर-ए-दाद के अन्य कार्यों में मस्जिदों, पुलों, सार्वजनिक इमारतों इत्यादि की देखभाल करना भी था। शहरों के कोतवाल, पुलिस तथा मुहतासिब के कार्यों की भी देख-भाल करता था।

उपरोक्त न्यायालयों को संगठित करने के पीछे न्याय करने की प्रबल भावना थी। मुहम्मद साहब के अनुसार सत्तर वर्षों तक प्रार्थना करने से न्याय करना अति उत्तम है। सियासत नामा के अनुसार कुफ्र के रहते हुए भी साम्राज्य बने रह सकते हैं किंतु अन्याय होने पर कोई भी साम्राज्य जीवित नहीं रह सकता। यह सत्य है कि कोई भी प्रशासन भ्रष्टाचार व अन्याय को पूर्णतया समाप्त नहीं कर सकता है। किंतु सुल्तानों ने न्याय दिलाने के कार्य में पूरी रुचि ली व न्याय विभाग को संगठित किया और इस विभाग के सभी अधिकारियों के कार्य निर्धारित किए। पवित्र, धर्मनिष्ठ विद्वानों व विधिवेत्ताओं को इन

पदों पर नियुक्त किया। वे स्वयं न्यायप्रिय थे और न्याय करने में पीछे नहीं रहते थे। वैसे तो मुकदमों का फैसला साधारण न्यायालय में परंपरागत कानून के अनुसार होता था। मुसलमानों व गैर मुसलमानों के बीच झगड़ों को समानता के आधार पर तय किया जाता था। हिंदुओं के मुकदमें बहुत ही कम दीवान-ए-मजालिम या काजी-ए-ममालिक के न्यायालयों में जाते थे क्योंकि गांव की पंचायतें ही उनके मुकदमों को तय कर देती थीं।

घरेलू विभाग

घरेलू विभाग या राजमहल के प्रशासन को सल्तनत कालीन प्रशासन की धुरी माना जा सकता है। कर्तव्यनिष्ठ सुल्तान सदैव राज कार्य में लिप्त रहता था। नियमतः वह प्रतिदिन दस घंटे, जिसमें वह कुछ भोजन करने व नमाज पढ़ने में व्यतीत करता था, राजकार्य किया करता था। शेष समय वह विश्वसनीय अधिकारियों, मंत्रियों, उलेमाओं आदि से विचार-विमर्श करने, सर्वसाधारण के सम्मुख अपने वैभव, गरिमा व प्रतिष्ठा व्यक्त करने, आखेट खेलने, संगीत व नृत्य से अपना मनोरंजन करने या काव्यपाठ सुनने में व्यतीत किया करता था। अनुष्ठानिक दरबारों, भव्य जुलूस, अगणित भोज तथा उत्सवों एवं समारोहों में भी उसका अधिकांश समय व्यतीत होता था। प्रजा को प्रभावित करने के लिए ये कार्य महत्वपूर्ण थे। राजदूत व करद राजा जब दरबार में प्रवेश करते थे तो दरबार की भव्यता उन्हें चकाचौंध कर देती थी। जुलूस में महल के बाहर जब सुल्तान निकलते थे तो निःसहाय व्यक्तियों की अर्जियों पर ध्यान देते व उसके बाद निजी बैठक में जाते थे जहां मंत्रियों व विश्वस्त अमीरों से आवश्यक एवं गोपनीय विषयों पर विचार विमर्श करते थे। तत्पश्चात एक अन्य बैठक में उच्च श्रेणी के अमीर व अधिकारी, विभन्न विभागों के सचिव तथा अन्य परामर्शदाता उपस्थित रहते थे। यहां सुल्तान अधिकाधिक राजकार्य को निबटाता था। यहीं योग्य व्यक्तियों की पदोन्नति व अयोग्य व्यक्तियों को दंड देने का निर्णय लिया जाता था। यहीं विदेशों से आए हुए राजदूतों व देशी नरेशों के प्रतिनिधियों का स्वागत किया जाता था, उन्हें सम्मान सूचक चिह्न व सरोपा भेंट में दिए जाते थे, उनके द्वारा लाए गए उपहार प्रदर्शित किए जाते थे, उच्च श्रेणी के अमीरों की नियुक्तियों के संबंध में घोषणा की जाती थी। तत्पश्चात दरबार-ए-खास का कार्यक्रम समाप्त हो जाता था।

विविध प्रकार के राजकाज हेतु तथा अनुष्ठानिक व वैभवशाली दरबार के आयोजन हेतु विभिन्न श्रेणियों के कर्मचारियों की आवश्यकता होती थी। सुल्तान की प्रतिष्ठा के लिए यह भी आवश्यक था कि उन विशिष्ठ अधिकारियों के पद व कार्य श्रेणी के अनुसार निर्धारित कर दिए जाएं जिससे कार्य समयानुसार व सही तरीके से संपन्न हो। इनके अतिरिक्त सुल्तान के अंगरक्षक, महल के चौकीदार, शाही महल के कार्य करने वाले नौकर-चाकर, सेविकाएं आदि होते थे। राज्य के कुछ विभाग भी महल के साथ संलग्न थे, अतएव उनमें भी कर्मचारियों की आवश्यकता होती थी। घरेलू विभाग के प्रशासन का विशेष महत्व था।

वकील-ए-दर : घरेलू विभाग का प्रमुख अधिकारी वकील-ए-दर होता था। उसका आधिपत्य व नियंत्रण संपूर्ण घरेलू विभाग पर होता था। वह सुल्तान के निजी कर्मचारियों को भत्ते व वेतन का भुगतान किया करता था। शाही भोजनालय, शराबखाना, अस्पताल यहां तक कि राजकुमार भी उसकी देख-रेख में रहते थे। घरेलू विभाग से संबंधित सभी आदेश सुल्तान उसके द्वारा ही भेजता था। वहीं सुल्तान के सम्मुख सभी आदेश पंजीकृत

टिप्पणी

किए जाते थे और मुहर लगाई जाती थी और उस पर हस्ताक्षर होता था। चूंकि सभी दरबारी, नदीम, राजकुमार व राजकुमारियां, हरम की महिलाएं उसी के विभाग के अंतर्गत थीं, अतएव वे सब अपने कार्यों के लिए उसी से संपर्क स्थापित करते थे। अपने कार्यालय के कर्मचारियों व अधिकारियों का चयन उसे सतर्कतापूर्वक करना होता था। घरेलू विभाग के विषयों के संबंध में उसे सुल्तान को 'सतत' सूचनाएं देनी पड़ती थीं। कभी-कभी उसकी सहायता के लिए सुल्तान नायब-ए-वकील-दर भी नियुक्त कर दिया करता था।

अमीर-ए-हाजिब : घरेलू विभाग का दूसरा महत्वपूर्ण अधिकारी अमीर-ए-हाजिब हुआ करता था। उसे बारबक भी कहते थे। अमीर-ए-हाजिब अथवा बारबक का कार्य दरबार की व्यवस्था करना था। वे अमीरों व पदाधिकारियों को उनके पदानुसार निर्धारित स्थान पर बैठाते थे। उनके सहायक हाजिब दरबार में सुल्तान व उसकी प्रजा के मध्य खड़े रहते थे। कोई भी व्यक्ति जब तक कि हाजिब उसे सिंहासन के समक्ष न ले जाएं, सिंहासन के पास नहीं पहुंच सकता था। वे सुल्तान का आदेश अमीरों व अधिकारियों तक पहुंचाते थे। वे सभी अर्जियों को सुल्तान के सम्मुख प्रस्तुत करते थे।

नकीबे-नुकाबा : आनुष्ठानिक समारोहों को आयोजित करने तथा दरबार के अमीरों व आगंतुकों को लाने के लिए नकीब हुआ करते थे। वे निम्न श्रेणी के कर्मचारी होते थे। वे शाही आदेशों की घोषणा सैनिकों व जनता के समक्ष करते थे। वे सुल्तान की सवारी के आगे-आगे भागते हुए उसके आगमन की घोषणा करते जाते थे। उनके मुख्य अधिकारी को नकीबे-नुकाबा कहते थे। उसकी गदा में सोने की मूठ व मोर के पंख लगे होते थे। वह दरबार के द्वार पर एक चबूतरे पर बैठकर प्रत्येक आगंतुक के संबंध में छानबीन करके उन्हें दरबार में जाने दिया करते थे।

सर-ए-जान्दार : सुल्तान की रक्षा के हेतु कुछ विशेष चुने हुए सैनिक होते थे जिन्हें जान्दार कहते थे जो अंगरक्षक का कार्य करते थे। वे सुंदर व स्वस्थ युवक होते थे जो सैन्य-प्रशिक्षण प्राप्त कर चुके होते थे। उनकी पोशाक और अस्त्र-शस्त्र पर विशेष ध्यान दिया जाता था। जब सुल्तान दरबार में उपस्थित होता था या अन्य अवसरों पर वे सदैव उसके साथ रहते थे। बलबन ने सीस्तानी सैनिकों को अपना अंगरक्षक नियुक्त करके उन्हें साठ से सत्तर हजार जीतल तक वेतन दिया। वे नंगी तलवार लेकर सुल्तान के समीप रहते थे जिससे कि जुलूस की शान बढ़ती थी व जनता पर प्रभाव पड़ता था। साधारणत: जान्दार निष्ठावान दास ही हुआ करते थे, उनका मुखिया सर-ए-जान्दार कहलाता था। प्राय: दो सर-ए-जान्दार होते थे एक दाहिनी व दूसरा बाई ओर के लिए।

जान्दारों के अतिरिक्त सुल्तान की सेवा हेतु सिलहदार हुआ करते थे। वे शस्त्रधारी होते थे जो कि शाही अस्त्र-शस्त्र की देखभाल किया करते थे। वे सुल्तान के पास दरबार में व उसके बाहर उपस्थिति भी रहते थे। उनका प्रधान सर-ए-सिलहदार होता था। प्राय: दो सर-ए-सिलहदार होते थे, एक सुल्तान के दाहिनी व दूसरा बाई ओर।

राजमहल के अन्य कर्मचारी : सुल्तान के हरम के कर्मचारियों में हिजड़ों का प्रमुख स्थान था। वे हरम की रक्षा किया करते थे। वे हरम कि स्त्रियों व बाह्य संसार के मध्य संदेशवाहक का कार्य किया करते थे। हरम के बाहर कुछ अन्य रक्षक भी तैनात रहते थे जिन्हें सर परदादारान-ए-खास कहते थे। कोई महत्वपूर्ण अमीर ही उनका नेता होता था। मुख्य द्वारपाल का यह कार्य था कि वह रात्रि होने के पूर्व महल के सभी द्वार बंद करले और यह देखे कि अन्य द्वार-रक्षक अपने स्थान पर हैं या नहीं। उनके अतिरिक्त अनेक

पदाती जो कि मुख्यत: दास होते थे, भी हुआ करते थे जो कि सुल्तान के साथ आखेट या जुलूस में साथ-साथ चलते थे। घरेलू विभाग के अन्य कर्मचारियों में नौकर-चाकर, नौकरानियां व सेविकाएं भी हुआ करती थीं। उन सबके कार्य निर्धारित थे। शाही पुस्तकालय के लिए किताबदार, शाही रसोई की व्यवस्था करने व भोजन परोसे जाने से पूर्व उसे चखने के लिए चश्नगीर, भोजन परोसने की व्यवस्था करने हेतु खासादार, शर्बत व मदिरा की व्यवस्था करने के लिए शराबदार, पेय पदार्थों को प्रस्तुत करने हेतु साकी-ए-खास, शाही तम्बुओं, अभियानों व फर्नीचर, दरी, कालीनों पर्दों इत्यादि की व्यवस्था हेतु फर्राश, शाही चिलमची के लिए तशतदार, प्रकाश की व्यवस्था हेतु मशालदार, सुल्तान के निजी सेवक अगाची, शाही महल का मुख्य कार्यकारी दबीर-ए-सरा तथा शाही कोष की देख-भाल करने के लिए बहलादार या खजांची हुआ करते थे। इनके अतिरिक्त शाही छत्र के लिए छत्रदार, शाही राजचिह्न की देख-भाल करने कि लिए अमीर-ए-तुजुक तथा शाही पताकाओं के लिए कुरवेग व शाही हकीम मालिक-उल-हुकमा भी हुआ करते थे।

घरेलू विभाग के कर्मचारी शाही परिवार की देख-रेख किया करते थे। शाही परिवार के सदस्य न केवल राजनीति को प्रभावित करते थे बल्कि अत्यधिक प्रतिष्ठा रखते थे। हरम के अंदर प्रधान रानी मलिका-ए-जहां कही जाती थी। राजमाता को खुदाबंद जादा-ए-जहां या मखदूम-ए-जहां कहते थे। सल्तनत काल में हरम की महिलाएं परदे के पीछे से राजनीति को बहुत ही कम प्रभावित करती थीं। रजिया अपने ही अधिकार से शासिका बनी। इल्तुतमिश की प्रधान पत्नी व सुल्तान रुकनुद्दीन फिरोज की मां शाह तुर्कान ने राजनीति में दखल दिया था। जलालुद्दीन फिरोज खिलजी की मृत्यु के बाद उसकी पत्नी मिलका-ए-जहां ने राजनीति की बागडोर संभालने की कोशिश की। उसने अपने पुत्र रुकनुद्दीन इब्राहीम को गद्दी पर बिठा दिया। किंतु उसका प्रभाव अधिक दिनों तक न चल सका। अलाउद्दीन खिलजी के दिल्ली आ जाने से उसको अपने पुत्र के साथ पलायन करना पड़ा। मुहम्मद बिन तुगलक की मां अपनी उदारता व दान शीलता के लिए प्रसिद्ध थी किंतु राजनीति से वह दूर रही। हरम में राजकुमारों का पानल-पोषण होता था और उन्हें व्यावहारिक शिक्षा दी जाती थी। जो राजकुमार गद्दी तक नहीं पहुंच पाते थे उनका अक्सर बुरा परिणाम होता था। या तो वे बंदीगृह में रहते या अंधे बना दिए जाते अथवा उनका वध करा दिया जाता था।

दास : मध्यकालीन शासकों को अपने दासों पर गर्व था। वे उन्हें अपनी संपत्ति समझते थे। उन्हें अपने पुत्रों की भांति सैनिक व असैनिक शिक्षा दिलवाते थे। दासों को विभिन्न स्रोतों से प्राप्त किया जाता था। मुहम्मद गोरी के कोई पुत्र न था। जब उसके दरबारियों ने उसके उत्तराधिकारी के संबंध में प्रश्न किया तो उसने उत्तर दिया कि 'तुर्की दासों के रुप में मेरे अनेक पुत्र है, वे ही मेरा साम्राज्य विरासत में प्राप्त करेंगे और मेरी मृत्यु के उपरांत खुतबा में मेरा नाम पढ़ते रहेंगे।' इन दासों की नियुक्तियां सर्वप्रथम घरेलू विभाग में होती थीं। जब वे अपनी योग्यता व निष्ठा का परिचय देकर अपने स्वामी का मन मोह लेते थे तो उन्हें उच्च पदों पर नियुक्त कर दिया जाता था। राज्य का कोई भी पद उनके लिए महान नहीं होता था उनकी महत्वाकांक्षा के कारण इल्तुतमिश और बलबन को उनसे निबटना पड़ा। अलाउद्दीन खिलजी के पास पचास हजार दास थे (50,000) जिनका उपयोग उसने अंगरक्षकों व सैनिकों के रूप में किया। मुहम्मद बिन तुगलक के समय

टिप्पणी

दासो की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई। फिरोज शाह तुगलक के समय दासों की संख्या एक लाख पचास हजार हो गई। इनमें से चालीस हजार दास राजमहल की सेवा में नियुक्त थे। दासों को विभिन्न स्रोतों से एकत्र करने में फिरोजशाह की रुचि थी। इक्तादारों व प्रांतीय अधिकारियों से कहा गया कि वे युद्ध में बंदी बनाए गए दासों को राजधानी में भेजें। प्रत्येक शहर के कोतवाल से भी कहा गया कि वे दासों को एकत्र करके राजधानी में भेजें। इन दासों के रख-रखाव व भरण-पोषण हेतु घरेलू विभाग के अंतर्गत दीवान-ए-बंदगान विभाग की स्थापना हुई। दीवान-ए-बंदगान का मुख्य अधिकारी मजमुआदार होता था जिसकी सहायता के लिए चौश-ए-घूरी व व नायब-ए-चौश-ए-घूरी तथा अनेक अन्य अधिकारी व कर्मचारी नियुक्त किए गए। इस विभाग के लिए पृथक कोषागार स्थापित किया गया जिससे दासों को वेतन व भत्ते दिए जा सकें। फिरोजशाह ने एक लाख चालीस हजार दासों को दीपालपुर, हिसार फिरोजा, समाना, गुजरात, आदि प्रांतों में कार्य करने के लिए भेजा था। राजधानी के दासों में से लगभग बारह सौ ने तकनीकी शिक्षा प्राप्त करके शाही कारखानों में कार्य करना प्रारंभ कर दिया। जिन्हें साहित्य में रुचि थी उन्हें धार्मिक शिक्षा दी गई। प्रांतों में भेजे गए दासों के लिए प्रांतीय अधिकारियों को आदेश दिए गए कि वे उन्हें व्यावसायिक शिक्षा प्रदान करें। प्रतिवर्ष उन्हें दरबार में प्रस्तुत करें, उनकी प्रगति का वार्षिक ब्योरा दें और उनका पूर्ण उपयोग प्रांतों में स्थापित कारखानों में करे। जो दास हृष्ट-पुष्ट थे उन्हें सैनिक प्रशिक्षण देकर प्रधान सेनापति इमाद-उल-मुल्क के अंतर्गत भर्ती किया गया। उनमें से कुछ को अंगरक्षक दल में भर्ती किया गया। अनेक दासों को आबदार (पानी का प्रबंधक), जामादार (शाही पोशाकों का प्रबंधक), परदादार (पर्दों का प्रबंधक), शराबदार (पेय पदार्थों का प्रबंधक), शमादार (प्रकाश का प्रबंधक), इत्रदार (सुगंधित पदार्थों का प्रबंधक) इत्यादि नियुक्त किया गया। जिन दासों को धार्मिक शिक्षा दी गई उनमें से अनेक को मक्का भेज दिया गया ताकि वे वहां अपना जीवन चिंतन, मनन व प्रार्थना में व्यतीत कर सकें। घरेलू विभाग में कार्य करने वालों को 20 से 125 टंका वेतन दिया जाता था। इसके अतिरिक्त उन्हें वस्त्र व भोजन मुफ्त में दिया जाता था। इस प्रकार दासों का उपयोग करके फिरोज शाह ने एक बड़ी समस्या को दूर ही नहीं किया बल्कि अपने शासनकाल को समृद्धशाली, शांतिप्रिय व कल्याणकारी भी बना दिया।

कारखाने : घरेलू विभाग के अंतर्गत शाही कारखाने भी थे। इस विभाग की अनेक आवश्यकताएं थीं, जिन्हें पूरा करने के लिए विविध प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन शाही कारखानों में होता था। फिरोजशाह के शासनकाल के पूर्व दिल्ली के सुल्तानों ने अनेक कारखाने स्थापित किए थे। मुहम्मद तुगलक के कारखानों में केवल जरी के परिधान बनाने के लिए पांच सौ कारीगर तथा रेशम के परिधान और खिलअतें (सरोपा) बनाने के लिए चार हजार कारीगर कार्य करते थे। सुल्तान प्रतिवर्ष करीब बीस हजार खिलअतें या सरोपा अमीरों को उपहार में दिया करता था। अस्त्र-शस्त्र व अन्य वस्तुओं के उत्पादन की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। फिरोजशाह तुगलक के समय कारखानों की संख्या छत्तीस थी। उसने कारखानों को दो श्रेणियों में विभाजित किया– रातवी और गैररातवी। प्रथम श्रेणी के कारखाने खाद्यान्न भोजन, चारे, शाही अस्तबल, जानवरों और शाही बावर्ची खाने की व्यवस्था करते थे। शमाखाना जो कि रोशनी का प्रबंध करता था चिराग व तेल की व्यवस्था करता था। द्वितीय श्रेणी (गैर रातवी) के कारखाने वस्त्र, परिधान, पोशाकें, फर्नीचर, तंबु, शामियाने अस्त्र-शस्त्र व दिन-प्रतिदिन के काम आने वाली हजारों वस्तुओं का उत्पादन

और आपूर्ति करते थे। कई मलिक या खान इन कारखानों की देख-रेख के लिए नियुक्त किया जाता था। उसकी सहायता के लिए मतुसर्रिफ होते थे जो कि प्रत्येक कारखानों का हिसाब-किताब रखते थे। प्रत्येक कारखाने में एक मुख्य अमीर और मुतसर्रिफ भी हुआ करते थे जो कारखानों के मुख्य अधिकारी और मुतसर्रिफ से आदेश लेते थे। आदेशानुसार वे उन वस्तुओं का उत्पादन कराकर आपूर्ति करते थे. फिरोज शाह ने इन कारखानों की देख-भाल के लिए पृथक दीवान नियुक्त कर दिया था जिसका मुख्य कार्य आय-व्यय का हिसाब रखता था। इस दीवान के माध्यम से कारखानों का प्रमुख मुतसर्रिफ केंद्रीय दीवान-ए-वजारत से सतत संपर्क बनाए रखता था। प्रत्येक वर्ष के अंत में दीवान-ए-वजारत सभी कारखानों के मुख्य अधिकारियों और मुतसर्रिफों को अपने विभाग में बुलाकर उनसे आय-व्यय हिसाब लेता था व उनकी जांच किया करता था। कारखानों के मुख्य अधिकारी अपने सामान को बाजार में बेचने के लिए लाते थे। यहां व्यापारी माल को खरीदते थे। मुख्यत: शाही कारखाने शाही उपयोग में आने वाली वस्तुओं का उत्पादन व उसकी आपूर्ति करते थे।

घरेलू विभाग के अंतर्गत शाही अस्तबल की व्यवस्था भी की जाती थी। रातवी कारखानों में पैजाद या घोड़ों के अस्तबल से संबंधित विभाग एक बड़ा विभाग होता था। फिरोजशाह के काल में दिल्ली के समीप ऐसे पांच बड़े स्थान थे। जहां घोड़े पाले जाते थे। इससे पूर्व भी सुल्तानों का ध्यान घोड़ों की ओर अधिक रहता था। वे अरबी तथा तुर्की घोड़ों को अधिकाधिक संख्या में विदेशों से मंगाते थे या घोड़ों के बाजारों में उन्हें खरीदते थे। मुहम्मद बिन तुगलक प्रतिवर्ष दस हजार अरबी घोड़े उपहार में देता था। सल्तनत काल में प्रारंभ से घोड़ों के अस्तबल का प्रबंधक अमीर-ए-आखुर व हाथियों का प्रबंधक शाहना-ए-पील हुआ करता था। इसके अतिरिक्त ऊंट, खच्चर, भैसें, बैल आदि जो बोझा ढोने के काम आते थे की पृथक व्यवस्था होती थी।

आखेट : शाही आखेट ने अनेक कारखानों के लिए कार्य किया। आखेट सुल्तानों के मनोरंजन का साधन तो था ही किंतु उसके साथ-साथ इससे सेना में चुस्ती व तत्परता भी आती थी। मंगोलों के महान खान को बलबन की आखेट में रुचि के बारे में ज्ञात हुआ तो उसकी प्रशंसा करते हुए उसने कहा कि सेना को सशक्त व कारगर बनाने के लिए उत्तम उपाय वह करता है। अनेक कारखाने शिकार के लिए शिकारी कुत्तों, बाजों आदि का प्रबंध करते थे और उन्हें शिकार का प्रशिक्षण दिया करते थे। लगभग हजार से बारह सौ तक बहेलिए सुल्तान के साथ-साथ घोड़ों पर सवार होकर चलते थे। जब सुल्तान आखेट के लिए जाता तो पांच-छह उच्च श्रेणी के अमीर भी एक हजार अश्वारोहियों तथा पदातियों के साथ जाते थे। अनेक संख्या में तीरन्दाज भी उनके साथ होते थे। करीब तीन हजार हकावे भी होते थे जो जानवरों को घेरे में ले लिया करते थे। शिकार किए गए जानवरों का मांस साथ में चलने वाले लोगों तथा गरीबों में बांट दिया जाता था। शिकार के लिए राजाधानी के समीप तथा प्रांतों में शिकारगाह आरक्षित कर दिए जाते थे। आखेट का प्रबंध करते हेतु अमीर-ए-शिकार व नायब अमीर-ए-शिकार नामक पदाधिकारी घरेलू विभाग द्वारा नियुक्त किए जाते थे।

अमीर-ए-मजलिस : इसी भांति घरेलू विभाग में अमीर-ए-मजलिस की नियुक्ति सुल्तान की मजलिस, प्रीतिभोज व गोष्ठियों को आयोजित करने के लिए होती थी। यहां सुल्तान अपने राज्य के कुलीन वर्ग के सदस्यों, मित्रों अमीरों आदि से मिलता था। यहां संगीतज्ञ,

टिप्पणी

कवि, कलाकार व साहित्यकार भी उपस्थित रहते थे। वे उपस्थित लोगों के समक्ष अपनी कृतियां व रचनाएं प्रस्तुत करते और कला का प्रदर्शन करते थे। इन्हीं सभाओं में अमीर खुसरों अपनी रचनाएं सुनाता था।

अभिवादन के तरीके : घरेलू विभाग का यह उत्तरदायित्व था कि वह दरबारी नियमों व शिष्टाचार को लागू करे। विभिन्न अधिकारी व कर्मचारी अपने-अपने निर्धारित कार्य करते थे। केवल बहलोल लोदी के शासनकाल को छोड़कर जबकि सुल्तान अफगान अमीरों में अपने को समान समझता था, शेष कालों में सुल्तान का आदर किया जाना नितांत महत्वपूर्ण समझा जाता था। सभी सार्वजनिक व अर्द्ध सार्वजनिक अवसरों पर केवल कुछ ही गणमान्य व्यक्तियों को सुल्तान के सन्निकिट बैठने का प्राविधान था। अब्बासी खलीफाओं ने भूमि को चूमकर अभिवादन करने की जो परंपरा चलाई वह गैर इस्लामी होते हुए भी शासक की प्रतिष्ठा के अनुरूप थी। अभिवादन करने का यह ढंग गजनवियों ने अपनाया और यही ढंग दिल्ली के सुल्तानों ने अपने दरबार में लागू किया। बलबन ने सिजदा व पैबोस के रूप में अभिवादन का ढंग ईरानी शासकों की परंपरानुसार अपने दरबार में लागू किया। सुल्तान के प्रति आदर व श्रद्धा व्यक्त करने का यह सर्वोत्तम तरीका माना गया। गैर-इस्लामी होते हुए भी विधिवेत्ताओं या धार्मिक व्यक्तियों ने सिजदा एवं पैबोस पर टीका-टिप्पणी या उसका विरोध नहीं किया। यहां तक सुल्तान के प्रति प्रतिष्ठा प्रकट की जाती थी कि जब वह दरबार में अनुपस्थित रहता था तब भी दरबार में आते ही सिंहासन के सम्मुख सभी नतमस्तक होकर सिजदा किया करते थे।

राजचिह्न : मुसलिम देशों में राजचिह्नों का अत्यधिक महत्व था। इन राजचिह्नों में खुतबा, सिक्का, छत्र, मूठदार छड़ी, पताकाओं इत्यादि का विशेष महत्व था। खलीफाओं, पूर्व-सुल्तानों तथा वर्तमान सुल्तान का नाम खुतबा में पढ़ा जाता था। इससे मालूम होता था कि सुल्तान की सार्वभौमिकता स्वीकार कर ली गई। यदि कोई व्यक्ति सुल्तान का नाम खुतबा में नहीं पढ़ता था तो उसे विद्रोही माना जाता था। प्रत्येक सुल्तान गद्दी पर बैठने के बाद अपने नाम के सिक्के जारी करता था। अन्य कोई व्यक्ति अपने नाम का सिक्का नहीं निकलवा सकता था। इसके अतिरिक्त तराज अथवा सोने-चांदी की जरी से रेशम के वस्त्र पर सुल्तान का नाम काढ़ा जाना भी राजचिह्न समझा जाता था। केवल सुल्तान को ही तराज बनवाने का अधिकार था। अफीफ के छब्बीस अन्य राजचिह्नों, खुतबा-ए-बख्त, सादली, मोहखा अफीक, तुगरा, रफी, तवलीक, अगिरान, बंगयास, दरिए धसियादारा, सिलाह-ए-दर-सवारी मसीहा, कुल्दान-ए-मलिक, छत्र-ए-सिपाह, तरकश सफेद, किताबत तवारीख, बखर पीलान, आमदन-मुलक दर सरा अब्बल वक्त, बेग तराज, दुरा-ए-वेदकश इत्यादि का उल्लेख भी है जिनमें से कुछ अस्पष्ट हैं। खुतबा को छोड़कर अन्य सभी राजचिह्नों का प्रबंध घरेलू विभाग ही किया करता था।

घरेलू विभाग का सल्तनत के प्रशासन में महत्वपूर्ण योगदान था। शाही अंगरक्षक व घरेलू सैनिक न केवल सुल्तान की रक्षा करते थे वरन वे दरबार की शोभा भी बढ़ाते थे और अमीरों को अनुशासन में रखते थे। वास्तव में सुल्तान की निरंकुशता की पुष्टि में वे सब सहायक तत्व थे। यही बात केंद्रीय मंत्रियों के बारे में कही जा सकती है। ये आधुनिक मंत्रि-मंडल की तरह नहीं थे। उनकी राय लेना या न लेना, उनको नियुक्त करना या हटाना सब सुल्तान की इच्छा पर निर्भर करता था। सुल्तान मजलिसे-खिलवत से भी राय लेता था। इसमें उसके प्रमुख मित्र, अमीर इत्यादि होते थे। किंतु वे सब उसे

टिप्पणी

कोई कार्य करने के लिए बाध्य नहीं कर सकते थे। इतना अवश्य है कि वे कुछ न कुछ प्रभाव प्रशासन पर अवश्य डालते थे।

प्रांतीय एवं स्थानीय प्रशासन

दिल्ली राज्य पर जितने वंशों का शासन रहा उतने ही शासन के प्रकार भी बने। साथ ही साथ धर्म के अनुसार भी राज्य व्यवस्था में परिवर्तन होते रहे। इस्लाम की शासन व्यवस्था की अपनी अलग ही विशेषताएं रही हैं। इस्लाम का राज्य संबंधी सिद्धांत विलायत, शिक इत्यादि नए शब्दों से भी हमारा परिचय कराता है।

विलायत : गजनवियों व गोरियों का जब पंजाब पर प्रभुत्व स्थापित हुआ तो प्रांतीय शासन का विकास दिखाई पड़ता है। इस समय विलायत शब्द का प्रयोग प्रांत के संदर्भ में देखा जा सकता है। भीरा, सियालकोट, लाहौर, मुल्तान ये उस समय की विलायतें उल्लिखित हैं। सियालकोट की विलायत जम्मू राज्य की सीमा तक, लाहौर की विलायत रावी नदी के तट से लेकर मुल्तान की सीमा तक थी।

गजनवियों के समय कोहराम, समाना, हांसी, भटिण्डा की विलायतें भी उल्लिखित हैं। इनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रांतीय शासन की रूपरेखा गजनवियों व गोरियों के अंतर्गत विद्यमान थीं। जब गोरियों ने उत्तरी भारत को विजित करना प्रारंभ किया तो लखनौती तक के सभी दुर्गों में मुसलमान सैनिक रखे गए, किंतु दिल्ली को छोड़कर अन्य विलायतों की सीमा निर्धारित नहीं की गई। दिल्ली की सीमा पूर्व में जमुना नदी के तट से लेकर उत्तर में शिवालिक की पहाड़ियों तक, दक्षिण में मेवात तथा पश्चिम में कोहराम व समाना की विलायत तक थी। 1206 ई. तक गंगा-जमुना दोआब यद्यपि विजित कर लिया गया था किंतु इस क्षेत्र में किसी विलायत की स्थापना नहीं हुई। यहां के दुर्ग व शहर जैसे मेरठ, बरन, कोल, अवध, बनारस, कालिजर, तथा पश्चिम में बयाना, ग्वालियर, अजमेर में केवल मुसलमान अमीर अपनी सेना के साथ रखे गए। नागौर की विजयोपरांत उसे विलायत का स्तर दिया गया। बिहार व लखनौती को विलायत का स्तर नहीं दिया जा सका क्योंकि उन पर तुर्कों का आधिपत्य पूर्ण नहीं था। ऐबक के लाहौर में रहने के कारण हिंदू शासकों ने अनेक प्रदेश पुनः अपने हाथों में ले लिए। परंतु इल्तुतमिश ने उन्हें पराजित कर नागौर, कसीब, साभर, ग्वालियर, बयाना, कालिंजर व महोबा को प्रांत या विलायत का स्तर प्रदान किया। इसी काल में बदायूं, कन्नौज, बनारस तथा अवध को पुनः विजित किया गया और उन्हें भी विलायत का स्तर प्रदान किया। तत्पश्चात बहराइच व उसके निकटवर्ती प्रदेश को विलायत का स्तर मिला। तेरहवीं शताब्दी के प्रारंभ में कुल 21 विलायतें थीं- 1. लाहौर(जिसमें भीरा वे सियालकोट भी शामिल थे, 2. ऊपरी सिंध में मुल्तान जिसमें उच्च भी सम्मिलित था, 3. कोहराम व समाना (बाद में सुनाम व समाना), 4. हांसी, 5. खित्ता-ए-देहली, 6. मेरठ, 7. कोल (अलीगढ़) 8. बरन (बुलन्दशहर) 9. सम्भल, 10. खित्ता-ए-कन्नौज, 11. कड़ा मानिकपुर, 12. बदायूं, 13. अवध, 14. बहराइच, 15. बिहार, 16. लखनौती, 17. बयाना, 18. मेवात, 19. ग्वालियर, 20. अजमेर 21. नागौर। इल्तुतमिश के समय अमरोहा को विलायत का स्तर मिल जाने से प्रांतों की संख्या बढ़कर बाईस हो गई। सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी के समय-साम्राज्य की सीमाओं का विस्तार हुआ, परिणामस्वरूप कुछ नई विलायतें धार, उज्जैन, चित्तौड़, चंदेरी व ईरज इत्यादि सामने आईं। इस प्रकार विलायतों की संख्या बढ़कर अठाईस-उन्तीस हो गई। गयासुद्दीन तुगलक ने बंगाल अभियान से वापस लौटते समय तिरहुत के शासक राजा हरि सिंह देव को पराजित कर

उसका राज्य छीन लिया और तिरहुत को विलायत बना दिया। मसालिक-उल अबसार के लेखक शिहाबुद्दीन अल उमरी के अनुसार मुहम्मद बिन तुगलक के साम्राज्य में 23 प्रांत (विलायत) थे– 1. दिल्ली, 2. देवगिरि, 3. मुल्तान, 4. कोहराम, 5. समाना, 6. सिविस्तान, 7. उच्च, 8. हांसी, 9. सिरसौती, 10. मावर, 11. तेलंग, 12. गुजरात, 13. बदायूं, 14. अवध, 15. कन्नौज, 16. लखनौती, 17. बिहार, 18. कड़ा, 19. मालवा, 20. लाहौर, 21. कालानूर, 22. जाजनगर, 23. द्वार समुद्र। बरनी ने केवल बारह प्रांतों का उल्लेख किया है- 1. दिल्ली, 2. गुजरात, 3. मालवा, 4. देवगिरि, 5. तेलंग, 6. काम्पिला, 7. द्वार समुद्र, 8. माबर, 9. तिरहुत, 10. लखनौत, 11. सतगांव, 12. सुनारगांव। बरनी की सूची अपूर्ण प्रतीत होती है। नि:सन्देह मुहम्मद बिन तुगलक के शासनकाल में विलायतों या प्रांतों की संख्या साम्राज्य के विस्तार के कारण बढ़ गई थी। फिरोजशाह तुगलक के समय साम्राज्य की सीमाएं काफी सिकुड़ गईं। परिणामस्वरूप केवल चौदह विलायतें ही रह गई- 1. मुल्तान, 2. दीपालपुर, 3. समाना, 4. सरहिंद, 5. लाहौर, 6. बिहार, 7. महोबा, 8. अवध, 9. जौनपुर, 10. बदायूं, 11. कन्नौज, 12. मालवा, 13. खानदेश, 14. गुजरात। सैय्यद शासकों के समय बंगाल, जौनपुर, मालवा और गुजरात स्वतंत्र हो गए जिससे विलायों की संख्या बहुत ही कम हो गई। केवल बयाना, लाहौर, कोल, इटावा, चंदवार और मुल्तान विलायतों का ही उल्लेख मिलता है। बहलोल लोदी के सयम सम्भल, जौनपुर, बकेसर और सिकंदर लोदी के समय सरवर, बिहार, सारन इत्यादि के नाम मिलते हैं।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि सल्तनकाल में विलायतों (प्रांतों) की संख्या साम्राज्य की सीमाओं के घटने-बढ़ने के साथ घटती-बढ़ती थी। कभी-कभी कई प्रशासनिक इकाइयों को मिलाकर विलायत का रूप दिया गया या कभी विलायत को प्रशासनिक सुविधा के लिए कई भागों में विभक्त कर पृथक विलायतें बनाई गईं। विलायतों के प्रशासन की देख-रेख करने के लिए जिस प्रमुख अधिकारी को नियुक्त किया जाता था उसे मुक्ता, नायब, सुल्तान वली आदि कई नामों से जाना जाता था। वह कार्यकारी व न्यायिक अधिकारी होता था। वह सुल्तान के नायब या प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता था। उसकी नियुक्ति सुल्तान द्वारा होती थी। उसे सैनिक, न्यायिक व भूराजस्व संबंधी मामले देखने होते थे। सैनिक अधिकारी के रूप में उसे निर्धारित संख्या में सैन्य-टुकड़ी सुल्तान की सहायता के लिए तैयार रखनी पड़ती थी। उसे विभिन्न सरदारों के अंतर्गत रहने वाले सैनिकों का निरीक्षण करना पड़ता था। न्यायिक अधिकारी के रूप में उसे प्रांतीय अदालतों में न्यायाधीश का कार्य करना पड़ता था। भू-राजस्व अधिकारी के रूप में उसे वसूली का कार्य देखना पड़ता था। उसे अपने क्षेत्र में विद्रोहों का दमन करने और वहां शांति एवं व्यवस्था बनाए रखने का कार्य करना पड़ता था। उसे अन्य अधिकारियों की नियुक्तियां करने का कोई अधिकार न था। उसका कर्तव्य सुल्तान के आदेशों का पालन करना होता था। जब सुल्तान उसके लिए खिलअतें भेजता था तो उसे शहर से बाहर निकल कर उन्हें स्वीकार करते हुए सुल्तान की राजधानी की ओर मुंह कर उसका अभिवादन करना होता था। उसे कभी भी किसी प्रांत में अधिक समय तक नहीं रहने दिया जाता था। उसका कुछ अंतराल के बाद स्थानांतरण होता रहता था। वह प्रतिवर्ष सुल्तान के लिए उपहार भेजा करता था। वह अपनी विलायत की आय से अपने प्रतिष्ठान के लिए खर्च निकालकर शेष धन राजकोष के लिए भेज दिया करता था। उसकी सहायता के लिए अनेक अधिकारी जैसे कि साहिब-ए-दीवान या ख्वाजा आदि होते थे।

शिक : प्रत्येक विलायत (प्रांत) कई शिकों में बंटी रहती थी। बलबन के समय से विलायतों को शिकों में बांटा जाना प्रारंभ हुआ। 1229 ई. में लखनौती जाने से पूर्व बलबन ने विलायत सुनाम व समाना को दो शिकों- दीपालपुर तथा समाना में बांट दिया। उसके बाद के सुल्तानों ने उसका अनुकरण करते हुए अन्य विलायतों को भी शिकों में बांट दिया। खिलजी काल के पूर्व दोआब तथा पूर्वी प्रदेश को अनेक शिकों में विभाजित कर दिया गया था। मुहम्मद बिन तुगलक के समय भी शिकों में विलायतें विभाजित रहीं। फिरोजशाह तुगलक के समय प्रमुख शिकों में शिक-ए-समाना, शिक-ए-हिसार फिरोजा, शिक-ए-हांसी, शिक-ए-सर-हिंद, शिक-ए-धार, शिक-ए-सण्डीला, शिक-ए-डलमऊ, शिक-ए-ग्वालियर, शिक-ए-मेवात, शिक-ए-महोबा वा काल्पी के नाम मिलते हैं। इन सभी शिकों में शिक-ए-बदायूं की सीमा में आधुनिक बेरली, बदायूं और शाहजहांपुर थे। दिल्ली के सैय्यद शासकों के अंतर्गत शिक-ए-मुल्तान, शिक-ए-दीपालपुर, शिक-ए-समाना, शिक-ए-हिसार फिरोजा, शिक-ए-सहारनपुर, शिक-ए-मियां दोआब, शिक-ए-दारल मुल्क देहली, शिक-ए-सम्भल व अलवर इत्यादि थी। लोदी सुल्तानों के समय में समय में शिक शब्द का प्रचलन कम हो गया। उसके स्थान पर सरकार शब्द का प्रयोग होने लगा। इस काल में छोटी-बड़ी सरकारें थीं। कुछ सरकारों में अनेक परगने तथा अन्य में थोड़े परगने थे। सरकार बयाना में 52 परगने व सरकार आगरा में 9 परगने ही थे। सरकार आगरा का वार्षिक भू-राजस्व 976919 टण्का तथा सरकार खैराबाद का वार्षिक भू-राजस्व 127500 टण्का था। बहलोल लोदी के शासन काल में पंजाब में प्रमुख सरकारों में सियाल कोट, लाहौर, दीपालपुर, समाना, सरहिंद, हिसार फिरोजा थी। दिल्ली के निकटवर्ती प्रदेशों में दारूल-मुल्क देहली, मेवात, बयाना, मियान-ए-दोआब बरन, कोल, सम्भल और बदायूं की सरकारें थीं। बहलोल ने बदायूं से लकार अवध व जौनपुर तक की सरकारों में अधिकारी नियुक्त किए। इसके अतिरिक्त अन्य सरकारों में सरकार सहारपुर, सरकार खैरावाद, सरकार लखनऊ, सरकार कन्नौज, सरकार मेवात, सरकार कड़ा, सरकार कालपी, सरकार वारी, सरकार बयाना, सरकार इटावा तथा चंदवार के नाम भी मिलते हैं। सिकंदर लोदी ने कई नये प्रदेशों को विजित किया और वहां सरकारें स्थापित कीं जैसे- सरकार भीरा, सरकार नगरकोट। इसी भांति उसके समय की सरकारों में बहराइच, चुनार, गाजीपुर, सरबर, सारन, चम्पारन, तिरहुत, चन्देरी, नागौर, शिवपुर, ग्वालियर की सरकारें भी थीं। ग्वालियर की सरकार का वार्षिक भू-राजस्व 2, 37, 57, 450 टंका था। जिस प्रकार प्रांतों की संख्या घटती-बढ़ती रहती थी उसी भांति सरकारों की संख्या भी घटती-बढ़ती रहती थी।

प्रत्येक शिक के प्रशासन के लिए शिकदार की नियुक्ति होती थी। शिकदार की सहायता के लिए मुतसर्रिफ व आमिल हुआ करते थे जो कि भू-राजस्व अधिकारी होते थे। शिकदार का कार्य शिक में शांति व व्यवस्था बनाए रखना, विद्रोहियों का दमन करना, सेना रखना और भू-राजस्व अधिकारियों की मदद करना होता था। विभिन्न प्रांतों या विलायतों में शिक के अतिरिक्त एक अन्य प्रशासनिक इकाई इक्ता होती थी। इक्ता शिक के बराबर या उससे छोटी भी हो सकती थी। तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कोल, सम्भल, कन्नौज और बिहार की इक्ताओं के नाम मिलते हैं। बरनी के विवरण से मालूम होता है कि बलबन ने अनेक विलायतों को अनेक शिकों व इक्ताओं में विभाजित कर उनका प्रबंध करने के लिए अमीरों को दे दिया। बलबन ने अमरोहा की विलायत में अनेक इक्ताएं मिलाईं। उसने वहां अनेक अधिकारी नियुक्त करके उनके अंतर्गत सेना रखी व

टिप्पणी

उन्हें खालसा में ले लिया। इसी भांति बलबन के समय में अनेक इक्ताएं थीं। कालांतर में अनेक इक्ताएं विभिन्न शिकों व विलायतों में स्थापित की जाती रहीं। उदाहरण के लिए इक्ता-ए-रापरी, इक्ता-ए-चंदेरी, इक्ता-ए-धार, इक्ता-धार, इक्ता-ए-संडीला, इक्ता-ए-कन्नौज, इक्ता-ए-अवध, इक्ता-ए-जौनपुर तथा जफराबाद, इक्ता-ए-बिहार, इक्ता-ए-तिरहुत इत्यादि। इन इक्ताओं में मुख्य अधिकारी को इक्तादार कहते थे जिसका प्रमुख कर्तव्य शांति की स्थापना करना, विद्रोही तत्वों का दमन करना, भू-राजस्व वसूल करने वाले व्यय को निकालकर शेष धन राजकोष में भेज देना था। इन कार्यों के संपादन हेतु उसे एक सेना रखनी पड़ती थी। उसकी नियुक्ति सुल्तान द्वारा होती थी और अपने कार्यों के लिए वह सुल्तान के ही प्रति उत्तरदायी होता था। सुल्तान को इक्तादारों का स्थानांतरण करने, पदच्युत करने, दंड देने या पदोन्नति करने का अधिकार था।

परगना एवं ग्राम : विलायत की दूसरी इकाई परगना होती थी। परगने का एक मुख्य अधिकारी या चौधरी होता था। उसका पद वंशानुगत होता था। उसका कार्य परगने में शांति बनाए रखना, वहां के लोगों के हितों की रक्षा करना व अन्य परगना अधिकारियों की मदद करना था। प्रत्येक परगने में मुतसर्रिफ या आमिल, सरहंग, मुशरिफ, मुहस्सिल, गुमाश्ते इत्यादि होते थे। मुशरिफ का कार्य खेत में खड़ी फसल को देखकर राज्य की ओर से लगान निर्धारित करना था। मुहस्सिल का कार्य कृषक से नकद या अनाज के रूप में लगान वसूल करना था। गुमाश्ते राजकीय आदेश कृषकों तक पहुंचाते थे। कार्कून हिसाब-किताब लिखते थे।

परगने के नीचे की इकाई गांव होता था। यह प्रशासन की सबसे छोटी इकाई थी। गांव का एक मुखिया होता था जिसे मुकद्दम या खूत (भूमिपति) कहते थे। गांव का प्रशासन स्थानीय अधिकारी ही देखते थे। गांव में पंचायत भी होती थी जो लोगों के झगड़ों का फैसला करती थी।

सल्तनत काल में कुछ राजा, राय तथा जमींदार अर्द्धस्वतंत्र थे। वे वार्षिक कर का भुगतान सल्तनत को करते थे और उसके अधीन बने रहते थे। अपने प्रदेश के आंतरिक मामले में वे प्रायः स्वतंत्र थे। वे अपने प्रतिनिधियों द्वारा कृषकों से भूराजस्व की वसूली करवाते थे और अपने पास कुछ सेना भी रखते थे ताकि अपने क्षेत्र में शांति एवं व्यवस्था बनाए रखें।

शहरों की व्यवस्था : दिल्ली सल्तनत की स्थापना से पूर्व उत्तरी भारत के विभिन्न भागों में अनेक शहर थे। कालांतर के नवीन शहरों कि स्थापना के होने से उनकी संख्या में बराबर वृद्धि होती गई। प्रत्येक शहर की व्यवस्था को बनाए रखने एवं वहां के मुहल्लों का प्रबंध करने के लिए जिन प्रमुख अधिकारियों की नियुक्तियां की जाती थीं उनमें मुहतासिब और कोतवाल मुख्य थे। मुहतासिब का मुख्य कार्य अधार्मिक लोगों को दबाना तथा गलत कार्य करने वालों को दंड देना था। मुहतासिब सर्वसाधारण में शालीनता की स्थापना करता और शक्तिशाली व्यक्तियों के उत्पीड़न से निःसहाय लोगों की रक्षा करता था। सामूहिक नमाज कही जा रही है या नहीं, कोई नशे में तो सार्वजनिक स्थानों पर नहीं घूम रहा है, कोई जुआ तो नहीं खेल रहा है– इन सभी बातों को देखना उसका कार्य था। धोखाधड़ी करने वालों को रोकना भी उसी का कार्य था। उसका कार्य गैर कानूनी विवादों तथा शरारतपूर्ण कार्यों को रोकना था। विधिवेत्ताओं ने मुहतासिब के अधिकारों को सीमित कर दिया था। जैसे यदि किसी ऋणी ने इनकार कर दिया कि उसने ऋण नहीं लिया है

तो वह मामला काजी के पास निर्णय के लिए जाता था। मुहतासिब केवल ऋण का भुगतान न किए जाने कि स्थिति में ही हस्तक्षेप कर सकता था। इसी प्रकार जब तक व्यापार में धोखाधड़ी न हो तब तक वह हस्तक्षेप नहीं कर सकता था। मुहतासिब केवल कार्यकारी अधिकारी होता था। उसका कर्तव्य दासों तथा सेवकों को दुर्व्यवहार से रोकना था। वह स्वामियों को सेवकों से अत्यधिक कार्य लेने से रोकता था। वह घरेलू जानवरों की रक्षा करता था ताकि कोई उनका दुरुपयोग न करे या अत्यधिक बोझ ढोने के लिए उनका उपयोग न करे। वह जलापूर्ति, शहर की दीवारों, यात्रियों की सुविधा, सार्वजनिक इमारतों के रख-रखाव, राजमार्गों की रक्षा इत्यादि पर ध्यान भी रखता था। जो मकान गिरने वाले होते थे उन्हें तोड़ने का आदेश वह दिया करता था। उसका यह परम कर्तव्य था कि वह शहर के सामान्य जन जीवन की व्यवस्था करे ताकि समाज के किसी भी वर्ग के जीवनयापन में कोई असुविधा न हो। उसका कार्य सर्वसाधारण के नैतिक आचरण को बनाए रखना था। उसका कर्तव्य गैर इस्लामी मतों को दबाना व इस्लाम तथा खलीफाओं की खुल्लमखुल्ला भर्त्सना करने वालों को दंड देना भी था। वह बाजारों की देख-रेख भी करता था और समय-समय पर नाप-तौल के बांटों का निरीक्षण करता था। कम तौलने वाले तथा खाद्यान्नों में मिलावट करने वालों को वह दंड देता था।

प्रत्येक शहर में एक कोतवाल होता था। कोतवाल के अंतर्गत अश्वारोही तथा पदाति सैनिक (पुलिस) रात्रि में शहर में पहरा देते और मार्गों की रक्षा करते थे। वह शहर के निवासियों से मिल-जुल कर इन कार्यों को करता था। विभिन्न मुहल्लों में रहने वालों को वह यह कार्य सौंप देता था कि वे यह देखें कि उनके मुहल्ले में किसी अपराधी को पनाह तो नहीं दी जा रही है। वह प्रत्येक मुहल्ले में रहने वालों के नाम अपने रजिस्टर में दर्ज किए रहता था, उनकी गतिविधियों पर ध्यान रखता था तथा उनके जीविकोपार्जन के साधनों पर दृष्टि रखता था। प्रत्येक नवागंतुक व्यक्ति या मुहल्ले से जाने वाले व्यक्ति की उसे सूचना रहती थी। वह अभियुक्तों को दंड भी दे सकता था। संक्षेप में, कोतवाल का कार्य शहर में शांति एवं व्यवस्था बनाए रखना, या किसी की हत्या हो जाने पर हत्यारे को ढूंढ़ निकालना, कारगारों की व्यवस्था देखना, बंदियों को दिए गए दंड को लागू करना, बेरोजगारों की सूची बनाना और उन्हें रोजगार देना इत्यादि था। वह सभी आवश्यक बातों के संबंध में सुल्तान को समय-समय पर सूचनाएं भेजता रहता था।

सैन्य-व्यवस्था

मध्यकाल में कुशल, संगठित एवं अत्यधिक प्रशिक्षित सेना सुल्तान की शक्ति का प्रमुख स्रोत ही नहीं वरन उनके साम्राज्य का आधार स्तंभ थी। बिना कुशल सेना के न तो अविजित प्रदेशों को विजित कर साम्राज्य की सीमा में विस्तार हो सकता था और ना ही आंतरिक विद्रोहों का दमन करके साम्राज्य की रक्षा ही की जा सकती थी, क्योंकि साम्राज्य को आंतरिक विद्रोहियों, खास तौर पर मंगोलों का भय होने से सेना की भूमिका बहुत बढ़ गई थी। वास्तव में यदि यह कहा जाए कि सब कुछ सेना पर ही आधारित था और सल्तनतकालीन प्रशासन सैन्यतंत्र था तो इसमें कोई अतिशयोक्ति न होगी। चाहे राजकीय आदेशों को लागू करना हो या उत्तराधिकार का मसला तय करना हो, राजस्व की वसूली हो या शांति एवं व्यवस्था बनाए रखना, सेना की भूमिका सर्वव्यापक थी।

सल्तनतकालीन सैन्यतंत्र का प्रधान सुल्तान ही होता था अर्थात वही प्रमुख सेनानायक था। साधारणतः सभी सुल्तान कुशल योद्धा तथा सेनानायक होते थे। वे अपनी

सेना पर अधिक-से-अधिक ध्यान देते थे। उनकी सेना विशाल होती थी और उसमें देशी और विदेशी सैनिक होते थे जिनके संगठन और प्रशासन के लिए पृथक मंत्रालय होता था जिसे 'दीवान-ए-आरिज' कहा जाता था। इसका अध्यक्ष 'आरिज-ए-ममालिक' कहलाता था। आरिज-ए-ममालिक ही सेना के रख-रखाव, उसके प्रशिक्षण, उसकी दक्षता और उसके प्रशासन के लिए उत्तरदायी था। उसका मुख्य कार्य सैनिकों को भर्ती करना और उनका वेतन निर्धारित करना था। भर्ती के लिए आने वाले व्यक्तियों की योग्यता, दक्षता, शारीरिक शक्ति आदि को देखकर ही उन्हें भर्ती किया जाता था। आरिज-ए-ममालिक वर्ष में कम-से-कम एक बार सैनिकों, उनके घोड़ों व अस्त्र-शस्त्रों का निरीक्षण करता था। वह सैनिकों की पदोन्नति या पदावनति भी कर सकता था। वेतन का वितरण भी उसी के माध्यम से होता था। अस्तु वेतन में वृद्धि या कटौती वह कर सकता था। वेतन का वितरण भी उसी के माध्यम से होता था। अस्तु, वेतन में वृद्धि या कटौती वह कर सकता था। सैनिकों को भूमि दिए जाने तथा नकद दिए जाने का अनुमोदन वह करता था। वह युद्ध की तैयारी करता था। किसी अभियान के लिए सैनिकों का चयन करना उसका कार्य था। सुल्तान सेनानायक की नियुक्ति स्वयं करता था। सभी महत्वपूर्ण अभियानों में आरिज-ए-ममालिक स्वयं भाग लेता था। यदि वह नहीं जा सकता था तो अपने नायब को भेज देता था। वही बोझा ढोने वाले जानवरों तथा सैन्य-सामानों का प्रबंध करता था। युद्धोपरांत लूट के माल को एकत्र करता था और सेनाध्यक्ष की उपस्थिति में उसे बंटवाता था। उसे कठिन दायित्व निभाना पड़ता था। उसकी सहायता के लिए सहायक अधिकारी होते थे।

अपनी प्रगति जांचिए

1. सैद्धांतिक रूप से दिल्ली सल्तनत किस खिलाफत का एक भाग थी?
   (क) पश्चिमी (ख) पूर्वी
   (ग) दक्षिणी (घ) उत्तरी
2. सल्तनतकालीन सैन्य तंत्र का प्रधान कौन होता था?
   (क) सुल्तान (ख) मुख्यमंत्री
   (ग) राष्ट्रपति (घ) प्रधानमंत्री

3.3 राज्य के इस्लामी सिद्धांत

दिल्ली सल्तनत की स्थापना से भारतीय राज्य की प्रकृति में नए तत्वों का आना प्रारम्भ हुआ। यह तत्व राज्य के इस्लामी सिद्धांत का परिणाम थे। इसलिए यह जानना आवश्यक है कि इस्लामी राजशासन का स्वरूप क्या था। हज़रत मुहम्मद ने पुराने कबीलों की इकाई को समाप्त करने के बाद वर्गभेद व वंशभेद की परम्परा को भी समाप्त किया और अनेक कबीलों के प्रधानों ने मुहम्मद को अपना मुखिया बना लिया। धीरे-धीरे मदीना के लोगों ने इस्लाम को विशाल स्वरूप प्रदान किया। मदीना के शहरी राज्य में हजरत मुहम्मद ने मुस्लिम समाज को एक राजनीतिक संगठन का रूप दिया। इनका सामाजिक संगठन वंश संबंधों पर नहीं, बल्कि धार्मिक आदर्शवाद पर निर्भर था। इस्लाम में अल्लाह को केन्द्र

में रखते हुए राज्य स्थापित किया गया। जिसमें राजनीतिक अधिकार ईश्वरीय कानून या शरियत में निहित थे। शरियत या दैवी कानून कुरान में स्पष्ट किए गए हैं–और इनका समर्थन सुन्ना अर्थात पैगम्बर द्वारा बनाए गए सिद्धान्त में किया गया है, जो कि पैगम्बर के उपदेश हैं। कुरान के अधिनियमों में किसी विशेष प्रकार का राज्य नहीं बताया गया है। कुरान में निम्नलिखित तीन सामान्य सिद्धान्त संकेत रूप में दिए गए हैं, जिन पर विश्वास करना सभी मुस्लिम धर्मावलंबियों के लिए आवश्यक है–

1. जब जनता पर शासन किया जाए, न्यायसंगत शासन करो।
2. अपने कार्यों को सलाह-मशविरा के साथ पूरा करो।
3. अल्लाह की आज्ञा को मानो, पैगम्बर की आज्ञा मानो और अपने से विद्वान व अधिकार में बड़े लोगों की आज्ञा का पालन करो।

कुरान में वर्णित दर्शन के अनुसार संप्रभुता केवल अल्लाह में स्थित है, शेष सब मात्र उसकी प्रजा हैं। उसके अतिरिक्त कोई कबीला, समुदाय, वर्ग यहाँ तक कि किसी राज्य की संपूर्ण जनसंख्या भी संप्रभु नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण विधायी शक्तियाँ भी अल्लाह में निहित हैं। अल्लाह द्वारा निर्धारित नियमों अथवा विधियों में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। इस्लामी राज्य अल्लाह द्वारा पैगम्बर के माध्यम से प्रदत्त विधि पर ही आधारित होना चाहिए। कोई भी सरकार इस राज्य को चलाने व आज्ञा पालन का अधिकार केवल अल्लाह के कानून को कार्यन्वित करने वाले राजनीतिक अभिकरण के रूप में होगी और केवल उसी सीमा तक होगी जहाँ तक वह अल्लाह के अभिकरण की क्षमता में कार्य करेगी। कुरान में किसी भी वर्ग को विशेष अधिकार नहीं दिए गए हैं–न जन्म से कोई वैभवशाली माना गया है और न किसी को पुरोहित के विशेषाधिकार दिए गए हैं। सामाजिक रूप से सबसे महान और सामान्य जन में कोई अन्तर नहीं है। सामाजिक रूप से इस्लाम किसी प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य को नहीं मानता और न ही कोई राजा या राजवंश को स्वीकार करता है। शुरु में इस्लाम की राजनीति प्रजातांत्रिक थी, किन्तु धीरे-धीरे इसमें परिवर्तन हुए है। शरा में दिए गए कानूनों की प्रधानता इस्लाम की राजनीति का आधार है। कुरान सभी मुसलमानों के लिए अनिवार्य धार्मिक ग्रन्थ है जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। इस प्रकार हज़रत मुहम्मद ने एक सर्वशक्तिमान ईश्वर की शिक्षा दी। निजामी के अनुसार स्थानीय कबीलों तथा घरों के देवी-देवताओं की जगह एक सर्वोच्च ईश्वर ने ले ली। हर वस्तु चाहे वह आध्यात्मिक हो, चाहे भौतिक ईश्वर में ही निहित है। हज़रत मुहम्मद भी खुदा के आदेश का पालन करने वाले थे। इस प्रकार समस्त शक्ति अन्त में खुदा के पास ही थी और वह ही सर्वोच्च शासक, कानूनवेत्ता व सर्वशक्तिमान स्वामी था। उन बातों में जिनके विषय में कुरान पूरी तरह ज्ञान नहीं देती, हज़रत मुहम्मद के कार्यों व कथनों की ओर देखा जाता था और जहाँ पैगम्बर के कार्य भी समस्या का हल नहीं निकाल पाते थे, वहाँ उन व्यक्तियों की राय, जिन्हें राय देने का अधिकार है, पर भरोसा करके फैसला किया जा सकता था। इस प्रकार कुरान व हदीस मुसलमानों के लिए कानून थे और उन्हें राजशासन में तत्कालीन प्रभुसत्ता सम्पन्न माना जा सकता है।

पैगम्बर ने अपने उत्तराधिकारी के बारे में कोई नियम नहीं बनाए। अबू बकर को आम राय से खलीफा चुना गया। इस प्रकार जो राजनीतिक सत्ता उभर कर आई, वही एक प्रकार का आधार बन गई। चुनाव में बहुत कम लोगों ने हिस्सा लिया पर उसके पीछे

विचार यह था कि वे थोड़े से व्यक्ति सारे मुस्लिम समाज के प्रतिनिधि थे। कुरान में खलीफा शब्द प्रतिनिधि के लिए प्रयुक्त हुआ है। खलीफा एक प्रकार से पैगम्बर का प्रतिनिधि, समाज का नेता था। खलीफा का अधिकार इस बात पर निर्भर था कि वह सरकार को कितना सुव्यवस्थित कर सकता था। खलीफा बनने के अबू बकर ने अपने उद्घाटन भाषण में कहा, कि मुझे आप लोगों की सलाह व सहायता की आवश्यकता है। यदि मैं ईश्वर के आदेशों व हजरत मुहम्मद के कार्यों का पालन नहीं करता तो लोगों को विरोध व आंदोलन करने का अधिकार है। इस प्रकार खलीफाओं के समय से राजनीति प्रजातान्त्रिक हो गई व यह विचार उत्पन्न हुआ कि प्रभुसत्ता समस्त जनता में निवास करती है न कि किसी खास व्यक्ति में और खलीफा उन सबका चुना हुआ नेता था वह जनता के प्रति उत्तरदायी था। उसके आदेशों का पालन करना सिर्फ उस हद तक लोगों द्वारा अनिवार्य था, जहाँ तक वह कुरान या वे परम्पराएँ जो हज़रत मुहम्मद द्वारा स्थापित हुई, के विरुद्ध न जाते हों।

शुरा का विचार उस समय प्रचलित था। जब किन्हीं गम्भीर प्रश्नों का हल करना होता तो सब महत्वपूर्ण व्यक्ति एक स्थान पर एकत्रित होते व अपने-अपने विचार प्रस्तुत करते तथा इस प्रकार समस्या का हल निकाल लिया जाता। शुरा को इस्लामिक प्रशासन का मुख्य आधार माना जाता था। खलीफा उमर प्रथम ने यह स्पष्ट रूप से घोषित किया कि 'विचार-विमर्श के बिना कोई खिलाफत नहीं हो सकती।' इस प्रकार शुरा सरकार का एक महत्वपूर्ण अंग थी। इस्लामी कानून बादशाह को राजनीतिक संस्था के रूप में स्वीकार नहीं करता और इस कारण उत्तराधिकारी के कानून को भी स्वीकार नहीं करता। खलीफा द्वारा नियुक्ति व निष्ठा की शपथ ही काफी समझी जाती है। इस्लामी राज्य एक धर्मतंत्रात्मक राज्य था जिसमें अल्लाह ही को बादशाह माना जाता था। उसके द्वारा बनाए गए कानून ही संविधान के रूप में माने गए हैं। कुरान के नियमों के अनुसार छोटे नगर या राज्य पर शासन करना सम्भव था, जहाँ जनता की राय सीमित थी, मदीना इसी प्रकार का राज्य था। लेकिन मध्य युग के विशाल व विविधतामुक्त राज्यों पर कुरान के नियमों को लागू करना कठिन था। पैगम्बर ने भी भविष्य में होने वाले परिवर्तनों में सरकार चलाने के लिए कोई प्रतिबंध नहीं लगाए व नियमों को जातिगत समझौतों पर छोड़ दिया। प्रारम्भिक खलीफा का शासन जनमत के ऊपर आधारित था परन्तु जब खलीफा के स्थान पर शासक की वंशगत परम्परा आरम्भ हो गई तो उसने सारे अधिकार अपने हाथ में लिए। आम राय के आधार पर खलीफा का चुनाव पैगम्बर के पश्चात मुश्किल से तीस वर्ष चल पाया और चौथे खलीफा अली के समय से ही विरोध प्रारम्भ हो गया जो अंततः उनके वध और उनके पुत्र हसने को हटाने में परिणत हुआ। यहाँ से इस्लाम की राजनीति में नया युग प्रारम्भ हुआ। उमैय्यद वंश के मुआविया ने खिलाफत को राजतंत्र में परिवर्तित कर दिया। मुआविया शक्ति के आधार पर खलीफा बना न कि चुनाव के आधार पर अपने लड़के यजीद को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया व उसके उत्तराधिकार को स्वीकृत भी करवाया। इससे अभिप्राय यह था कि वास्तव में शक्ति खलीफा के पास थी चाहे वह लोगों की मर्जी के अनुसार हो या उनकी इच्छा के विरुद्ध। पवित्र खलीफाओं के हाथ में प्रभुसत्ता उस वक्त आती थी जब वे लोगों द्वारा चुने जाते लेकिन उमैय्यद खलीफाओं ने प्रभुसत्ता पहले ग्रहण की व फिर उसे लोगों द्वारा स्वीकार करवाया जाता। इस प्रकार उमैय्यद खलीफाओं के अधीन खिलाफत का स्वरूप बदल गया। वह अधिक राजतांत्रिक, अधिक निरंकुश व अधिक वंशीय वस्तु बन गई। इस्लाम की राजधानी मदीना से दमिश्क

टिप्पणी

में बदल दी गई। मुआविया ने उमैय्यद वंश से राजनीतिक दल के रूप में संगठित किया। इस्लामी राष्ट्रमंडल भी संगठित हुआ। परन्तु उसके रूप में भारी परिवर्तन हुआ–एक धर्मतंत्र राज्य ने अब धर्म निरपेक्ष राज्य अर्थात लौकिक राज्य का रूप ग्रहण किया।

उमैय्यद शासक राजनीति में विश्वास रखते थे। उन्होंने समस्त समस्याओं का व्यवहारिक समाधान ढूंढने का प्रयास किया और एक ऐसे समाज की स्थापना की जिसमें कुलपति मुख्य था। सरकार बनाने के लिए शासकों के पास केवल दो रास्ते थे–प्रारम्भिक इस्लाम के प्रजातांत्रिक रूप को स्वीकार करना, जिसका परिणाम था आंतरिक अव्यवस्था तथा विद्रोह या सर्वाधिक केन्द्रित राज्य बनाना। उन्होंने दूसरी प्रथा को अपनाया और कोई प्रशासन संबंधी उद्देश्य नहीं अपनाए। वर्गीय स्वार्थ और ऐश्वर्य की इच्छा ने उनके आंदोलन को कमजोर कर दिया। आठवीं शताब्दी के मध्य में खुरासान में आंदोलन आरंभ हुआ, जिससे उमैय्यद वंश का पतन हुआ और अब्बासी वंश की स्थापना हुई। पैगम्बर के चाचा अब्बास के वंशजों ने चतुराई के साथ ईरानियों तथा शियाओं के सहयोग से उमैय्यद वंश का अंत करके स्वयं खलीफा का पद प्राप्त किया। उनका दावा था कि वे उसी कबीले के सदस्य थे जिस कबीले के हजरत मुहम्मद थे और इसी कारण उन्हें भी पवित्र माना जाना चाहिए। अब्बासी खलीफाओं ने दमिश्क को छोड़कर बगदाद को अपनी राजधानी बनाया। लेकिन जैसा कि शुस्तरी कहते हैं, ''एक वंश की बजाय दूसरे वंश के आ जाने से निरकुंशता लोकतंत्र में परिवर्तित नहीं हुई''। यद्यपि अब्बासी खलीफा कट्टर मुसलमान थे, तथापि उन्होंने गैर-अरबों, जैसे ईसाई और यहूदियों और ईरानियों को भी, प्रशासन में शामिल किया। यह दिखाने के लिए कि राजनीतिक सत्ता धार्मिक आधारों पर निर्भर है, प्रथम अब्बासी खलीफा अब्बास ने पैगम्बर का लबादा विशेष उत्सव पर पहना।

अब्बासी खलीफाओं ने सत्ताधारी राज्य को राजनीतिक परम्परा के रूप में अपनाया किन्तु उन्होंने ईरानी सर्वसत्ताधारी परम्परा को भी जारी रखा। खलीफाओं के समय एक बड़ा परिवर्तन दैवी अधिकार का प्रारम्भ होना था जो ससानिद परम्परा के अनुसार था। उनके समय यह विचारधारा उत्पन्न हुई कि खलीफा को किस प्रकार का होना चाहिए। इब्न-अल-मुकफ्फा, जो एक ईरानी था और दैवी अधिकार के सिद्धान्त का पहला लेखक था, कहता है कि 'जहाँ तक खलीफा का आदेश मानने का प्रश्न है, यह विचार का विषय है। लेकिन समस्त राजनीतिक शक्ति इमाम के हाथों में केन्द्रित है तथा कोई दूसरा व्यक्ति उसका अधिकारी नहीं हो सकता। वह शक्ति है–आदेश देना व लोगों से आज्ञाकारिता हासिल करना।' इस तरह इस कथन में वह यह बताता है कि समस्त शक्तियाँ इमाम (खलीफा) के हाथों में हैं। वह कहता है कि 'अल्लाह ने अपनी विचारधारा प्रकट करने के बाद बाकी समस्त बातें इमाम पर छोड़ दी हैं। इस विषय में लोगों का कोई अधिकार नहीं है, सिवा इसके कि जब उनसे राय माँगी जाए, वे तभी अपनी राय दें तथा इमाम के पीछे अच्छाई करने का पूरा-पूरा प्रयत्न करें। पर इसके साथ ही खलीफा की शक्ति पर प्रतिबंध लगाते हुए मुकफ्फा कहता है कि 'खलीफा सिर्फ उसी बात को कर सकता है, जिसका आदेश ईश्वर ने दिया है। अगर वह इसके विरुद्ध जाए तो लोगों को उसके आदेश न मानने का अधिकार है लेकिन अगर उस कार्य के लिए इमाम के पीछे कुरान व हदीस की मान्यता है तो लोगों को उसका पालन करना ज़रूरी है। हसन के शासनकाल में उसके राज दरबार और महलों में कोने-कोने से उनके विद्वान, कवि और कलाकार बगदाद आए। हसन के समय में अबू यसूफु (731.98) ने, जो कि सर्वोच्च न्यायाधीश था, सरकार के सिद्धान्त बनाए। यह सिद्धान्त किताब-उल-खिराज़ नामक पुस्तक में

टिप्पणी

संकलित हैं। यह पुस्तक जमीन व कर के मामले में एक प्रकार की नियमावली है और इसकी भूमिका में अबू यूसुफ ने लिखा कि 'खलीफा को धर्मभीरु होना चाहिए। उसे न्याय और समानता के नियमों के अनुसार शासन करना चाहिए। नहीं तो न्याय के दिन उसे दंड भुगतना पड़ेगा।'

अबू यूसुफ ने उन प्रतिबन्धों का, जो मुकफ्फा ने खलीफा की शक्तियों पर लगाए थे, विचार ही समाप्त कर दिया। उसने विचार दिया कि खलीफा का पूरी तरह से आदेश मानना आवश्यक है। उसके अनुसार खलीफा केवल खुदा के प्रति उत्तरदायी है। इस प्रकार दैवी अधिकार के विचार का आरम्भ हो गया।

एक अन्य विद्वान अल-भावर्दी (997.1057 ई0) था, जिसकी पुस्तक अहकामुस सुल्तानिया है। इस पुस्तक में शासन संबंधी नियमों का वर्णन है। उसने पहली बार यह विचार दिया कि खलीफा तथा लोगों के बीच एक समझौते का सम्बन्ध है। वह इस समझौते को शरीयत के आधार पर अनिवार्य समझता है। उसने खलीफा के लिए शर्तें निर्धारित की और उसकी नियुक्ति के विषय में दो तरीके बताए–1. चुनाव, 2. पहले खलीफा द्वारा नियुक्ति। चुनाव की प्रक्रिया पर जोर डालते हुए उसने कहा कि खलीफा का चुनाव होना चाहिए, चाहे उसे चुनने के लिए एक ही व्यक्ति क्यों न हो। उसका मानना था कि खलीफा व अमीरों के बीच किसी न किसी प्रकार का समझौता होना आवश्यक है। अमीरों को कुछ शक्तियाँ व रियायतें प्रदान करनी आवश्यक हैं। उन रियायतों की साधारण शक्ल यह थी कि किसी व्यक्ति को किसी प्रदेश पर खलीफा के नाम से शासन करने का अधिकार दिया जाए। वे प्रदेश जो अमीरों द्वारा जीते जाएँ, उन्हें खलीफा की मान्यता प्राप्त होनी आवश्यक थी। अल-भावर्दी, अल मुकफ्फा के सिद्धान्तों को वापस ले आया कि अगर शासक शरियत के अनुसार कार्य नहीं करेगा तो लोगों को उसके विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार है। इस प्रकार यद्यपि नाम में तो प्रभुसत्ता इस्लाम में अल्लाह व कुरान में ही निहित रही लेकिन व्यवहार में राज्य चलाने के लिए समय बीतने के साथ उसमें काफी परिवर्तन आ गया। बाद में बदलती स्थिति के कारण तुर्क प्रशासक बने और उन्होंने एक विशाल साम्राज्य पर शासन किया जो कि पूर्वीय भूमध्य सागर से चीन की सीमा रेखा तक विस्तृत था। नवीं शताब्दी के अन्त में अब्बासी खलीफाओं का पतन आरम्भ हुआ। दसवीं शताब्दी में कई वंश शक्तिशाली थे। औपचारिक रूप से इन्होंने खलीफा की सत्ता को स्वीकार किया परन्तु वास्तव में वे स्वतंत्र राज्य थे। इनमें से महत्वपूर्ण थे–1. ताहिरिद, 2. सफाविद, 3. समानिद, 4. बूईद। इन वंशों ने अपनी स्वतंत्र राजनीतिक संस्थाएँ प्रारम्भ कीं और ऐसी सरकार बनाई जो शांति कायम रख सके व वाणिज्य तथा व्यवसाय को बढ़ावा दे सके।

इस प्रकार हज़रत मुहम्मद की मृत्यु के समय तक तो मुस्लिम राज्य ताकतवार और भली-भांति संगठित हो चुका था। यह राज्य तात्विक रूप से एक ऐसा संगठित मुस्लिम समुदाय था जो इस्लामी मान्यताओं को सुरक्षित रखने, उनका प्रचार-प्रसार करने एवं उन्हें जीवन में उतारने के लिए सुविधाएँ प्रदान करने वाली एक धार्मिक इकाई था। एक स्वतंत्र समाज के रूप में अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए यह एक राज्य के रूप में संगठित हुआ ताकि अपना इस्लामी चरित्र बनाए रखते हुए सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक दबावों का सामना कर सके। इस्लाम में आस्था रखने वाला यह संगठित समुदाय उम्मत कहलाता था और इस्लामी राज्य का केन्द्र बिन्दु था। इस्लाम के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ

जब यह समुदाय आकार एवं प्राधिकार में बढ़ता गया तो एक ऐसे राज्य की संकल्पना विकसित होती गई जिसके साथ कोई सीमांकित भू-क्षेत्र हो, एक प्रभुत्ता सम्पन्न शासक हो और एक शासक-वर्ग भी हो। यह प्रवर्तन गजनी के सुल्तान महमूद गजनवी के समय में सम्पन्न हुआ जिसे आजम अर्थात दुनिया का पहला सुल्तान माना गया और राज्य की संकल्पना अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँची।

अपनी प्रगति जांचिए

3. शरियत या दैवी कानूनों का समर्थन किसके द्वारा बनाए गए सिद्धांत में किया गया है?

(क) संविधान (ख) न्यायाधीश

(ग) राजा (घ) सुन्ना अर्थात पैगंबर

4. आजम अर्थात दुनिया का पहला सुल्तान किसे माना गया?

(क) मुहम्मद गौरी को (ख) हैदरअली को

(ग) महमूद गजनवी को (घ) टीपू सुल्तान को

3.4 विजयनगर राज्य : संरचना, विशेषताएं और प्रकृति

विजयनगर साम्राज्य (1336-1646) मध्यकालीन दक्षिण भारत का एक साम्राज्य था। इसके राजाओं ने 310 वर्ष राज किया। इसका औपचारिक नाम कर्णाटक साम्राज्य था। इस राज्य की 1565 में भारी पराजय हुई और राजधानी विजयनगर को जला दिया गया। उसके पश्चात क्षीण रूप में यह और 80 वर्ष चला। इसकी स्थापना हरिहर और बुक्का नामक दो भाइयों ने की थी। इसका प्रतिद्वंदी मुसलिम बहमनी सल्तनत था।

इस साम्राज्य की उत्पत्ति के बारे में विभिन्न दंतकथाएं भी प्रचलित हैं। इनमें से सबसे अधिक विश्वसनीय यही है कि संगम के पुत्र हरिहर तथा बुक्का ने हंपी हस्तिनावती राज्य की नींव डाली और विजयनगर को राजधानी बनाकर अपने राज्य का नाम अपने गुरु के नाम पर विजयनगर रखा।

दक्षिण भारत में मुसलमानों का प्रवेश अलाउद्दीन खिल्जी के समय हुआ था। लेकिन अलाउद्दीन उन राज्यों का हराकर उनसे वार्षिक कर लेने तक ही सीमित रहा। मुहम्मद बिन तुगलक ने दक्षिण में साम्राज्य विस्तार के उद्येश्य से कंपिली पर आक्रमण कर दिया और कंपिली के दो राज्य मंत्रियों हरिहर तथा बुक्का को बंदी बनाकर दिल्ली ले आया। इन दोनों भाइयों द्वारा इस्लाम धर्म स्वीकार करने के बाद इन्हें दक्षिण विजय के लिए भेजा गया। माना जाता है कि अपने इस उद्देश्य में असफलता के कारण वे दक्षिण में ही रह गए और विजयारण्य नामक संत के प्रभाव में आकर हिंदू धर्म को पुनः अपना लिया। इस तरह मुहम्मद बिन तुगलक के शासनकाल में ही भारत के दक्षिण-पश्चिम तट पर विजयनगर साम्राज्य की स्थापना की गई।

विजयनगर की स्थापना के साथ ही हरिहर तथा बुक्का के सामने कई कठिनाइयां थीं। वारंगल का शासक कापाया नायक तथा उसका मित्र प्रोलय वेम और वीर बल्लाल तृतीय उसके विरोधी थे। देवगिरि का सूबेदार कुतलुग खां भी विजयनगर के स्वतंत्र

टिप्पणी

अस्तित्व को नष्ट करना चाहता था। हरिहर ने सर्वप्रथम बादामी, उदयगिरि तथा गुटी के दुर्गों को सुदृढ़ किया। उसने कृषि की उन्नति पर भी ध्यान दिया जिससे साम्राज्य में समृद्धि आई। होयसल साम्राट वीर बल्लाल मदुरै के विजय अभियान में लगा हुआ था। इस अवसर का लाभ उठाकर हरिहर ने होयसल साम्राज्य के पूर्वी भाग पर अधिकार कर लिया। बाद में वीर बल्लाल तृतीय मदुरा के सुल्तान द्वारा 1342 में मार डाला गया। बल्लाल के पुत्र तथा उत्तराधिकारी अयोग्य थे। इस मौके को भुनाते हुए हरिहर ने होयसल साम्राज्य पर अधिकार कर लिया। आगे चलकर हरिहर ने कदंब के शासक तथा मदुरा के सुल्तान को पराजित करके अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली।

हरिहर के बाद बुक्का सम्राट बना हालांकि उसने ऐसी कोई उपाधि धारण नहीं की। उसने तमिलनाडु का राज्य विजयनगर साम्राज्य में मिला लिया। कृष्णा नदी को विजयनगर तथा बहमनी की सीमा मान ली गई। बुक्का के बाद उसका पुत्र हरिहर द्वितीय सत्तासीन हुआ। हरिहर द्वितीय एक महान योद्धा था। उसने अपने भाई के सहयोग से कनारा, मैसूर, त्रिचनापल्ली, कांची, चिंगलपुट आदि प्रदेशों पर अधिकार कर लिया।

विजयनगर साम्राज्य का सबसे प्रसिद्ध राजा कृष्ण देव राय था। विजयनगर का राजवंश उसके कार्यकाल में भव्यता के शिखर पर पहुंच गया। वह उन सभी लड़ाइयों में सफल रहा जो उसने लड़ी। उसने उड़ीसा के राजा को पराजित किया और विजयवाड़ा तथा राज महेंद्री को जोड़ा। कृष्ण देव राय ने पश्चिमी देशों के साथ व्यापार को प्रोत्साहन दिया। उसके पुर्तगालियों के साथ अच्छे संबंध थे, जिनका व्यापार उन दिनों भारत के पश्चिमी तट पर व्यापारिक केंद्रों के रूप में स्थापित हो चुका था। वह न केवल एक महान योद्धा था बल्कि वह कला का पारखी और अधिगम्यता का महान संरक्षक रहा। उसके कार्यकाल में तेलगु साहित्य काफी फला-फूला। उसके तथा उसके उत्तरवर्तियों द्वारा चित्रकला, शिल्पकला, नृत्य और संगीत को काफी बढ़ावा दिया गया। उसने अपने व्यक्तिगत आकर्षण, दयालुता और आदर्श प्रशासन द्वारा लोगों को प्रश्रय दिया।

विजयनगर साम्राज्य का पतन 1529 में कृष्ण देव राय की मृत्यु के साथ शुरू हुआ। यह साम्राज्य 1565 में पूरी तरह समाप्त हो गया जब आदिलशाही, निजामशाही, कुतुब शाही और बरीद शाही के संयुक्त प्रयासों द्वारा तालीकोटा में रामराय को पराजित किया गया। इसके बाद यह साम्राज्य छोटे छोटे राज्यों में टूट गया।

विजयनगर साम्राज्य के प्रमुख वंश संगम वंश, सलुव वंश, तुलुव वंश, अरविदु वंश थे। आइए इस साम्राज्य की राज्य व्यवस्था, सैन्य व्यवस्था, प्रांतीय व स्थानीय शासन तथा तात्कालिक सामाजिक ढांचे पर विस्तारपूर्वक चर्चा करें।

विजयनगर साम्राज्य में सामाजिक व्यवस्था सैद्धांतिक रूप से शास्त्रीय परंपराओं पर आधारित थी। समकालीन अभिलेखों एवं साहित्यिक ग्रंथों में वर्णाश्रम धर्म का उल्लेख है। अनेक अभिलेखों में शासकों द्वारा समस्त वर्णों एवं जातियों के हितों की रक्षा करने का वर्णन है। एवं 'सकलवर्णाश्रमधर्म मंगलानुपालिसुत्त' अर्थात समस्त वर्णों के मंगल का, कल्याण की रक्षा करने का प्रायः उल्लेख मिलता है। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि विजयनगर नरेश किसी वर्ण विशेष के हितों की रक्षा करने के स्थान पर समस्त वर्णों के हितों की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझते थे। चारों वर्णों में ब्राह्मण सर्वप्रमुख थे परंतु वर्णाश्रम व्यवस्था के दूसरे अंग क्षत्रियों के संबंध में हमें कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती। मध्यवर्गों में शेट्टी या चेट्टी नामक एक बहुत बडे समूह का उल्लेख किया जा सकता

है। इनकी अनेक शाखाएं या उपशाखाएं थीं। इन चेट्टियों का विजयनगर युग में बहुत प्रभाव था। अधिकांश व्यापार इनके हाथों में केंद्रित था। पुर्तगाली यात्री बार्बोसा ने उनके संबंध में लिखा है कि– 'वे बहुत धनाढ्य और सम्मानित हैं तथा वे बहुत साफ जीवन बिताते हैं।' इनकी संतान भी बहुत अल्पायु में व्यापार में लग जाती थी। चेट्टी बहुत अच्छे लिपिक एवं लेखाकार्यों में दक्ष होते थे। चेट्टियों के ही समतुल्य व्यापार करने वाले तथा दस्ताकार वर्ग के लोग थे जिन्हें 'वीर पांचाल' कहा जाता था। कैकोल्लार (जुलाहे) कबलत्तर अर्थात चपरासी और शास्त्रवाहक, नाई और आंध्र क्षेत्र में रेड्डी कुछ महत्वपूर्ण समुदायों में माने जाते थे। इस काल में उत्तर भारत से बहुत बड़ी संख्या में लोग दक्षिण में आकर बस गए थे। इन्हें बडवा कहा जाता था। इन उत्तर भारतीय नवागंतुकों ने पुराने दक्षिणवासियों के व्यापार को हथिया लिया। इससे बड़ा सामाजिक विद्वेष उत्पन्न हुआ और दक्षिण के पुराने समुदायों की स्थिति में पतन आया। इस काल की समाज-व्यवस्था की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि नीची जाति के कुछ वर्गों ने ऊंची जाति के लोगों के विशेषाधिकारों को हथिया लिया। इसने नये सामाजिक तनाव को जन्म दिया।

विजयनगर के सामाजिक राजनीतिक जीवन में ब्राह्मणों की स्थिति बहुत ऊंची थी। उन्हें सबसे अधिक विश्वासपात्र माना जाता था। उन्हें किसी भी अपराध के लिए मृत्युदंड नहीं दिया जा सकता था और विजयनगर की सेना एवं शासन-व्यवस्था में वे अनेक उच्च पदों पर आसीन थे। अभिलेखों में विजयनगर की सेना में अनेक सफल ब्राह्मण सेनानायकों का उल्लेख मिलता है। बड़े-बड़े नायक एवं विजयनगर नरेश उन्हें बहुत अधिक भूमि एवं धन का दान देते थे। उन्हें मंत्री और राजदूत जैसे पदों पर भी नियुक्त किया जाता था।

छोटे सामाजिक समूहों में लोहार, स्वर्णकार, पीतल का काम करने वाले, बढ़ई, मूर्तिकार और जुलाहे आदि प्रमुख समुदाय थे। जुलाहे मंदिरों की परिसीमा में भी रहते थे और मंदिर के प्रशासन एवं स्थानीय करों के आरोपण में उनका बहुत बड़ा हाथ रहता था, जब कि डोंबर (जो बाजीगरी का काम भी करते थे), जोगी और मछुआरों आदि की समाजिक स्थिति हेय थी। संक्षेप में आर्थिक दृष्टि से उपयोगी तथा भू-स्वामित्व वाले वर्गों की स्थिति सम्मानजनक थी।

दास-प्रथा : विजयनगर युग में दास-प्रथा प्रचलित थी। विदेशी यात्रियों के विवरण और समकालीन अभिलेख पुरुष एवं महिला दासों का उल्लेख करते हैं। यह दास-प्रथा विजयनगर युग से पहले चोल काल में भी प्रचलित थी। मनुष्यों के इस क्रय-विक्रय को 'वेस-वग' कहा जाता था। इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति ऋण नहीं दे पाता था या दिवालिया हो जाता था, उसे प्रायः ऋणदाता का दास होना पड़ता था।

स्त्रियों की स्थिति : मध्य युग के अन्य प्रदेशों की भांति विजयनगर युग में भी स्त्रियों की स्थिति हेय थी। उन्हें सामान्यतः भोग की वस्तु समझा जाता था। समकालीन ऐतिहासिक स्रोतों में केवल राजपरिवार की स्त्रियों का ही विवरण प्राप्त होता है। समस्त सामाजिक समूहों की कन्याओं को विवाह से पूर्व माता-पिता के नियंत्रण में रहना पड़ता था। अभिजात वर्ग की कन्याओं को भली-भांति शिक्षा दी जाती थी। लोकभाषाओं के अतिरिक्त उन्हें संस्कृत की भी शिक्षा दी जाती थी। संगीत और नृत्य उनकी शिक्षा के प्रमुख अंग थे। यही कारण है कि इस काल के साहित्यिक क्षेत्र में महिलाओं का योगदान नगण्य नहीं है। कुलीन परिवारों में कन्याओं का विवाह अल्पायु में ही कर दिया जाता था और कन्यादान को आदर्श विवाह माना जाता था। राज-परिवार एवं सामंतों के अतिरिक्त

टिप्पणी

अन्य वर्गों में एक-पत्नीत्व की प्रथा थी। परंतु राज-परिवार के लोग बहु-विवाह ही नहीं करते थे, वरन रखैल एवं नौकरानियों को भी बड़ी संख्या में रखते थे। राजप्रासाद में रहने वाली इन महिलाओं में अनेक ज्योतिषी, भविष्य-वक्ता संगीत एवं नृत्य-प्रवीण और राज्य की अंगरक्षिकाएं होती थीं। राजप्रासाद में रहने वाली इन स्त्रियों में से सैकड़ों को राजा लोग अपने साथ युद्धक्षेत्र में ले जाते थे। कुलीन एवं अकुलीन स्त्रियों के वस्त्राभूषणों एवं सामान्य जीवन में भी काफी अंतर था। कुलीन परिवारों की स्त्रियां सामान्यत: राजप्रासाद या घर की चारदीवारी के भीतर ही रहती थीं। मंदिरों में देवपूजा के लिए रहने वाली स्त्रियों को देवदासी कहा जाता था। इन्हें आजीविका के लिए या तो भूमि दे दी जाती थी अथवा नियमित वेतन दिया जाता था।

कुछ निम्न सामाजिक वर्गों की स्त्रियां विभिन्न व्यवसायों और हस्तकलाओं में प्रवीण होती थीं। इसी संदर्भ में गणिकाओं का उल्लेख कर सकते हैं जिनका विजयनगर के सामाजिक जीवन में बहुत महत्वपूर्ण स्थान था। समकालीन साहित्य में चारों वर्णों के साथ इन गणिकाओं का भी उल्लेख है। ये गणिकाएं दो वर्गों में विभाजित थीं– एक तो वे जो मंदिरों से संबद्ध थीं और दूसरी वे जो स्वतंत्र जीवनयापन करती थीं। गणिकाएं चाहे किसी भी जाति या समुदाय की हों उनकी जाति एक होती थी। इस वर्ग की स्त्रियां पर्याप्त रूप से शिक्षित होती थीं। अधिकांश गणिकाएं धनाढ्य और विशेषाधिकार प्राप्त होती थीं। गरीब माता-पिता अपनी युवा पुत्रियों को या तो गणिकाओं को सौंप देते थे अथवा उन्हें बेच देते थे। विशेष बात तो यह कि इन गणिकाओं को समाज में हेय दृष्टि से नहीं देखा जाता था। सार्वजनिक उत्सवों पर समस्त गणिकाएं अनिवार्यत: उत्सव में भाग लेती थीं। राजा और सामंत दोनों निस्संकोच रूप से गणिकाओं से संपर्क रखते थे। समाज में पर्दा-प्रथा प्रचलित नहीं थी और परिवार में महिलाओं की भूमिका उपयोगी मानी जाती थी। किंतु इस काल में भी विधवाओं का जीवन बहुत हेय और अपमानजनक माना जाता था।

सती-प्रथा : विजयनगर साम्राज्य में सती प्रथा के प्रचलन का तत्कालीन अभिलेखों एवं विदेशी वृत्तांत दोनों में उल्लेख मिलता है। विजयनगर के अभिलेखों में 1354 ई. के एक अभिलेख में माला गौड़ा नामक महिला का अपने पति की मृत्यु के बाद सती होने का उल्लेख है। सती होना मुक्ति का प्रतीक माना जाता था। विजयनगर-कालीन अभिलेखों में सती या सहगमन के काफी मात्रा में संदर्भ प्राप्त होते हैं और लगभग समस्त विदेशी यात्रियों ने इस क्रूर प्रथा का बड़े विस्तार के साथ उल्लेख किया है। अभिलेखीय प्रमाणों के आधार पर यह अनुमान किया गया है कि यह प्रथा केवल नायकों और राजपरिवार तक ही सीमित थी। डुआर्ट बार्बोसा ने लिखा है कि यह प्रथा लिंगायतों, चेटिटयों और ब्राह्मणों में प्रचलित नहीं थी। सती होने वाली स्त्रियों की स्मृति में पाषाण-स्मारक लगाए जाते थे। फिर भी यह प्रथा सैद्धांतिक रूप से प्रचलित नहीं थी यद्यपि इसे सम्मानीय माना जाता था। सती-प्रथा के संबंध में राज्य का दृष्टिकोण तटस्थ नहीं था विधवा-विवाह करने वाले युगल विवाह-कर से मुक्त थे अत: प्रतीत होता है कि राज्य व्यावहारिक दृष्टि से सती-प्रथा को प्रश्रय नहीं देता था।

वस्त्राभूषण : विदेशी यात्री अभिजात वर्ग के वस्त्राभूषणों का विशद विवेचन करते हैं। सामान्य वर्ग के पुरुष धोती और सफेद सूती या रेशमी कमीज पहनते थे। कंधे पर दुपट्टा डालने का भी प्रचलन था। समकालीन दक्षिण भारत के विभिन्न भागों में टोपी या पगड़ी पहनने की भी प्रथा प्रचलित थी। जाति एवं व्यावसायिक आधार पर परिधानों में बड़ी

विविधता और विषमता थी। राजपरिवार के पुरुष एवं स्त्रियां दोनों कीमती एवं जरीदार कपड़े पहनते थे। यही स्थिति जूतों के संबंध में भी थी। सामान्य लोग जूते नहीं पहनते थे, किंतु अभिजात एवं राजपरिवार के लोग रोमन शैली के जूते पहनते थे। सामान्य वर्ग की स्त्रियां साड़ी और चोली धारण करती थीं। राजपरिवार की स्त्रियां पावड (एक प्रकार का पेटीकोट), टुपट्टा और चोली पहनती थीं। इनके वस्त्र कीमती एवं जरीदार होते थे। सामान्यत: स्त्री और पुरुष दोनों आभूषणप्रिय थे। हार, पैरों के कड़े एवं भुजबंध स्त्री एवं पुरुष दोनों द्वारा पहने जाते थे। जड़ाऊ भुजबंध और कुंडल भी लोकप्रिय थे। किंतु स्त्री एवं पुरुषों के आभूषणों की बनावट में बड़ा अंतर होता था। युद्ध में वीरता दिखाने वाले पुरुषों के लिए गडपेंद्र नामक पैर में धारण करने वाले कड़े को सम्मान का प्रतीक माना जाता था। प्रारंभ में इसे युद्ध में वीरता का प्रतीक माना जाता था, परंतु बाद में इसे सम्मान का प्रतीक माना जाने लगा। विजयनगर नरेश सैनिकों, मंत्रियों, विद्वानों और मान्य लोगों को इसे प्रदान करके सम्मानित करते थे। विजयनगर युग के आभूषणों में बड़ी विविधता और कलात्मकता थी। धनाढ्य एवं अभिजात वर्ग के लोगों में सुगंध के प्रयोग के प्रति बड़ा लगाव था। चंदन, अगरु, कस्तूरी और केसर आदि से सुवासित करना बड़ा लोकप्रिय था। इसी प्रकार मिश्रित सुगंधों एवं सुगंधित पुष्पों का भी प्रयोग बड़ा लोकप्रचलित था।

शिक्षा एवं मनोरंजन : शिक्षा के मामले में राज्य सक्रिय रुचि नहीं लेता था। विजयनगर नरेश मठों को प्रश्रय देते थे। विजयनगर नरेशों ने चोलों और पल्लवों की भांति अपनी प्रजा की शिक्षा के लिए विद्यालयों और महाविद्यालयों की स्थापना नहीं की। इतना होने पर भी अप्रत्यक्ष रूप से उन्होंने विद्या को प्रोत्साहन दिया। उन्होंने मठों और असंख्य अग्रहारों की स्थापना करके शिक्षा और ज्ञान को प्रोत्साहन दिया। प्रत्येक अग्रहार में ज्ञान की किसी विशेष शाखा में पारंगत ब्राह्मण होते थे, जहां आसपास के विद्यार्थी अध्ययन के लिए आते थे। विद्वान ब्राह्मणों को करमुक्त भूमि प्रदान की जाती थी। मंदिर, मठ एवं अग्रहार विद्या के केंद्र थे। अग्रहारों में मुख्यत: वेदों की शिक्षा दी जाती थी। इतिहास, काव्य, नाटक, आयुर्वेद और शास्त्र एवं पुराण अध्ययन के लोकप्रिय विषय थे। समकालीन वैष्णव संतों ने उदारवादी शिक्षा के विस्तार में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। साथ ही तुलुव वंश ने विद्या एवं ज्ञान को पर्याप्त प्रश्रय दिया। राजकीय सेवा के इच्छुक विद्यार्थियों के लिए विशेष विद्यालय होते थे, जहां उन्हें भाषा और गणित की शिक्षा दी जाती थी।

मनोरंजन के क्षेत्र में नाटक और यक्षागान (जिसमें मंच पर संगीत और वाद्यों द्वारा अभिनय किया जाता था) इस काल में बहुत लोकप्रिय थे। सामान्यत: अभिनय विशेष अवसरों पर किए जाते थे। इनमें स्त्री और पुरुष दोनों हिस्सा लेते थे। बोमलाट छाया-नाटक भी लोकप्रिय थे। शतरंज एवं पासा खेलना बहुत लोकप्रिय था। कृष्णदेव राय स्वयं बड़े शतरंज प्रेमी थे तथा उन्होंने प्रवीण शतरंज खिलाड़ियों को पर्याप्त प्रोत्साहन भी दिया था। अभिजात वर्ग के स्त्री एवं पुरुष दोनों में जुआ खेलने के प्रमाण भी मिलते हैं।

सामाजिक समस्याएं तथा राज्य की भूमिका : उत्तर भारत से दक्षिण भारत में आकर बसने वाले लोगों से उत्पन्न स्थिति, सामाजिक कुरीतियों एवं रूढ़ियों ने अनेक समस्याओं को जन्म दिया। ये समस्याएं कभी-कभी सामुदायिक भी होती थीं। इन समस्याओं के निवारण के लिए या तो समुदाय विशेष के लोग सामूहिक रूप से अथवा राज्य हस्तक्षेप करके विधान बनाता था। प्रो. महालिंगम् ने इन समस्याओं का सामाजिक अधिनियम या विधान के रूप में विस्तार से उल्लेख किया है। इन समस्याओं में सर्वप्रथम विवाह एवं

टिप्पणी

दहेज से संबंधित समस्या का उल्लेख किया जा सकता है। बाल-विवाह के कारण दहेज की कुरीति बहुत अधिक बढ़ गई थी। ऐसी स्थिति से थककर ब्रह्मण-समुदाय के लोगों ने मिलकर दहेज को अवैधानिक घोषित करने का निर्णय लिया। राज्य ने इसे स्वीकृति देकर विधान का रूप दिया। 1424-25 ई. के एक अभिलेख में दहेज को अवैधानिक घोषित करते हुए कहा गया है कि जो पिता धन देगा और जो धन को स्वीकार करेगा, वह राजा द्वारा दंड का भागी होगा। जो कोई भी कन्यादान को स्वीकार करके, धन या स्वर्ण लेंगे उन्हें भी जाति से बहिष्कृत कर दिया जाएगा। इस प्रकार ब्राह्मणों ने विशुद्ध सामाजिक मामले में राज्य के हस्तक्षेप को स्वीकार किया।

सामाजिक विवादों और सांप्रदायिक समस्याओं के संबंध में 1379 के एक अभिलेख में नायकों और गौडों (नगर प्रशासन) को निर्देश दिया गया कि यदि कभी कोई जाति-संबंधी विवाद पैदा हो तो वे विवादग्रस्त जातियों को अपने सम्मुख आमंत्रित करें और उन्हें उचित परामर्श दें। चूंकि उन्हें दंड देने का अधिकार है, अतः विवादग्रस्त दलों को उनके परामर्श से कार्य करना चाहिए। इस प्रकार की कार्रवाई को करमुक्त रखने का भी आदेश दिया गया। कभी-कभी इस प्रकार के विवाद अग्रजों, नगर श्रेष्ठियों और विद्वान ब्राह्मणों को भी निर्णय के लिए सौंप दिए जाते थे।

राज्य, बुनकरों एवं दस्तकारों जैसे छोटे समुदायों के विवादों में भी हस्तक्षेप करता था। अनेक अभिलेखों में राज्य द्वारा इस प्रकार के विवादों में राज्य के हस्तक्षेप का उल्लेख है। श्रीरंग के शासनकाल के सन 1632 के एक अभिलेख में कुछ ग्रामों के निवासियों को आदेश दिया गया कि वे तीन दस्तकार समुदायों– बढ़ई, लोहार और स्वर्णकार– के साथ न तो भविष्य में दुर्व्यवहार करें और न उन्हें उनके विशेषाधिकारों से वंचित करने का दुष्प्रयास करें। इस आदेश की अवहेलना करने वाले निवासियों को बारह पण के अर्थदंड का भागी होने का प्रावधान रखा गया।

कुछ सामाजिक अपराधियों या जाति के नियमों को तोड़ने वालों को ब्राह्मण सहित (समस्त वर्गों के लोगों को) जाति-बहिष्कृत होने का भागीदार होना पड़ता था। यदि कोई व्यक्ति किसी सामाजिक अपराध का दोषी होता था तो उसकी संपत्ति या भूमि छीन ली जाती थी किंतु यह सब राज्य के निर्देश पर ही होता था। इसी प्रकार मंदिरों की भूमि पर बलात अधिकार करने, दान पर अधिकार करने, पुण्य की भावना से प्रेरित निर्माण-कार्यों को नष्ट करने, प्रतिबंधित सीमा के भीतर किसी स्त्री से विवाह करने, अपने गुरु, पत्नी या ब्राह्मण की हत्या करने और देव-भोग में जहर मिलाने जैसे अपराधों की अभिलेखों में कठोर शब्दों में भर्त्सना की गई है और इनके लिए विभिन्न दंड प्रस्तावित किए गए हैं। इसी प्रकार सांप्रदायिक विवादों के मामले में भी राज्य के हस्तक्षेप का उल्लेख है। श्रवणवेलगोला के अभिलेखों में जैन एवं वैष्णव संप्रदाय के विवाद में राज्य द्वारा जैन-संप्रदाय के हितों की रक्षा करने का उल्लेख है। इन प्रमाणों से सिद्ध है कि सामाजिक सांप्रदायिक मामलों में राज्य तटस्थ दृष्टिकोण ही नहीं अपनाता था, वरन विजयनगर नरेश सामाजिक एकता बनाए रखने का हर संभव प्रयास करते थे और सामाजिक एकता की रक्षा करने में उनका योगदान महत्वपूर्ण होता था। विजयनगर नरेश सामाजिक मामलों में बिना किसी भार के सामाजिक समरूपता और एकता बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील रहते थे।

भू-धारण पद्धति सिंचाई एवं कृषि : मध्यकालीन भारत के अन्य प्रदेशों की भांति विजयनगर साम्राज्य में अधिकांश जनसंख्या कृषि पर आश्रित थी। परंतु विजयनगर युग में ग्रामों की संख्या काफी बढ़ गई और चोल युग की तुलना में विजयनगर युग में कृषिजन्य अर्थव्यवस्था में भारी मात्रा में परिवर्तन हुए। उदाहरणार्थ भू-धारण पद्धति में व्यापक परिवर्तन आए। इनमें पहला प्रमुख परिवर्तन यह था कि चोल युग का 'नाडू' घटकर ग्राम के रूप में अब एक छोटी इकाई मात्र रह गया। दूसरा प्रमुख परिवर्तन यह हुआ कि दक्षिण भारत के अधिकांश ग्रामीण भागों में तेलगू और दूसरे बाहरी लोगों का भू-स्वामित्व पर विस्तार हुआ और कृषि-उत्पादन के विकास में सहयोग देने या कृषि उत्पादन की वृद्धि में योगदान प्रदान करने वाले व्यक्तियों को अतिरिक्त उत्पादन में हिस्सा दिया गया। कृषि-अर्थव्यवस्था के विकास में मंदिरों की भूमिका में भी वृद्धि हुई। भूमि पर प्रभावशाली कृषक समूहों का अधिकार था और कृषकों को सम्मानजनक दृष्टि से देखा जाता था। विजयनगर युग में कृषि-योग्य भूमि का खूब विस्तार हुआ। शासन, संस्थाएं और व्यक्ति-विशेष कृषि योग्य भूमि के विस्तार में खूब रुचि लेते थे। संपूर्ण विजयनगर युग में हमें बंजर और जंगली भूमि को कृषि योग्य बनाने के पर्याप्त दृष्टांत मिलते हैं।

विजयनगर-कालीन 'भू-धारण पद्धति' (land tenure) बड़ी व्यापक थी। जिन ग्रामों की भूमि राज्य के सीधे नियंत्रण में थी, ऐसे ग्रामों को 'भंडारवाद ग्राम' कहा जाता था। इन ग्रामों के किसान राज्य को कर देते थे। इसके अतिरिक्त राज्य विशेष धार्मिक सेवाओं के लिए भी भूमि ब्राह्मणों, मठों और मंदिरों को दान में देता था। इस प्रकार की भू-धारण पद्धित ब्रह्मदेय, देवदेय और मठापुर भूमि कहलाती थी। इस प्रकार की भूमि कर-मुक्त भी होती थी। परंतु विजयनगर काल में सबसे महत्वपूर्ण भू-धारण पद्धति 'नायंकार' व्यवस्था थी। इस व्यवस्था के अंतर्गत विजयनगर नरेश सैनिक एवं असैनिक अदिकारियों को उनकी विशेष सेवाओं के बदले भू-क्षेत्र विशेष प्रदान कर देते थे। इस प्रकार की भूमि 'अमरम्' कहलाती थी और इसके ग्रहणकर्ता 'अमर नायक' कहलाते थे। प्रारंभ में नायंकार-व्यवस्था केवल सेवा की शर्तों पर आधारित थी, परंतु बाद में यह आनुवांशिक हो गई। यह नायंकार व्यवस्था मध्यकाल के सामंतवाद से बहुत मिलती-जुलती थी। इस अमरम् भूमि के नायकों को उक्त भूमि की आय का एक अंश राज्य को भी देना पड़ता था। ग्राम में कुछ विशेष सेवाओं के बदले (जिन्हें लगानमुक्त भूमि दी जाती थी) ऐसी भू-धारण पद्धति को 'उबलि' कहा जाता था। युद्ध में शौर्य प्रदर्शित करने वालों या युद्ध में अनुचित रूप से मृत लोगों के परिवार को दी गई भूमि रत्त (खत्त) कोड़गे कहलाती थी। विजयनगर युग में ब्राह्मण, मंदिर और बड़े भू-स्वामी, जो स्वयं खेती नहीं कर सकते थे, वे खेती के लिए किसानों को पट्टे पर भूमि दे दिया करते थे। ऐसी पट्टे पर ली गई भूमि को कुट्टगि कहा जाता था। कुट्टगि वस्तुतः नकद या जिन्स के रूप में उपज का अंश था, जिसे किसान भू-स्वामी को प्रदान करता था। यदि पट्टीदार पट्टे की निश्चित शर्तों को पूरा करता रहता था, तो उसे भूमि से हटाया नहीं जा सकता था। परंतु पट्टीदार, भू-स्वामी की इच्छानुसार ही फसलें उगा सकता था। भू-स्वामी एवं पट्टीदार के मध्य उपज की हिस्सेदारी को 'वारम' व्यवस्था कहते थे। विजयनगर युग में दूरवासी भू-स्वामित्व (absentee land-lordism) में पर्याप्त वृद्धि हुई। राज्य भूमि पर व्यक्तिगत भूमि स्वामित्व का सम्मान करता था। यदि राज्य व्यक्तिगत भूमि को ब्राह्मणों या मंदिरों को दान में देना चाहता था, तो राज्य भू-स्वामी को उसका मूल्य अदा करता था। अभिलेखों में विभिन्न

टिप्पणी

प्रदेशों में भूमि की कीमत, भूमि को दहेज में देने और गिरवी आदि रखने के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं। परंतु इस काल में बड़े-बड़े भू-स्वामियों का भू-स्वामित्व बढ़ रहा था और ये बड़े-बड़े भू-स्वामी सामंत और सरकारी अधिकारी रैयत का प्रायः शोषण करते थे। इस प्रकार के शोषण एवं दमन का हम अभिलेखों तथा विदेशी वृत्तांतों में प्रायः उल्लेख पाते हैं। पर राज्य इस प्रकार के दमन एवं शोषण से रैयत की रक्षा करने का प्रयास करता था। इस काल में हम खेती में लगे कृषक-मदजूरों का भी बार-बार उल्लेख पाते हैं। इस प्रकार के कृषक-मजदूर 'कुदि' कहलाते थे। भूमि के क्रय-विक्रय के साथ उक्त कृषक-मजदूर भी हस्तांतरित हो जाते थे परंतु उन्हें मनमाने ढंग से सेवामुक्त नहीं किया जा सकता था।

विजयनगर प्रशासन में सिंचाई का कोई विभाग नहीं था। केवल व्यक्तिगत प्रयासों के द्वारा सिंचाई साधनों का विकास किया जाता था। सिंचाई के साधनों के विस्तार में मंदिरों, मठों व्यक्तियों और संस्थाओं ने समान रूप से योगदान दिया। सिंचाई के साधनों का विस्तार पुण्य-कर्म माना जाता था और सिंचाई के साधनों के विकास या सुधार करने वालों को राज्य करमुक्त भूमि प्रदान कर देता था। विजयनगर युग में तड़ागों, बांधों और नहरों का मुख्यतया सिंचाई के लिए उपयोग किया जाता था। नदी पर बांध बनाकर नहरें निकाली जाती थीं। इस प्रकार की नहरों के उपयोग का सबसे अच्छा दृष्टांत हम साम्राज्य की राजधानी विजयनगर में पाते हैं। इसी प्रकार साम्राज्य के विभिन्न भागों में बड़े-बड़े तालाबों का भी निर्माण कराया गया था। अभिलेखों में पुराने तालाबों के विस्तार, उनकी मरम्मत एवं नवीन तालाबों के निर्माण के सैकड़ों प्रमाण मिलते हैं। सिंचाई के इन साधनों की रक्षा और व्यवस्था भी सामुदायिक प्रयासों के द्वारा की जाती थी। सिंचाई के साधनों का उपयोग करने वाले कर देते थे, जिससे सिंचाई के साधनों की व्यवस्था की जाती थी। 'सिंचाई' के साधन की देखभाल करने वाले भृत्यों को करमुक्त भूमि प्रदान की जाती थी। यदि किसी व्यक्ति की बिना किसी वारिस के मृत्यु हो जाती थी तो ऐसे व्यक्ति की संपत्ति का उपयोग सिंचाई के साधनों आदि की मरम्मत के लिए किया जाता था। परंतु सिंचाई के विनाश के कारण यदि रैयत गांव छोड़कर चली जाती थी तो राज्य उन ग्रामों को फिर से बसाने के लिए स्वयं अपने प्रयासों से सिंचाई के ध्वस्त या विनष्ट साधनों की मरम्मत कराता था। कभी-कभी सिंचाई के साधनों के पुनर्निर्माण के लिए राज्य स्थानीय करों को भी माफ कर देता था। कुछ अभिलेखों में सिंचाई के साधनों की व्यवस्था के लिए ग्रामवासियों द्वारा वार्षिक रूप से निश्चित मात्रा में अनाज-संग्रह का भी उल्लेख है। यदि सिंचाई के जल के उपयोग के संबंध में कोई विवाद पैदा होता था, तो ग्राम-सभा या स्थानीय अधिकारी उक्त विवाद में मध्यस्थता करते थे।

खेतों की नियमित पैमाइश की जाती थी और उनके सीमांकन के लिए पत्थर लगाए जाते थे। सामान्यतः भूमि के दो वर्गीकरण थेः (1) सिंचाई की सुविधायुक्त भूमि और (2) सिंचाई की सुविधाविहीन या शुष्क-भूमि। प्रथम श्रेणी की भूमि से दो या तीन फसलें तक उगाई जाती थीं। अनाज में चावल, दालें चना, जौ और तिलहन व्यापक रूप से उगाए जाते थे। सिंचाई की सुविधा वाले क्षेत्रों में अन्न भी उगाया जाता था। नील और कपास की खेती भी व्यापक रूप से की जाती थी। पश्चिमी तटवर्ती क्षेत्रों में व्यापक रूप से मसाले उगाए जाते थे। पश्चिमी तटवर्ती क्षेत्रों में काली मिर्च और अदरक का उत्पादन होता था, जिनका विश्व के विभिन्न भागों में निर्यात किया जाता था। कर्नाटक के क्षेत्र में

टिप्पणी

इलायची का खूब उत्पादन होता था। विजयनगर युग में उपवनों का भी खूब विकास हुआ। नारियल का तो सारे तटवर्ती क्षेत्रों में उत्पादन होता था। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि इस युग में सिंचाई तथा कृषि व्यवस्था काफी सुधारात्मक ढंग का संकेत देती है।

राज्य-व्यवस्था : चोल-चालुक्य साम्राज्य के पतन के बाद दक्षिण भारत के राज्यतंत्र में जो परिवर्तन हुए उनका उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है। परंतु तेरहवीं शताब्दी के चार छोटे दक्षिणी राज्यों की तुलना में उसका स्वरूप भी काफी भिन्न था। अत: विजयनगर काल में साम्राज्य के परिवर्तित स्वरूप, बदली हुई परिस्थितियों और साम्राज्य की आर्थिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए एक सर्वथा नई राज्य-व्यवस्था का विकास किया गया। इस व्यवस्था की जड़ें दक्षिण भारत के पूर्वकालिक राज्यतंत्र से बहुत भिन्न नहीं थीं। दूसरे शब्दों में, जो प्रशासकीय संस्थाएं दक्षिण भारत में शताब्दियों से चली आ रही थीं, उनको ज्यों का त्यों बने रहने दिया। किंतु विजनगर शासन के केंद्रीय ढांचे में जो परिवर्तन आए उनसे उन संस्थाओं की स्वतंत्रता और स्वरूप में भी निश्चित रूप से अनेक परिवर्तन आए। इस संबंध में ग्रामीण प्रशासन से संबंधित संस्थाओं का उल्लेख आवश्यक है। चोल-चालुक्य युग में ग्राम्य प्रशासन में काफी स्वायत्तता थी। परंतु विजयनगर युग में उन ग्राम्य प्रशासनिक संस्थाओं को तो बना रहने दिया गया पर उनके ऊपर नौकरशाही एवं सामंती व्यवस्था को आरोपित किया गया जिससे उनकी स्वायत्तता पर बुरा प्रभाव पड़ा। विजयनगर की राज्य-व्यवस्था के संबंध में एक अन्य तथ्य भी बहुत महत्वपूर्ण है और वह यह कि इस काल में विजयनगर के बड़े-बड़े सेनानायकों, अधिकारियों और नौकरशाहों ने भू-स्वामित्व के साथ अपने को जोड़ने की कोशिश की। ये अधिकारी सामान्यत: बड़े-बड़े सेनानायक थे जो 'नायक' कहलाते थे और स्थानीय नौकरशाह 'आयंगार' कहलाते थे। खेतिहर भूमि पर इनके प्रभुत्व की स्थापना के कारण इन अधिकारियों का राजनीतिक और आर्थिक प्रभाव बहुत अधिक बढ़ गया जिससे बहुसंख्यक कृषक समुदाय पर भी एक हद तक बुरा असर पड़ा।

विजयनगर साम्राज्य लगभग दो शताब्दियों तक विकासशील एवं काफी शक्तिशाली स्थिति में रहा और उसके साथ-साथ राज्य-व्यवस्था भी विकसित होती गई। समकालीन राज्य-व्यवस्था की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि विजयनगर नरेश अपने शासन और शासन-व्यवस्था के विकास में काफी रुचि लेते थे। विजयनगर साम्राज्य के तीनों राजवंशों के इतिहास में लगभग सारे शासकों ने राज्य-व्यवस्था के विकास में बहुमुखी भूमिका निभाई। इस संबंध में संगम वंश के नरेश हरिहर प्रथम, बुक्का प्रथम, देवराय प्रथम और देवराय द्वितीय, सालुव वंश में सालुव नरसिंह और तुलुव वंश में क्रमश: कृष्णदेव राय, अच्युत देवराय और रामराय विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। विजनगर-कालीन अभिलेख, साहित्यिक स्रोत एवं विदेशी यात्रियों के साक्ष्य में समकालीन राज्य-व्यवस्था के बहुत अच्छे प्रमाण हैं। विजयनगर की राज्य-व्यवस्था और राजतंत्र का निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत विवेचन किया जा सकता है–

केंद्रीय व्यवस्था

किसी भी राजतंत्रात्मक व्यवस्था की भांति विजयनगर काल में भी राजा, जिसे 'राय' कहा जाता था, राज्य और शासन का केंद्रबिंदु होता था। इस काल में प्राचीन भारत की भांति राज्य की 'सप्तांग विचारधारा' पर जोर दिया जाता था। राज्य के इन सप्तागों में राजा सर्वोपरि होता था और उससे अपेक्षा की जाती थी कि वह सार्वभौम सम्राट के रूप में

टिप्पणी

अपने आदेशों को क्रियान्वित करवाए और प्रजा के हित का ध्यान रखे। प्राचीन भारत की राज्याभिषेक-पद्धति के अनुरूप इस काल में राजाओं का राज्याभिषेक किया जाता था। राजा के चयन में राज्य के मंत्रियों और नायकों की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका होती थी, जैसे कृष्णदेव राय के राज्यारोहण में मुख्यमंत्री तिम्म और सदाशिव राय को सिंहासनारूढ़ करने में अनेक मंत्रियों एवं प्रधानमंत्री रामराय ने प्रमुख भूमिका निभाई थी। राज्याभिषेक के समय विजयनगर नरेश को वैदिक राजाओं की भांति प्रजा-पालन और निष्ठा की शपथ लेनी पड़ती ती राज्य के सारे युद्ध और शांति-संबंधी आदेशों की घोषणा, दान की व्यवस्था एवं नियुक्तियां तथा प्रजा के मध्य सद्भाव की स्थापना आदि संबंधी समस्त कार्य राजा द्वारा ही संपादित किए जाते थे और उससे प्रजापालक होने की अपेक्षा की जाती थी।

राजा के ठीक बाद 'युवराज' का पद होता था जो सामान्यत: राजा का ज्येष्ठ पुत्र होता था। पुत्र न होने पर राजपरिवार के किसी भी योग्यतम पुरुष को युवराज नियुक्त कर दिया जाता था। विजयनगर साम्राज्य में अधिकांश नरेशों ने अपने जीवनकाल में ही युवराजों की घोषणा करके अपने उत्तराधिकारियों की घोषणा कर दी थी। इस कारण विजयनगर काल में उत्तराधिकारी-संबंधी संघर्ष की संभावना बहुत कम रहती थी। युवराज की नियुक्ति के बाद उसका अभिषेक किया जाता था जिसे 'युवराज पट्टाभिषेकम्' कहते थे। युवराज से शासन की सैद्धांतिक जानकारी होने की अपेक्षा की जाती थी। कभी-कभी बहुत कम उम्र के राजकुमारों को भी युवराज नियुक्त कर दिया जाता था जैसे कृष्णदेव राय ने अपने छह वर्षीय पुत्र को ही अपना युवराज नियुक्त कर दिया था। युवराज काल में उसे विद्या, साहित्य, कला, ललितकलाओं और युद्ध आदि की शिक्षा भी दी जाती थी।

विजयनगर काल से बहुत पहले हमें दक्षिण भारत में दो व्यक्तियों द्वारा एकसाथ शासन करने के अनेक दृष्टांत मिलते हैं। इसी प्रकार विजयनगर काल में दो बंधुओं के एकसाथ सम्राट होने के हमें दृष्टांत मिलते हैं, जैसे हरिहर और बुक्का बंधुओं ने एकसाथ ही विजयनगर साम्राज्य की स्थापना की और सहवर्ती शासक के रूप में शासन किया। इसी प्रकार संभवत: विजयराय और देवराय द्वितीय ने एकसाथ शासन किया। इस प्रकार दक्षिण की 'संयुक्त शासक' परंपरा का इस काल में भी निर्वाह हुआ। विजयनगर नरेश प्राचीन भारत की वैदिक परंपराओं का अनुसरण करने में अपना गौरव समझते थे। वे पर्याप्त रूप से वृद्ध हो जाने पर युवराज के पक्ष में अपनी राजगद्दी का परित्याग करना भी श्रेयस्कर समझते थे। इस संबंध में कृष्णदेव राय का दृष्टांत उल्लेखनीय है जो अपने पुत्र के पक्ष में राजगद्दी का परित्याग करना चाहते थे लेकिन पुत्र की असामयिक मृत्यु के कारण वे ऐसा नहीं कर सके।

राजा के रूप में अभिषेक करते समय यदि युवराज अल्पायु होता था तो राजा या तो अपने जीवनकाल में ही किसी मंत्री को उसका संरक्षक नियुक्त कर देता था अथवा मंत्रिपरिषद के सदस्य किसी योग्य व्यक्ति को अल्पायु राजा के संरक्षक के रूप में स्वीकार कर लेते थे।

विजयनगर साम्राज्य के परवर्ती इतिहास में इस प्रकार के संरक्षकों की नियुक्ति के अनेक दृष्टांत हैं। विजयनगरकालीन कुछ प्रमुख संरक्षकों में वीर नरसिंह, नरसा नायक और रामराय आदि थे। परंतु इन संरक्षको ने अधिकांशत: अपनी स्थिति का दुरुपयोग किया जैसे कि नरसा नायक या उसके पुत्र वीर नरसिंह ने सालुव वंश को समाप्त करके तुलुव वंश की स्थापना कर डाली और सदाशिव राय के अल्पायु काल में तो उसका संरक्षक

टिप्पणी

रामराय विजयनगर साम्राज्य का सर्वेसर्वा बन बैठा। विजयनगर काल में यह संरक्षक व्यवस्था साम्राज्य के पतन के लिए बहुत अधिक सीमा तक उत्तरदायी सिद्ध हुई।

विजयनगर नरेश शासन-व्यवस्था की धुरी थे और वे कृषक समुदाय के शोषण, औद्योगिक वर्गों के मध्य आपसी विवाद और धार्मिक संप्रदायों के मध्य आपसी संघर्षों को दूर करने में रुचि लेते थे। उक्त स्थितियों में विजयनगर नरेश अपने अधिकारियों का प्रांतीय सूबेदारों का पक्ष नहीं लेते थे वरन जनकल्याण और साम्राज्य के हित उनके सम्मुख सर्वोपरि होते थे। कृषक समुदाय और खेतिहर लोगों के शोषण और दमन को रोकने के लिए विजयनगर नरेशों ने लगातार प्रयास किए और इस संबंध में अनेक समकालीन अभिलेख उनकी इस सद्भावना के अच्छे दृष्टांत हैं। विजयनगर नरेश अपने अभिलेखों में बार-बार धर्म के अनुरूप अर्थात न्याय और समता के सिद्धांत हैं। विजयनगर नरेश अपने अभिलेखों में बार-बार धर्म के अनुरूप अर्थात न्याय और समता के सिद्धांतों के अनुसार शासन करने का उल्लेख करते हैं। साम्राज्य की सामाजिक एकता, शांति और समृद्धि बनाए रखने के लिए लगातार प्रयत्नशील रहते थे। विजयनगर नरेशों का चाहे व्यक्तिगत धर्म कुछ भी रहा हो लेकिन उन्होंने धर्म के मामले में एक धर्मनिरपेक्ष नीति का अनुसरण किया। यहां तक कि उन्होंने अपने धर्मावलंबियों के मुकाबले विधर्मियों और अल्पमत को लोगों को संरक्षण प्रदान किया। इस प्रकार विजयनगर नरेश न्याय और समता के सिद्धांतों पर अपने शासन को अवस्थित करना चाहते थे और वे इस संबंध में अपने उद्देश्यों के पूरा करने में काफी सफल भी हुए। वे अपने देश की आर्थिक प्रगति के प्रति भी काफी सजग थे। कृषि-उत्पादन की वृद्धि और व्यापार की समृद्धि उनके शासन का एक प्रमुख लक्ष्य होता था। इस दिशा में कृषि-योग्य भूमि का विस्तार किया गया, सिंचाई के साधनों को उन्नत किया गया, विदेश व्यापार को प्रोत्साहन दिया गया और औद्योगिक प्रगति के लिए उपयुक्त परिस्थियों को जन्म दिया गया। विजयनगर नरेश न्याय और दंड को शांति और सुरक्षा के लिए परम आवश्यक मानते थे। सम्राट स्वयं न्याय का सर्वोच्च न्यायालय होता था। इस काल में क्रूर दंडों का पूरी तरह से परित्याग तो नहीं किया गया, परंतु न्याय और दंड के मामले में क्रूरता को अच्छा नहीं माना जाता था। विजयनगर साम्राज्य में राजा की सत्ता अनियंत्रित या निरंकुश नहीं थी। उसके निरंकुश न हो पाने का सबसे बड़ा कारण यह था कि राजा स्वयं को प्रजा के प्रति उत्तरदायी समझता था और व्यापारिक नियम, ग्रामीण संस्थाएं और धार्मिक संस्थाओं से जुड़ी जन-समितियां उसकी निरंकुशता के उदय में बाधा बनी हुई थीं। इसके अतिरिक्त चूंकि राजा को प्राचीन स्मृति-विधानों के अनुसार शासन करना और स्मृतियों द्वारा प्रस्तावित कानूनों को क्रियान्वित करना होता था, अत: उसके निरंकुश होने की संभावना बहुत कम होती थी। मंत्रिपरिषद भी राजा की निरंकुशता में बहुत बड़ी बाधा थी। अत: कुछ विद्वानों का यह विचार उचित नहीं है कि विजयनगरकालीन नरेश निरंकुश होते थे। कृष्णदेव राय ने अपने अनुपम ग्रंथ 'आमुक्त-माल्यद' में इस आदर्श को बहुत सुंदर ढंग से प्रस्तुत किया है– 'अपनी प्रजा की सुरक्षा और कल्याण के उद्देश्य को सदैव आगे रखो तभी देश के लोग राजा के कल्याण की कामना करेंगे और राजा का कल्याण तभी होगा जब देश प्रगतिशील और समृद्धिशील होगा'।

राज-परिषद राजा की सत्ता को नियंत्रित करने में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाती थी। राजा राज्य के मामलों और नीतियों के संबंध में इसी परिषद की सलाह लेता था। यह परिषद राजा का अभिषेक करती थी और देश का प्रशासन चलाती थी। इस राज-परिषद

के अतिरिक्त राजा को परामर्श देने के लिए एक अन्य परिषद भी होती थी। इस परिषद में प्रांतीय सूबेदार, बड़े-बड़े नायक, सामंत-शासक, व्यापारिक निगमों के प्रतिनिधि आदि शामिल होते थे। इस प्रकार यह परिषद काफी बृहत् होती होगी। इस परिषद के बाद केंद्र में मंत्रिपरिषद होती थी, जिसका प्रमुख अधिकारी प्रधानी या महाप्रधानी होता था। इसकी स्थिति प्रधानमंत्री की भांति होती थी। मंत्रिपरिषद में प्रधानमंत्री, मंत्री, उपमंत्री विभागों के अध्यक्ष और राजा के कुछ निकटस्थ संबंधी भी शामिल होते थे। मंत्रिपरिषद में संभवत: बीस सदस्य होते थे। मंत्रिपरिषद के अध्यक्ष को 'सभानायक' कहा जाता था। प्रधानमंत्री या प्रधानी भी इसकी अध्यक्षता करता था। विद्वान, राजनीति में निपुण, पचास से सत्तर वर्ष की आयु वाले और स्वस्थ व्यक्तियों को ही इस मंत्रिपरिषद का सदस्य बनाया जाता था। यह मंत्रिपरिषद विजयनगर साम्राज्य के संचालन में सबसे महत्वपूर्ण संस्था थी। राजा मंत्रिपरिषद से अधिकांश मामलों में राय लेता था, परंतु उसकी राय मानने के लिए वह बाध्य नहीं था। केंद्र में इनके अतिरिक्त दंडनायक नामक उच्च अधिकारी भी होते थे। 'दंड-नायक' पदबोधक नहीं था वरन विभिन्न अधिकारियों की विशेष श्रेणी को दंडनायक कहा जाता था। दंडनायक को सेनापति, न्यायाधीश, प्रांतपति या प्रशासकीय अधिकारी आदि भी बनाया जा सकता था। इसी प्रकार कुछ दूसरे अधिकारी 'कार्यकर्ता' कहलाते थे। यह भी प्रशासकीय अधिकारियों की एक श्रेणी थी। राजा और युवराज के बाद केंद्र का सबसे प्रधान अधिकारी प्रधानी होता था जिसकी तुलना हम मराठाकालीन पेशवा से कर सकते हैं।

केंद्रीय सचिवालय

विजयनगर जैसे विशाल साम्राज्य पर केवल राजा और उसकी मंत्रिपरिषद ही अकेले शासन नहीं कर सकते थे, अत: केंद्र में एक सचिवालय की स्थापना की गई थी। इस सचिवालय में विभागों का बंटवारा किया गया था और इसमें 'रायसम्' या सचिव, 'कर्णिकम्' अर्थात एकाउंटेंट जैसे अधिकारी होते थे। विशेष विभागों से संबंधित अधिकारियों या विभाग-प्रमुखों के पदों के नाम भिन्न थे, जैसे– 'मानेयप्रधान', 'गृहमंत्री'। शाही मुद्रा को रखने वाला अधिकारी 'मुद्राकर्ता' कहलाता था। इसी प्रकार के अनेक अधिकारियों के द्वारा विजयनगर के केंद्रीय सचिवालय का गठन किया गया था।

प्रांतीय प्रशासन

विजयनगर जैसे विशाल साम्राज्य पर प्रशासन के लिए उसे अनेक प्रांतों में विभाजित किया गया था। ये प्रांत राज्य या मंडल कहलाते थे। विजयनगर साम्राज्य में इन प्रांतों की संख्या लगातार परिवर्तित होती रही और चौदहवीं से सोलहवीं शताब्दी तक प्रांतों का क्रमश: विस्तार होता रहा। कृष्णदेव राय के शासनकाल में प्रांतों की संख्या सबसे अधिक थी। प्रांतों को मंडलों में विभाजित किया गया था। कुछ इतिहासकारों का विचार है कि 'मंडल' राज्य या प्रांत से बड़ी इकाई थे। जिले 'कोट्टम' या 'वलनाडू' कहलाते थे। कोट्टम को नाडुओं में विभाजित किया गया, इन्हें आज परगना या ताल्लुका कहा जाता है। इन नाडूओं को 'मेलाग्रामों' में विभाजित किया गया। प्रत्येक 'मेलाग्राम' में पचास गांव होते थे और प्रशासन की सबसे छोटी इकाई 'ऊर' या ग्राम थे। इस काल में कुछ ग्रामों के समूह को 'स्थल' और 'सीमा' भी कहा गया। प्रांतों का विभाजन सैनिक दृष्टिकोण को ध्यान में रख कर किया जाता था अर्थात सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण और शक्तिशाली किले से युक्त प्रदेश को प्रांत के रूप में संगठित किया जाता था।

सामान्यत: प्रांतों पर राजपरिवार के व्यक्तियों को ही प्रांतपति या सूबेदार रूप में नियुक्त किया जाता था। कुछ प्रांतों पर कुशल और अनुभवी दंडनायकों को भी सूबेदार के रूप में नियुक्त कर दिया जाता था। इन सूबेदारों को प्रांतों में काफी स्वायत्तता प्राप्त थी। इनका कार्यकाल निर्धारित नहीं होता था और यदि वे कुशल और योग्य होते थे तो काफी लंबे समय तक शासन कर सकते थे। प्रांतपति सिक्कों को प्रसारित कर सकता था, नये कर लगा सकता था, पुराने करों को माफ कर सकता था और भूमिदान आदि दे सकता था। केंद्रीय सरकार प्रांत के प्रशासनिक मामले में सामान्यत: हस्तक्षेप नहीं करती थी, पर यदि प्रांतीय सूबेदार एवं उसके अधिकारी जनता का शोषण और दमन करते थे तो केंद्रीय सरकार प्रांतीय मामलों में हस्तक्षेप करने के प्रति विमुख नहीं रहती थी। प्रांत में कानून एवं व्यवस्था बनाए रखना प्रांतीय सूबेदारों का सबसे प्रमुख उत्तरदायित्व था। सूबेदारों को प्रांतीय राजस्व का एक निर्धारित अंश केंद्र के पास भेजना होता था। ये प्रांतीय सूबेदार अपने सचिव या एजेंट को केंद्र में रखते थे। शक्तिशाली राजाओं के शासनकाल में ये प्रांतीय सूबेदार निष्ठावान बने रहते थे, परंतु केंद्रीय शासन के कमजोर होते ही वे अपनी शक्ति और प्रभाव का विस्तार करने लगते थे।

नायंकार व्यवस्था

विजयनगर-कालीन राजतंत्र और प्रांतीय व्यवस्था के प्रसंग में नायंकार व्यवस्था का उल्लेख आवश्यक है। चोल युग और विजयनगर युग के राजतंत्र के बीच सबसे बड़ा अंतर यही नायंकार-व्यवस्था है। इस व्यवस्था की उत्पत्ति, इसके वास्तविक स्वरूप और व्याख्या के संबंध में इतिहासकारों में बड़ा विवाद है। कुछ इतिहासकारों का कहना है कि विजयनगर-कालीन सेनानायकों को 'नायक' कहा जाता था। कुछ अन्य इतिहासकारों का विचार है कि ये नायक वस्तुत: भू-सामंत थे जिन्हें राजा वेतन के बदले अथवा उनकी अधीनस्थ सेना के रख-रखाव के लिए विशेष भू-खंड दे देता था, जो 'अमरम्' कहलाते थे। 'अमरम्' भूमि का उपभोग करने के कारण इन्हें अमर 'नायक' भी कहा जाता था। सोलहवीं शताब्दी के मध्य में इन नायकों की संख्या लगभग दो सौ थी और इन नायकों को सबसे अधिक तमिलनाडू में नियुक्त किया गया था। तमिल प्रदेश की अधिकांश भूमि को 'अमरम्' के रूप में नायकों को वितरित कर दिया गया। इस 'अमरम्' भूमि का नायक पूरी तरह से स्वयं उपभोग नहीं कर सकता था। 'अमरम्' भूमि की आय से राजा की सहायता के लिए एक सेना रखनी पड़ती थी। प्रत्येक नायक के अंतर्गत रहने वाली सेना का निर्धारण राजा स्वयं करता था। सामान्यत: नायकों की सेना की संख्या और केंद्र को भेजे जाने वाले राजस्व का अंश, 'अमरम्' भूमि के आकार पर निर्भर करता था। इसके अतिरिक्त नायकों को अपनी 'अमरम्' भूमि में शांति और सुरक्षा बनाए रखने और अपराधों को रोकने का दायित्व भी स्वयं वहन करना पड़ता था। उनके अधिकार क्षेत्र में यदि कहीं चोरी या लूट की घटना हो जाती तो उसकी क्षतिपूर्ति भी उन्हें करनी पड़ती थी। यदि 'नायक' अपने इन दायित्वों का निर्वाह नहीं कर पाते थे तो उनको प्रदान किए गए भू-खंडों को जब्त किया जा सकता था। कभी-कभी नायकों को शारीरिक रूप से भी दंडित किया जाता था परंतु उन्हें मृत्युदंड देने का हमें कोई प्रमाण नहीं मिलता।

यद्यपि हमने 'नायंकार व्यवस्था' का प्रांतीय शासन व्यवस्था के संदर्भ में उल्लेख किया है परंतु नायक की स्थिति, प्रांतीय गवर्नर की तुलना में निम्न दृष्टियों से भिन्न होती थी–

टिप्पणी

1. प्रांतीय गवर्नर प्रांत में राजा का प्रतिनिधि होता था और वह राजा के नाम से शासन करता था, जबकि नायक केवल एक सैनिक-सामंत होता था और उसे केवल अपने सैनिक एवं वित्तीय दायित्वों की पूर्ति के लिए कुछ जिले या प्रदेश प्रदान कर दिए जाते थे।
2. गवर्नर की तुलना में नायक को अपने प्रदेश में कहीं अधिक स्वतंत्रता प्राप्त थी। राजा सामान्यत: 'नायंकार' प्रदेशों में आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करता था और किसी विशेष परिस्थिति अथवा शासन के मामले में पूर्णतया अक्षम होने पर ही नायक को हटाया जा सकता था।
3. नायकों को एक अमरम् प्रदेश से दूसरे 'अमरम' प्रदेश में स्थानांतरित करने के प्रमाण हमें नहीं मिलते जब कि गवर्नर को प्रशासकीय आवश्यकता के अनुरूप स्थानांतरित या पदच्युत भी किया जा सकता था।
4. गवर्नर की तुलना में नायक के उत्तरदायित्व भी कही अधिक थे। जंगलों को साफ करना, कृषियोग्य भूमि का विस्तार करना, कृषि एवं आम समृद्धि की रक्षा करना आदि उसके कुछ प्रमुख दायित्व थे।
5. गवर्नरों को प्राय: 'दंडनायक' कहा जाता था और अधिकांशत: वे ब्राह्मण हुआ करते थे। परंतु ब्राह्मण नायक होने के दृष्टांत हमें बहुत थोड़े मिलते हैं।
6. प्रांतीय गवर्नरों द्वारा अपने पदों को आनुवांशिक बना लेने का हमें कोई दृष्टांत नहीं मिलता, परंतु नायकों के पद धीरे-धीरे आनुवांशिक हो गए थे।

नायकों को अपने पद की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए केंद्र में दो प्रकार के संपर्क अधिकारी (राजधानी में) रखने पड़ते थे। इनमें से एक अधिकारी साम्राज्य की राजधानी (अर्थात विजयनगर) में स्थित नायक की सेना का सेनापित होता था और दूसरा विजयनगर में नियुक्त उसका प्रशासनिक एजेंट होता था जिसे 'स्थानपति' कहा जाता था। यदि हम विजयनगर-कालीन नायंकार व्यवस्था को समग्र रूप से देखें, तो यह हमें यूरोप के मध्यकालीन सामंतवाद की याद दिलाती है। यद्यपि नायंकार व्यवस्था की यूरोपीय सामंतवाद के साथ तुलना नहीं की जा सकती, परंतु इस व्यवस्था में सामंतवादी लक्षण बहुत अधिक थे।

नायंकार व्यवस्था के गुण और दोषों का विवेचन यहां आवश्यक नहीं है। किन्हीं विशेष परिस्थितियों, आवश्यकताओं और गुणों के कारण इस व्यवस्था को स्थापित किया गया था, अत: मूल रूप में यह व्यवस्था निश्चित रूप से उपयोगी रही होगी। धीरे-धीरे इस व्यवस्था में दोष पैदा होने लगे। वित्तीय साधनों और सैनिक शक्ति से युक्त ये नायक विजयनगर के परवर्ती युग में अपनी स्वतंत्रता की घोषणा और अपने प्रदेशों का विस्तार करने के लिए आपस में युद्ध करने लगे। कमजोर शासकों के शासनकाल में नायकों की उच्छृंखलता और अधिक बढ़ जाती थी। परिणामस्वरूप 'नायंकार व्यवस्था' विजयनगर साम्राज्य के विनाश का कारण बनी। इसी कारण विजयनगर साम्राज्य के परवर्ती दिनों में नायकों की उच्छृंखलता को रोकने के लिए 'महामंडलेश्वर' या विशेष कमिश्नरों की नियुक्ति की गई और इन्हें सारे दक्षिण भारत में नियुक्त किया गया, जब कृष्णदेव राय की मृत्यु का लाभ उठाकर प्रांतीय नायक अपने को स्वतंत्र घोषित करने की कोशिश करने लगे।

टिप्पणी

स्थानीय शासन

संपूर्ण दक्षिण भारत के इतिहास में अनेक राजवंशों के उत्थान और पतन के दौरान एक राजनीतिक संस्था दृ जो बिलकुल ही दृष्प्रभावित नहीं हुई दृ वह थी स्थानीय शासन। चोल-चालुक्य युग की शासन-व्यवस्था के संदर्भ में, हम 'सभा' और 'नाडू' का पहले ही उल्लेख कर आए हैं। यह 'सभा' को 'महासभा', अन्यत्र 'ऊर' और 'महाजन' भी कहा जाता था। प्रत्येक गांव को अनके वार्डों या मुहल्लों में बांटा जाता था। इस 'सभा' के विचार-विमर्श में गांव या क्षेत्र विशेष के प्रमुख लोग हिस्सा लेते थे। विजयनगर- कालीन अभिलेखों में इन स्थानीय स्वशासन-संबंधी संस्थाओं का खूब उल्लेख मिलता है।

इन ग्रामीण सभाओं को नई भूमि या अन्य प्रकार की संपत्ति को उपलब्ध करने और गांव की सार्वजनिक भूमि को बेचने का अधिकार था। ये सभाएं ग्रामीणों की ओर से सामूहिक निर्णय भी ले सकती थीं और गांव की प्रतिनिधि होने के नाते गांव की जमीन को दान में भी दे सकती थीं। इस प्रकार इन ग्राम सभाओं की स्थिति परिवार के मुखिया की भांति होती थी। ये ग्राम सभाएं राजकीय करों को भी एकत्रित करती थीं और इन संबंध में अपने पास भू-आलेखों को भी तैयार रखती थीं। यदि कोई भू-स्वामी लंबे समय तक लगान अदा नहीं कर पाता था तो ग्राम सभाएं उसकी भूमि को भी जब्त कर सकती थीं। किसी प्राकृतिक विपत्ति के आने पर ग्राम सभाएं राजा से लगान या कर-विशेष की माफी के लिए भी निवेदन करती थीं। इस कारण शासन की राजस्व नीति के क्रियान्वयन में इन सभाओं की एक बहुमुखी भूमिका रहती थी।

इन सभाओं के न्यायिक अधिकार भी थे। वे कुछ प्रकार के दीवानी मुकद्दमों का फैसला करती थीं और फौजदारी के छोटे-मोटे मामलों में अपराधी को दंड दे सकती थीं। कभी-कभी ये ग्रामसभाएं सार्वजनिक दानों और ट्रस्टों की भी व्यवस्था करती थीं। ऐसी स्थिति में दानदाता व्यक्ति किसी विशेष धार्मिक कार्य या पुण्य के लिए उक्त गांव की भूमि को दान में दे देता था जिसकी आय से ग्राम सभा उक्त दान के उद्देश्य की पूर्ति करती रहती थी।

'नाडू' गांव की एक बड़ी राजनीतिक इकाई थी। इसकी सभा को भी 'नाडू' कहा जाता था और इसके सदस्यों को 'नात्तवर' कहा जाता था। इसके अधिकार ग्रामसभा की ही भांति होते थे परंतु इसका अधिकार-क्षेत्र काफी बड़ा होता था। ये स्थानी संस्थाएं शासकीय नियंत्रण के बाहर नहीं होती थीं। यदि वे नियमानुसार ग्राम की व्यवस्था नहीं कर पाती थीं अथवा ग्राम के विभिन्न वर्गों के हितों को संरक्षण नहीं प्रदान कर पाती थीं तो उन्हें दंडित किया जा सकता था।

विजयनगर युग में इन स्थानीय संस्थाओं का बड़ी तेजी से पतन हुआ और ये ग्राम सभाएं, जो चोलयुग में बहुत शक्तिशाली स्थानीय संस्थाएं थीं, चोल साम्राज्य के पतन के बाद क्रमशः पतनोन्मुख होती गई। विजयनगर काल में इनकी जीवंतता बिलकुल समाप्त हो गई। किन्हीं विशेष कारणों एवं परिस्थितियों से इन स्थानीय संस्थाओं का पतन हुआ जिनका विवेचन करना एक बहुत लंबा प्रकरण है। यहां केवल यह कह देना काफी होगा कि विजयनगर सम्राटों ने 'आयगार-व्यवस्था' द्वारा स्थानीय प्रदेशों के शासन की व्यवस्था प्रचलित की। इस 'आयगार-व्यवस्था' ने स्थानीय स्वायत्तता और इन ग्रामीण गणतंत्रों के मुक्त जीवन का गला घोंट दिया।

टिप्पणी

आयगार व्यवस्था

नायंकार-व्यवस्था की भांति आयगार-व्यवस्था भी विजयनगर-कालीन शासन-व्यवस्था की एक बहुत महत्वपूर्ण विशेषता थी। इस व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक ग्राम को एक स्वतंत्र इकाई के रूप में संगठित किया जाता था और इस ग्रामीण शासकीय इकाई पर शासन के लिए बारह व्यक्तियों को नियुक्त किया जाता था। इस बारह शासकीय अधिकारियों के समूह को 'आयगार' कहा जाता था। इन अधिकारियों कि नियुक्ति सरकार द्वारा की जाती थी। अभिलेखों में इन आयगारों के पद आनुवांशिक होते थे। आयगार अपने पदों को बेच या गिरवी भी रख सकते थे। उन्हें वेतन के बदले लगान और करमुक्त भूमि भी प्रदान की जाती थी। आयगारों के काफी कठिन उत्तरदायित्व होते थे। अपने अधिकार-क्षेत्र में शांति और सुरक्षा बनाए रखना उनका सर्वप्रमुख उत्तरदायित्व था। इन ग्रामीण अधिकारियों की बिना जानकारी के न तो संपत्ति को स्थानांतरित किया जा सकता था और न ही दान दिया जा सकता था। भूमि की बिक्री केवल इन्हीं अधिकारियों की जानकारी से हो सकती थी। कर्णिक (एकाउंटेंट) नामक आयगार भूमि की खरीद या बिक्री की लिखा-पढ़ी तथा तत्संबंधी दस्तावेजों को तैयार करता था।

राजस्व-व्यवस्था

विजयनगर-कालीन राजस्व व्यवस्था एक बहुत व्यापक विषय है और इस संबंध में समकालीन अभिलेखों में असीमित जानकारी भरी पड़ी है। इसके अतिरिक्त विदेशी यात्रियों के विवरणों से भी हमें इस संबंध में काफी जानकारी प्राप्त होती है। विजयनगर-काल में राज्य की आय के अनेक स्रोत थे, जैसे लगान, संपत्तिकर, व्यापारिक कर, व्यावसायिक कर, उद्योगों पर कर, सामाजिक और सामुदायिक कर और अर्थदंड से प्राप्त आय आदि। मध्यकालीन भारत के अन्य भागों की भांति विजयनगर साम्राज्य में भी आय का सबसे बड़ा स्रोत लगान था।

भू-राजस्व व्यवस्था

विजयनगर-काल में भू-राजस्व एवं भू-धारण व्यवस्था बहुत व्यापक थी और भूमि को अनेक श्रेणियों में विभाजित किया गया था। भूमि मुख्यत: सिंचाई-युक्त या सूखी जमीन के रूप में वर्गीकृत की जाती थी। इस वर्गीकरण के बाद यह देखा जाता था कि इस भूमि का कोई अंश ब्राह्मणों या मंदिरों को तो दान में नहीं दिया गया है। इसके बाद भूमि विशेष में उगाई जाने वाली फसलों के आधार पर भी उनका वर्गीकरण किया जाता था। भूमि के वर्गीकरण के बाद गांव में जुड़े चारागाहों आदि की जांच की जाती थी और चारागाह पर चरवाही कर लगता था। परंतु भूमि से होने वाली पैदावार और उसकी किस्म भू-राजस्व के निर्धारण का सबसे बड़ा आधार थी। विजयनगर-काल में पूरे साम्राज्य में न तो भूमि के पैमाइश की समान व्यवस्था थी और न लगान की समान व्यवस्था थी और न लगान की दरें ही समान थीं, जैसे ब्राह्मणों के स्वामित्व वाली भूमि से उपज का बीसवां भाग और मंदिरों की भूमि से उपज का तीसवां भाग लगान के रूप में लिया जाता था। इसी प्रकार भू-धारण के विभिन्न प्रकारों के लिए लगान की दरें भिन्न-भिन्न होती थीं।

अन्य विविध कर

लगान के अतिरिक्त मकान, पशुओं, संपत्ति कर, औद्योगिक कर जैसे अनेक करों को राज्य द्वारा वसूल किया जाता था। समकालीन अर्थव्यवस्था से संबंधित ऐसा कोई वर्ग नहीं था जिसे व्यावसायिक कर न देने होते हों। इससे गड़रिए, बढई, धोबी और नाई तक मुक्त

नहीं थे। परंतु सोलहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में नाइयों को व्यावसायिक कर से मुक्त कर दिया गया। इसके अतिरिक्त विभिन्न समुदायों से भी कर वसूल किए जाते थे, जैसे मनोरंजन करने वालों और व्यापारिक निगमों एवं श्रेणियों आदि से। सामाजिक और सामुदायिक करों में 'विवाह कर' बहुत रोचक है। यह कर वैवाहिक समारोह के आयोजन के आकार और विवाह में खर्च किए जाने वाले धन पर निर्भर करता था। यह कर वर और कन्या दोनों पक्षों से वसूल किया जाता था पर यदि कोई व्यक्ति विधवा से विवाह करता था तो उससे और उसकी वधू दोनों से कर नहीं लिए जाते थे। विजयनगर नरेशों ने विधवा विवाह को विवाह-कर मुक्त करके इस प्रकार के विवाह को न केवल सामाजिक मान्यता प्रदान करने का प्रयास किया वरन विधवाओं की दयनीय स्थिति में सुधार लाने की चेष्टा की। विजयनगर-कालीन राजस्व-व्यवस्था की प्राय: यह आलोचना की जाती है कि इस विविध करों के द्वारा प्रजा पर करों का दुस्सह बोझ डाल दिया गया। परंतु इस संबंध में एक बात ध्यान देने योग्य है कि विजयनगर युग में साम्राज्य के सारे वर्गों की आर्थिक समृद्धि में आशातीत वृद्धि हुई। अत: राज्य द्वारा इस समृद्धि का कुछ अंश लेना स्वाभाविक था। इसके अतिरिक्त इस काल में करों की संख्या भले अधिक रही हो लेकिन करों कि दरें अधिक नहीं थीं। साथ ही विजयनगर नरेश आपातस्थिति में करों को माफ करने में भी बड़े उदार थे और प्रजा की आर्थिक समृद्धि का उनके सम्मुख सबसे बड़ा उद्देश्य रहता था।

यदि हम विजयनगर-कालीन राजतंत्र और शासन-व्यवस्था पर एक नजर डालें तो ऐसा प्रतीत होता है कि विजयनगर नरेशों के सम्मुख अपनी प्रजा का कल्याण और उनकी समृद्धि का विकास उनके शासन का मूल-मंत्र था। उन्होंने अपनी प्रजा के हितों का बलिदान करके राज्य के उद्देश्यों और हितों की पूर्ति नहीं की। उनके द्वारा प्रचलित कुछ प्रशासकीय संस्थाएं, जैसे राजस्व-व्यवस्था एवं आयगार-व्यवस्था विजयनगर साम्राज्य के विनाश के बहुत बाद तक-- ईस्ट इंडिया कंपनी के शासनकाल तक --स्थाई रही और कंपनी के अधिकारियों ने इस व्यवस्था को उपयोगी और लाभप्रद समझकर कुछ संशोधन करके क्रियान्वित किया। इससे समकालीन प्रशासकीय संस्थाओं के महत्व का मूल्यांकन किया जा सकता था।

अपनी प्रगति जांचिए

5. विजयनगर साम्राज्य का सबसे प्रसिद्ध राजा कौन था?

   (क) कृष्ण देव राय (ख) राम देव राय

   (ग) वीर बल्लाल (घ) हरिहर

6. विजयनगर के सामाजिक राजनीतिक जीवन में किसकी स्थिति बहुत ऊंची थी?

   (क) वैश्यों की (ख) ब्राह्मणों की

   (ग) मुसलमानों की (घ) क्षत्रियों की

3.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (क)

3. (घ)
4. (ग)
5. (क)
6. (ख)

3.6 सारांश

दिल्ली सल्तनत के इतिहास में सुल्तान अथवा शासक की वैधानिक स्थिति के दो महत्वपूर्ण पहलू थे- सुल्तान की स्वतंत्र शासक के रूप में स्थिति तथा खलीफा के प्रतिनिधि के रूप में स्थिति। कुतुबुद्दीन ऐबक ने दिल्ली सल्तनत की रूपरेखा निर्धारित की तथा इल्तुतमिश ने उसे पूर्णरूपेण स्वतंत्र व वैध स्तर प्रदान किया। इलतुतमिश ने उपर्युक्त दोनों पहलुओं से अपने को सुदृढ़ किया। एक ओर वह दिल्ली सल्तनत पर स्वतंत्र रूप से शासन करता रहा तो दूसरी ओर वह खलीफा अल मुस्त नासिर बिल्लाह की प्रभुता को स्वीकार करते हुए उसके अधीनस्थ बना रहा। खलीफा से मान-पत्र प्राप्त करने के पूर्व भी वह सिक्कों पर उसका नाम खुदवाता रहा। फरवरी 1229 ई. में खलीफा अबू जाफर मंसूर उल मुस्तनासिर बिल्लाह के राजदूत दिल्ली पहुंचे। उन्होंने इल्तुतमिश को खलीफा द्वारा प्रेषित मानपत्र प्रदान किया जिसे प्राप्त कर वह सल्तनत का वैधानिक शासक बन गया। इस अवसर पर दिल्ली शहर को खूब सजाया गया था और धूमधाम से राजदूतों का स्वागत किया गया। खलीफा द्वारा भेजी गई खिलअतें इल्तुतमिश के पुत्रों, अमीरों व दासों को प्रदान की गईं। खलीफा का नाम सिक्कों पर खुदवाया जाता रहा। इस प्रकार मुसलमानों की नजर में दिल्ली सल्तनत का प्रदेश दारुल इस्लाम का एक भाग बन गया और यह भी स्पष्ट हो गया कि अन्य शासकों की भांति दिल्ली सल्तनत का शासक भी खलीफा के प्रति निष्ठावान है व उसके अधीन है।

सुल्तानों की शक्ति, गरिमा व प्रभाव का दिग्दर्शन उनके द्वारा अपनाए गए राजत्व-सिद्धांत से भी होता था। उनके राजत्व का सिद्धांत क्रमिक विकास को प्रकट करता है तथा उसमें कई देशों की परंपराओं का प्रभाव दिखाई पड़ता है। सल्तनत काल में इस्लामी जगत के विभिन्न भागों से समय-समय पर प्रवासी के रूप में अनेक मुसलमान दार्शनिक, इतिहासकार, विधिवेत्ता, सूफी, अधिकारी, अमीर, राजकुमार, साहित्यकार, कलाकार इत्यादि भारत आते रहे। अतः उनके माध्यम से यहां विभिन्न इस्लामी देशों की राजनीतिक, धार्मिक व सांस्कृतिक मान्यताएं तथा प्रशासनिक पद्धतियां प्रवेश करती रहीं एवं इन सबका प्रभाव सुल्तानों पर निरंतर पड़ता रहा। इन विचारधाराओं के अंतर्गत ही सुल्तानों के राजत्व सिद्धांत का विकास होता रहा। इल्तुतमिश के समय में सर्वप्रथम राजत्व की निश्चित अवधारणा दिखाई पड़ती है। वास्तव में सल्तनत की प्रभुसत्ता का इतिहास भी उसी के समय से प्रारंभ होता है।

दिल्ली सल्तनत की स्थापना से भारतीय राज्य की प्रकृति में नए तत्वों का आना प्रारम्भ हुआ। यह तत्व राज्य के इस्लामी सिद्धांत का परिणाम थे। इसलिए यह जानना आवश्यक है कि इस्लामी राजशासन का स्वरूप क्या था। हज़रत मुहम्मद ने पुराने कबीलों की इकाई को समाप्त करने के बाद वर्गभेद व वंशभेद की परम्परा को भी समाप्त किया अनेक कबीलों के प्रधानों ने मुहम्मद को अपना मुखिया बना लिया। धीरे-धीरे मदीना के

लोगों ने इस्लाम को विशाल स्वरूप प्रदान किया। मदीना के शहरी राज्य में हजरत मुहम्मद ने मुस्लिम समाज को एक राजनीतिक संगठन का रूप दिया। इनका सामाजिक संगठन वंश संबंधों पर नहीं, बल्कि धार्मिक आदर्शवाद पर निर्भर था। इस्लाम में अल्लाह को केन्द्र में रखते हुए राज्य स्थापित किया गया। जिसमें राजनीतिक अधिकार ईश्वरीय कानून या शरियत में निहित थे। शरियत या दैवी कानून कुरान में स्पष्ट किए गए हैं–और इनका समर्थन सुन्ना अर्थात पैगम्बर द्वारा बनाए गए सिद्धान्त में किया गया है, जो कि पैगम्बर के उपदेश हैं।

विजयनगर साम्राज्य (1336-1646) मध्यकालीन दक्षिण भारत का एक साम्राज्य था। इसके राजाओं ने 310 वर्ष राज किया। इसका औपचारिक नाम कर्णाटक साम्राज्य था। इस राज्य की 1565 में भारी पराजय हुई और राजधानी विजयनगर को जला दिया गया। उसके पश्चात क्षीण रूप में यह और 80 वर्ष चला। इसकी स्थापना हरिहर और बुक्का नामक दो भाइयों ने की थी। इसका प्रतिद्वंदी मुसलिम बहमनी सल्तनत था।

इस साम्राज्य की उत्पत्ति के बारे में विभिन्न दंतकथाएं भी प्रचलित हैं। इनमें से सबसे अधिक विश्वसनीय यही है कि संगम के पुत्र हरिहर तथा बुक्का ने हंपी हस्तिनावती राज्य की नींव डाली और विजयनगर को राजधानी बनाकर अपने राज्य का नाम अपने गुरु के नाम पर विजयनगर रखा।

दक्षिण भारत में मुसलमानों का प्रवेश अलाउद्दीन खिल्जी के समय हुआ था। लेकिन अलाउद्दीन उन राज्यों का हराकर उनसे वार्षिक कर लेने तक ही सीमित रहा। मुहम्मद बिन तुगलक ने दक्षिण में साम्राज्य विस्तार के उद्येश्य से कंपिली पर आक्रमण कर दिया और कंपिली के दो राज्य मंत्रियों हरिहर तथा बुक्का को बंदी बनाकर दिल्ली ले आया। इन दोनों भाइयों द्वारा इस्लाम धर्म स्वीकार करने के बाद इन्हें दक्षिण विजय के लिए भेजा गया। माना जाता है कि अपने इस उद्देश्य में असफलता के कारण वे दक्षिण में ही रह गए और विजयारण्य नामक संत के प्रभाव में आकर हिंदू धर्म को पुनः अपना लिया। इस तरह मुहम्मद बिन तुगलक के शासनकाल में ही भारत के दक्षिण-पश्चिम तट पर विजयनगर साम्राज्य की स्थापना की गई।

3.7 मुख्य शब्दावली

- **अविच्छिन्न** : जो लगातार हो, अविभक्त।
- **खलीफा** : पैगंबर का उत्तराधिकारी, नेता।
- **दिवंगत** : स्वर्गगत।
- **उत्कृष्ट** : श्रेष्ठ, उत्तम, उन्नत।
- **खिलाफत** : खलीफा का पद, विरोध।
- **खुतबा** : व्याख्यान, धर्मोपदेश।
- **फरमान** : आज्ञा, आज्ञापत्र।
- **दबीर** : मुंशी, कातिब, क्लर्क।
- **कुफ्र** : इनकार, नास्तिकता।

3.8 स्व-मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु-उत्तरीय प्रश्न

1. इस्लाम धर्म का उद्‌भव कब और कहां हुआ?
2. मुहम्मद गोरी की हत्या किस स्थान पर और किस तिथि को हुई थी?
3. दीवान-ए-वजारत किसे कहते हैं और इसका अध्यक्ष क्या कहलाता है?
4. कुरान में कौन-से तीन सामान्य सिद्धांत संकेत रूप में दिए गए हैं?
5. विजयनगर साम्राज्य का औपचारिक नाम क्या था और इसके राजाओं ने कितने वर्षों तक राज किया?

दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न

1. इस्लाम धर्म से जुड़ी प्रमुख बातों का उल्लेख करते हुए उसके प्रवर्तक मुहम्मद साहब के कार्यों की व्याख्या कीजिए।
2. सल्तनतकालीन प्रशासन की मुख्य बातों की विवेचना कीजिए।
3. राजत्व सिद्धांत क्या है? प्रमुख सुल्तानों के राजत्व सिद्धांतों पर प्रकाश डालिए।
4. इस्लामी राजशासन के स्वरूप की समीक्षा कीजिए।
5. विजयनगर साम्राज्य की प्रकृति एवं विशेषताओं की विवेचना कीजिए।

3.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1. श्रेण्य युग (आर. सी. मजूमदार)- मोतीलाल बनारसीदास।
2. प्राचीन भारत का इतिहास (शैलेंद्र सेंगर)- अटलांटिक पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स।
3. प्राचीन भारत का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास (धनपति पांडेय, अशोक अनंत)- मोतीलाल बनारसीदास।
4. पूर्वमध्यकालीन भारत (प्रशांत गौरव)- राजकमल प्रकाशन।
5. अशोक (राधा कुमुद मुखर्जी)- मोतीलाल बनारसीदास।
6. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतहास (ओमप्रकाश प्रसाद, प्रशांत गौरव)- राजकमल प्रकाशन।
7. नंद मौर्य युगीन भारत (के ए नीलकंठ शास्त्री)- मोतीलाल बनारसीदास।

इकाई 4 मुगल राज्य एवं औपनिवेशिक राज्य

टिप्पणी

संरचना

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 मुगल राज्य के प्रशासनिक संस्थान
  4.2.1 मनसबदारी प्रणाली
  4.2.2 सामाजिक-आर्थिक आधार
4.3 औपनिवेशिक राज्य : राजनीतिक अर्थव्यवस्था, राज्य संयंत्र एवं वैधीकरण
4.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.5 सारांश
4.6 मुख्य शब्दावली
4.7 स्व-मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.8 सहायक पाठ्य सामग्री

4.0 परिचय

1526 में बाबर ने पानीपत का निर्णायक युद्ध जीत कर लोदी साम्राज्य को छिन्न-भिन्न तथा नष्ट कर दिया तथा मुगल साम्राज्य की स्थापना की। उसकी धमनियों में एशिया के दो प्रमुख महान विजेताओं– चंगेज खां तथा अमीर तैमूर के वंशजों का रक्त था। उसका पिता उमर शेख मिर्जा अमीर तैमूर की चौथी पीढ़ी तथा मां कुतुलुगनिगार खानम चंगेज खां की तेरहवीं पीढ़ी की थी। बाबर द्वारा स्थापित मुगल साम्राज्य को उसके बाद आने वाले शासकों ने बखूबी संभाला। मुगल राज्य के प्रशासनिक संस्थानों एवं प्रणालियों का असर भारत में लंबे अरसे तक कायम रहा।

औपनिवेशिक शासन तंत्र ने भारतीय अर्थव्यवस्था में अपने हस्तक्षेप की शुरुआत कृषि के क्षेत्र में आरंभ की। औपनिवेशिक शासन तंत्र अपने उपनिवेश का हर तरह से मात्र दोहन करना चाहता है। सन 1947 में जब भारत को स्वतंत्रता मिली तो उसकी मुश्किलें समाप्त नहीं हुईं। आजादी से पहले भारतवर्ष एक राष्ट्र के रूप में गठित नहीं था। 1947 से ही भारत को राष्ट्रीय एकता अथवा राष्ट्र के सुदृढ़ीकरण की समस्या का सामना करना पड़ा।

भारतवर्ष लंबे समय से राष्ट्र की रचना-प्रक्रिया से गुजर रहा है। भारत के राष्ट्र बनकर उभरने के बाद भी इसे प्रांतों के पुनर्गठन की समस्या से गुजरना पड़ा। एक ओर जहां भारत को समान भाषा तथा संस्कृति के आधार पर राज्यों की सीमाओं के पुनर्निर्धारण की समस्या से दो-चार होना पड़ा, वहीं दूसरी ओर भारत को अपनी राष्ट्रीय भाषा की आवश्यकता महसूस होने लगी।

प्रस्तुत इकाई में हम मुगल राज्य के प्रशासनिक संस्थानों की कार्य प्रणाली का विवेचन करेंगे तथा औपनिवेशिक राज्य का विस्तृत अध्ययन करेंगे।

टिप्पणी

4.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप-

- मुगल राज्य के प्रशासनिक संस्थानों के बारे में जान पाएंगे;
- मनसबदारी प्रणाली का मतलब समझ पाएंगे;
- मुगल राज्य के सामाजिक व आर्थिक आधारों से परिचित हो पाएंगे;
- औपनिवेशिक राज्य के विभिन्न पहलुओं की जानकारी ग्रहण कर पाएंगे।

4.2 मुगल राज्य के प्रशासनिक संस्थान

उमर शेख मिर्जा की आकस्मिक मृत्यु के उपरांत बाबर फरगना की गद्दी पर बैठा किंतु तैमूरियों व उजबेगों के विरोध के कारण उसका राज्य उसके हाथों से निकल गया और उसे अपना प्रारंभिक जीवन फरगना, समरकंद, बल्ख, बदख्शां तथा बुखारा व उनके समीपवर्ती प्रदेशों में व्यतीत करना पड़ा। अपनी बाल्यावस्था व शैशवावस्था में वह अनेक जातियों व उनकी संस्कृतियों के संपर्क में आया व उनसे प्रभावित हुआ। इसके अतिरिक्त वह अपने पूर्वजों की परंपराओं व राजनीतिक आदर्शों से भी अत्यधिक प्रभावित हुआ। इस काल में मंगोल तथा तैमूरी अपने शासक को साम्राज्य की धुरी ही नहीं वरन सर्वेसर्वा मानते थे। उनके विचार में वही उनका पूजनीय नेता था। जनश्रुति के अनुसार महान चंगेजखां का आदि पूर्वज सूर्य का पुत्र था अतएव वह वैभव के कारण साधारण व्यक्ति न होकर दैवीय-व्यक्ति बन गया। उसने अपने पौरुष से जिस साम्राज्य की स्थापना की थी, यद्यपि वह साम्राज्य धीरे-धीरे छिन्न-भिन्न हो गया किंतु उसका आतंक व उसके नाम की गरिमा सदियों तक बनी रही। उसके राजनीतिक आदर्श व राज्य सिद्धांत लोगों के हृदय में बसे रहे। उसका विशाल मंगोल साम्राज्य कबायली आधार पर संगठित था। सभी कबायली सरदारों के ऊपर एक शासक होता था जो कि महान खान कहलाता था। महान खान केवल एक राजनीतिक तथा सैनिक नेता होता था। वह पूर्णत: सार्वभौम था तथा उसमें संपूर्ण संप्रभुता निहित थी। इस्लामी कानून या शरियत का इस पर किसी प्रकार का अंकुश न था। उसके राजस्व सिद्धांत से बाबर ने प्रेरणा ग्रहण की। दूसरी ओर बाबर के राजनीतिक विचारों पर तैमूर, जो कि राज के दैवी सिद्धांत में विश्वास करता था का भी प्रभाव पड़ा। तैमूर के विचार में चूंकि इस संसार में एक ही ईश्वर है व उसका सामना कोई भी नहीं कर सकता है अतएव पृथ्वी पर उसका प्रतिनिधि (सम्राट) भी एक ही होना चाहिए। मुसलमान होने के नाते उसने तत्कालीन शासकों की भांति स्वयं को इस्लाम का प्रचारक व पुनरुद्धारक भी कहना प्रारंभ किया व खलीफाओं की भांति अपना नाम खुतबा में भी पढ़वाना प्रारंभ किया। यह सत्य है कि वह उलेमाओं, अमीरों व अधिकारियों का आदर करता था और उनसे समय-समय पर परामर्श लिया करता था। किंतु उसका निर्णय ही अंतिम निर्णय समझा जाता था। इसके अतिरिक्त यद्यपि मंगोल व तैमूरी शासकों की विचारधारा साम्राज्य विभाजन के पक्ष में थी कि महान खान या शासक की मृत्योपरांत साम्राज्य का विभाजन राजकुमारों में होना चाहिए किंतु वे संप्रभुता के विभाजन के बिलकुल विरुद्ध थे। साम्राज्य के विभाजन के उपरांत भी महान खान या तैमूरी शासक की प्रतिष्ठा किसी भी भांति कम न होती थी। इसके अतिरिक्त मंगोल व तैमूरी शासकों के

टिप्पणी

राजत्व सिद्धांत की यह विशेषता भी थी कि वह शासक की शक्ति के साथ ही साथ राजसत्ता की शक्ति में वृद्धि करने में विश्वास करता था। बाबर तैमूरियों के राजत्व सिद्धांतों व राजनीतिक आदर्शों से भी अत्यधिक प्रभावित हुआ।

1505 तक बाबर का राजनीतिक जीवन अस्थिर रहा। इसी वर्ष उसने काबुल विजित किया। दो वर्ष उपरांत अफगान कबायली जातियों पर अपना स्थायी प्रभुत्व बनाए रखने के उद्देश्य से उसने बादशाह की उपाधि ग्रहण की। इस उपाधि को ग्रहण कर वह समस्त तैमूरियों में अपने को सर्वश्रेष्ठ व सर्वप्रमुख घोषित करना चाहता था। यही नहीं वह अपने को फारस का शाह, टर्की के सुल्तान तथा उज्बेगों के शासक शैबानी खां से भी श्रेष्ठ घोषित करना चाहता था। यह सत्य है कि अन्य समकालीन शासकों से वह अपनी तुलना नहीं कर सकता था किंतु संभवत: अपनी हीनभावना को छुपाने के उद्देश्य से ही उसने ऐसा किया। परंतु बादशाह की पदवी ग्रहण कर उसने अपनी महत्वकांक्षा का परिचय अवश्य दिया। उसने खलीफा या अन्य किसी मुसलमान शासक की सत्ता को स्वीकार नहीं किया और न ही उस सत्ता को सर्वश्रेष्ठ माना। वह सम्राट के वंशानुगत अधिकार में विश्वास करता था। वदख्शां राज्य में अपने अधिकारों के संबंध में उसके विचार समय-समय पर बदलते रहते थे। हिंदुस्तान को विजित करके यहां के सिंहासन पर बैठने को वह अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझता था क्योंकि उसके पूर्वज अमीर तैमूर ने भारत पर आक्रमण कर उसे विजित करने का दुर्गम प्रयास किया था। बंगाल अभियान के समय उसे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि बंगाल में परंपरा के अनुसार कोई भी व्यक्ति शासक को मार कर गद्दी पर बैठ सकता था जो भी व्यक्ति गद्दी पर बैठने में सफल हो जाता था अमीर उसकी अधीनता स्वीकार कर लिया करते थे। 1529 में उसने हुमायूं को जो पत्र लिखा उससे भी उसके राजत्व सिद्धांत पर प्रकाश पड़ता है। उसने लिखा कि बादशाह के पद से कोई बड़ा पद नहीं है। उसने हुमायूं को सुझाव दिया कि वह अन्य अमीरों से परामर्श लेकर कार्य किया करे। उसने यह भी उसे सुझाव दिया कि वह अमीरों को आदेश दे कि वे दिन में दो बार राज्य कार्य हेतु उसके सम्मुख उपस्थित हुआ करें।

बाबर यद्यपि अपने वंश के गौरव व शासक की सर्वोच्चता से दृढ़ विश्वास रखता था किंतु फिर भी उसने अपने राजत्व सिद्धांत को मानवता के रंग में रंग दिया। वह अपने अमीरों से मिलता-जुलाता था। उनके निमंत्रण स्वीकार करता था, उनके साथ मदिरापान करता था, उनके साथ मदिरा गोष्ठियों का आयोजन किया करता था, उनके साथ-सैर-सपाटे पर जाता था और उनके सुख-दुख में भाग लेता था क्योंकि वह जानता था कि सामंती युग में सम्राट की प्रतिष्ठा सामंतों के सहयोग पर निर्भर करती है। उसका लोग जीवन व्यक्तिगत जीवन से भिन्न हुआ करता था वह दरबार में उनके साथ भिन्न प्रकार से व्यवहार करता था व उन्हें अनुशासन में रखता था।

साम्राज्य विभाजन के संबंध में उसकी विरोधी विचारधारा थी। फरगना व समरकंद काल में उसने साम्राज्य विभाजन का निरंतर विरोध किया क्योंकि उसकी दृष्टि के सम्मुख उसके पूर्वज अमीर तैमूर के विशाल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने का दृश्य था। उसके विचार में साम्राज्य विभाजन साम्राज्य के हित में नहीं होता। यही कारण था कि उसने काबलु में एक अवसर पर कहा था वह शासन की साझेदारी के पक्ष में नहीं है। परंतु हिंदुस्तान को विजय करने के उपरांत परिस्थितियों ने उसके विचार बदल दिए। इस विशाल साम्राज्य को गृह युद्ध से बचाने हेतु उसने अपने साम्राज्य को अपने पुत्रों में

टिप्पणी

विभाजित करने का विचार किया। अपने पुत्र कामरान के उग्र स्वभाव को देखकर उसने हुमायूं को निर्देश दिए कि वह साम्राज्य का विभाजन अपने व कामरान के मध्य 6 तथा 5 के अनुपात में करे। अन्य पुत्रों अस्करी व हिंदाल को साम्राज्य का भाग किस अनुपात में मिलना चाहिए इस संबंध में उसने अपनी आत्मकथा में कुछ भी नहीं लिखा।

संक्षेप में काबुल की विजयोपरांत बाबर के राजत्वसंबंधी विचार मुख्य स्वरुप ग्रहण करने लगे। समकालीन वातावरण व उसके व्यक्तिगत स्वार्थ भी उसके राजत्व सिद्धांत को प्रभावित करने लगे। उसका राजनीतिक स्वार्थ भी सदैव उसका मार्ग दर्शन करता रहा। संक्षेप में वह शासक की सर्वोच्चता, वंशानुगत उत्तराधिकार एवं पुत्रों के मध्य साम्राज्य विभाजन तथा अपने अमीरों व शुभचिंतकों से परामर्श लेने में विश्वास करता था। यही उसके राजत्व सिद्धांत की प्रमुख विशेषताएं थीं।

अपने पिता बाबर की भांति हुमायूं भी राजत्व के दैवी सिद्धांत में विश्वास करता था वह सम्राट को पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि मानता था। उसका विचार था कि जिस प्रकार सम्राट प्रजा की रक्षा करता है उसी प्रकार से ईश्वर भी करता है। इसलिए शासक को ईश्वर के समान कर्म करना चाहिए। उसका विश्वास था कि सम्राट को ईश्वर से ही प्रेरणा प्राप्त होती है। सम्राट पृथ्वी पर ईश्वर की परछाई है। उसके कर्म ईश्वर की इच्छा से ही निर्धारित होते हैं। मंगोंलो व ईरानियों की भांति हुमायूं ईश्वरीय प्रकाश में भी विश्वास करता था। बंगाल में निवास के समय वह अपने राजमुकुट पर नकाब डाले रहता था जब वह नकाब हटाता था तो लोग यह कह कर कि प्रकाश प्रकट हो गया उसका अभिवादन किया करते थे। हुमायूं का विश्वास था कि जिस प्रकार सूर्य विश्व का केंद्र है उसी भांति इस पृथ्वी पर सम्राट केंद्र बिंदू है। ख्वांदमीर के अनुसार वह ईश्वर का प्रतिरूप एवं सर्वोच्च धार्मिक एवं मौलिक शक्ति का साकार रूप था। मंगोल एवं तैमूरी शासकों की भांति परिस्थितियों ने यद्यपि उसे साम्राज्य विभाजन करने को विवश कर दिया, किंतु एक बार भारत से निष्कासित होने व भारत में वापस आने के उपरांत उसने दोबारा कभी भी अपना साम्राज्य अपने भाइयों में विभाजित नहीं किया। मूल रूप में वह साम्राज्य विभाजन के पक्ष में कभी भी नहीं था। सूर्य के प्रति मुगल सम्राटों को विशेष आकर्षण था। ईरान में पारसी सूर्य व अग्नि की पूजा किया करते थे। चंगेज खां के वंशज अपने को सूर्य का वंशज कहते थे। हुमायूं सम्राट को प्रकाश से संबंधित मानता था। इस प्रकार उसे सूर्य के प्रति आस्था थी।

1540 से 1545 तक शेरशाह ने द्वितीय अफगान साम्राज्य के शासक के रूप में कार्य किया। वह एक ओर तो तुर्क-मंगोल राजत्व तथा दूसरी ओर अफगानों की कबायली परंपराओं में विश्वास करता था। उसके शासनकाल में समस्त राजनीतिक शक्ति उसी के हाथों में केंद्रित थी। उसके सभी मंत्री उसी के आज्ञानुसार कार्य किया करते थे। उन्हें स्वयं अपने मन से कार्य करने का अधिकार कदापि नहीं था। शेरशाह ही अपने साम्राज्य में सर्वेसर्वा था। उसके उत्तराधिकारी इस्लाम शाह ने तुर्की राजत्व सिद्धांत को अपनाया। उसने अपने अमीरों को हाथी रखने तथा लाल खेमे का प्रयोग करने की अनुमति प्रदान न की। हर शुक्रवार को सभी अधिकारी एक चंदवे के नीचे उपस्थित होकर मुख्यालय में उसकी जूतियों व तरकश का अभिवादन किया करते थे। उसने अफगानों के कवायली सिद्धांत– 'अफगान शासक अफगान अमीरों में से एक व अन्य सभी अमीरों के समान है' की तनिक भी चिंता न की।

टिप्पणी

वास्तव में अकबर महान के अंतर्गत राजत्व सिद्धांत का पूर्ण रूप से विकास हुआ। अकबर ने अपने पूर्वजों से कुछ विचार व परंपराएं विरासत में प्राप्त की थीं। उदाहरणार्थ (1) दैवी उत्पत्ति (2) ईश्वर की परछाई (3) खिलाफत या धार्मिक सार्वभौमिकता (4) राजनीतिक सार्वभौमिकता। अकबर के विचार में संप्रभुता मुसलमान समाज व अमीरों द्वारा न तो किसी को भेंट में दी जा सकती है और न ही रूढ़िवादी इस्लामी सिद्धांत के अनुसार ही वह हो सकती है। उसकी संप्रभुता वंशानुगत थी। यह उसका जन्मसिद्ध अधिकार था तथा योग्यता के कारण उसे प्राप्त हुई। उसके शासन काल के प्रख्यात इतिहासकार अबुल फजल ने उसके राजत्व सिद्धांत पर यथेष्ट रूप से प्रकाश डाला है। अबुल फजल के अनुसार बादशाह दो शब्दों 'पाद' (स्थायी) शाह (स्वामी) से बना है। अतः पादशाही स्थायी स्वामी का प्रतीक है। इस महान पद की महत्ता के संबंध में उसने कहा है कि ईश्वर की दृष्टि में इस पद से महान अन्य कोई पद नहीं। वास्तव में अकबर को ऐसे राजत्व सिद्धांत की आवश्यकता थी जिसका आधार केवल इस्लाम धर्म या राजनीति न होकर दार्शनिक हो। उसका इमाम-ए-आदिल होने का दावा न तो रूढ़िवादी सुन्नियों और न ही शियाओं को संतुष्ट कर सकता था। उसे ऐसे राजत्व सिद्धांत की परम आवश्यकता थी जो कि हिंदुओं व अन्य जातियों का भी शासक था। उसके राजत्व सिद्धांत के क्या पहलू होने चाहिए, उसकी व्याख्या अबुजफजल ने अकबरनामा व आईने-ए-अकबरी में जगह-जगह की है।

हिंदू व मुसलमान राजनीतिक विचारकों के अनुसार राज्य का सिद्धांत ही निरंकुशता का सिद्धांत होता है। समाज में अत्याचार, अशांति, कलह तथा द्वेष की समस्या को दूर करने के लिए राज्य की आवश्यकता होती है। बिना राज्य या शक्तिशाली शासक के शांति व न्याय की स्थापना नहीं हो सकती है। यह संसार स्वार्थी, दंभी, लोलुप तथा विलासप्रिय लोगों से भरा हुआ है। मानव का स्वभाव स्वार्थी व दंभी होता है, अतएव उसे नियंत्रित करने के लिए शक्तिशाली शासक एवं राज्य की आवश्यकता होती है। इसीलिए ईश्वर ने न्यायप्रिय शासक का प्रावधान किया। जब न्यायप्रिय शासक शांति स्थापित करता है तो मानव अपनी पाशविक शक्ति को छोड़कर शांतिप्रिय जीवन व्यतीत करने लगता है। अबुल फजल ने इसीलिए कहा है कि यदि बादशाही न हो तो अराजकता व अशांति का झंझावात कभी समाप्त नहीं हो सकता और न ही स्वार्थी महात्वाकांक्षा भी लुप्त हो सकती है। यह संसार इंद्रिय लोलुपता व अराजकता के भार से दबा हुआ है। यदि सम्राट न हो तो वह गड्ढे में डूब कर नष्ट हो जाए, विश्व के इस विशाल बाजार की संपन्नता नष्ट हो जाए तथा संपूर्ण पृथ्वी बंजर हो जाए। इसका निदान केवल बादशाही या सम्राट का पद ही है। क्योंकि वही स्थायित्व व समृद्धि का स्रोत है। शासक के न्याय के प्रकाश में अनेक व्यक्ति प्रसन्नतापूर्वक आज्ञाकारिता का मार्ग अपना लेते हैं। अन्य दंड के भय से या आवश्यकतावश शांतिपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगते हैं। प्रजा की रक्षा करने का अर्थ संप्रभुता की उपासना करना है। संप्रभुता के कारण सुरक्षा, स्वास्थ्य, न्याय, नम्र व्यवहार, निद्रा, सत्यता, निष्ठा में वृद्धि, संभव होती है। इस प्रकार से अबुल फजल ने आदर्श सम्राट की अथवा निरंकुश शासक की तत्कालीन परिस्थितियों में आवश्यकता पर विशेष बल दिया है।

अबुल फजल के अनुसार सम्राट के राजत्व सिद्धांत में प्रजा के प्रति पिता तुल्य व्यवहार होना चाहिए। शासक में लोक कल्याण की भावना होनी चाहिए तथा उसे राज्य की समस्याओं की ओर ध्यान केंद्रित करके उनका निवारण कर राज्य को सशक्त व

टिप्पणी

स्वस्थ बनाना चाहिए। उसे अत्याचार दूर करना चाहिए। उसका परम-कर्तव्य है कि वह जनसाधारण की योग्यता का पूर्ण उपयोग करे। उसका कर्म तो केवल विजय करना या जनसाधारण की रक्षा करना व उसकी निगरानी करना होता है। उसे कभी भी सोना, चांदी, या संपत्ति एकत्र कर सिंहासन को सुसज्जित नहीं करना चाहिए। अबुल फजल के अनुसार एक न्यायप्रिय शासक का प्रमुख कर्तव्य जनसाधारण का विकास करना तथा असामाजिक तत्वों का दमन करना होता है। संक्षेप में चूंकि संप्रभुता के सात गुण सम्राट में निहित होते हैं अतएव उसका कर्तव्य शांति एवं सुरक्षा की स्थापना करना, लोक कल्याण करना, जनसाधारण का ख्याल करना, उसका विकास कारना, सामाजिक संस्थाओं को बनाए रखना, शिष्टाचार, आचार-विचार व धार्मिक विषयों को बनाए रखना होता है।

तैमूरी शासकों की भांति अकबर राजा के दैवी-उत्पत्ति के सिद्धांत में विश्वास रखता था। अबुल फजल ने इसकी यत्र-तत्र चर्चा की है। अकबर अपने को ईश्वर की प्रतिच्छाया कहा करता था। अबुल फजल के शब्दों में राजसत्ता ईश्वर से स्फुटित होने वाला प्रकाश है तथा विश्व प्रकाशक सूर्य की एक किरण है। वह पूर्णता की पुस्तक का तर्क है तथा सभी गुणों का सार है। आधुनिक भाषा में इसे फर्रे-इजोदी (दैवी ज्योति) तथा प्राचीन भाषा में किया खुरा (पवित्र प्रकाश चक्र) कहा गया है। बिना किसी मध्यस्थता के ईश्वर इसे सम्राटों को प्रेषित करता है और इस ज्योति की उपस्थिति में लोग अधीनतापूर्वक श्रद्धा से अपना मस्तक भूमि की ओर झुका लेते हैं। सम्राट परमात्मा की शक्ति का प्रतीक होता है। वह परमात्मा रूपी सूर्य का प्रकाश फैलने वाली किरण होता है। अबुल फजल के अनुसार ईश्वर की दृष्टि में राजसत्ता से बढ़कर कोई पद नहीं होता है। बंगाल में दाऊद अफगान के विद्रोह का दमन करते समय अकबर ने कहा था कि ईश्वर की परिच्छाया होने के कारण हम केवल कुछ ही प्राप्त करते हैं और अधिक देते हैं। हमारे क्षमा करने में बदले की भावना नहीं रहती।

अबुल फजल के अनुसार सम्राट का पद विशेष वंश से संबंधित होने या धन एकत्र करने से ही नहीं प्राप्त होता है। राजत्व ईश्वर द्वारा प्रदत्त उपहार है। ईश्वर इस पद को तब तक किसी को प्रदान नहीं करता है जब तक कि इस व्यक्ति में महान गुण अवतरित नहीं होते। अबुल फजल के अनुसार एक आदर्श शासक में अनेक गुण होने चाहिए। इन गुणों का उल्लेख उसने बारंबार अकबरनामा व आईन-ए-अकबरी में किया है। चूंकि संप्रभुता दैवीय होती है और उसे वंशानुगत या संपत्ति के आधार पर प्राप्त नहीं किया जा सकता है अतः शासक में अनेक गुणों व सहनशक्ति, योग्यताओं का होना अनिवार्य है जैसे उदारता, सूझ-बूझ, न्यायप्रियता, कार्य करने की असीम क्षमता, संतुलित व्यवहार वैचारिक शक्ति, क्षमा करने की शक्ति, सद्बुद्धि, सुनियति इत्यादि। चूंकि राजसत्ता ईश्वर से निकलती हुई किरण है अतः उसमें अनेक ईशवरीय गुण प्रस्फुटित होते रहते हैं, जैसे कि प्रजा के प्रति पिता तुल्य स्नेह, विशाल हृदय, दिन-प्रतिदिन ईश्वर के प्रति बढ़ती हुई आस्था, उपासना व भक्ति। इन गुणों के अतिरिक्त उसमें सहिष्णुता, होनी चाहिए, उसे धार्मिक मतभेदों से परे होना चाहिए, जनसाधारण के प्रति प्रेम होना चाहिए, अत्याचार, दुराचार को समाप्त करने के लिए उसमें अन्य व्यक्ति से परामर्श लेने की शक्ति होनी चाहिए, उसे वासना रहित होना चाहिए, अन्य लोगों के परामर्श पर निर्भर न रहकर उसे आत्मबोध पर निर्भर रहना चाहिए, तथा किसी कार्य को प्रारंभ करने से पूर्व उसे ज्ञान व तर्क का सहारा लेना

टिप्पणी

चाहिए। अबुल फजल सम्राट को आदर्श समझता था अत: उसका पूर्ण विश्वास था कि उसमें ईश्वरीय शक्ति व गुण विद्यमान हैं जो कि एक सम्राट में होना चाहिए।

अकबर का राजत्व सिद्धांत धर्म पर आधारित न था। वह समय के साथ-साथ चलने के लिए तत्पर रहता था। उसके विचार में सम्राट को धर्म से ऊपर रहना चाहिए तथा धार्मिक बंधन उसके राजनीतिक व्यवहार में बाधक सिद्ध नहीं होना चाहिए। उसके समय में राज्य न तो धर्मतंत्र पर आधारित था और न ही इस्लामी कानून या हदीस पर। वह केवल सुलह-ए-कुल पर आधारित था। संक्षेप में अबुल फजल के विचार में उसका आदर्श सम्राट ईश्वर की परिच्छाया था, जो कि असीमित अधिकारों का पालन करता था, जिसके अधिकारों का कोई भागीदार न था, उसमें अधिकार अविभाज्य थे, जो कि अपने शासनतंत्र द्वारा केवल एक ही विचार व उद्देश्य से अपने साम्राज्य में शांति स्थापित करता था। वह शासक बुद्धिमान, उदार, न्यायप्रिय, ईश्वर से भय रखने वाला, प्रजा में स्नेह रखने वाला, सभी धर्मों व मतों को रक्षा करने वाला, तथा दुर्बल का हितैषी व रक्षक था। उसके विचार में ऐसा शासक केवल अकबर महान था।

सूर्य व अग्नि के प्रति आस्था रखना ईरानियों व मंगोलों में पुरानी परंपरा थी। अकबर के पूर्वज भी इस परंपरा से प्रभावित थे। भारत में भी अधिकांश हिंदू सूर्य की उपासना करते थे। अकबर का विश्वास था कि सम्राट का भाग्य सूर्य के प्रकाश से जुड़ा हुआ है। अत: सूर्य की उपासना ईशवर की उपासना है। अकबर अग्नि सूर्य-दोनों के प्रति अपनी आस्था प्रकट करता था। बदायूंनी के अनुसार मुल्लाशेरी ने अकबर को एक कविता समर्पित की जिसमें सूर्य के सहस्त्र नाम थे। उसके दरबार में निरंतर अग्नि जलती रहती थी क्योंकि अग्नि सूर्य के प्रकाश का प्रतीक थी। अकबर के पुत्र जहांगीर के राजत्व सिद्धांत में भी यही तत्व निहित थे। जहांगीर भी राजत्व को ईश्वर की देन समझता था। अपने पुत्र खुसरों के विद्रोह की आलोचना करते समय उसने अपनी आत्मकथा 'तुजुक-ए-जहांगीर' में लिखा था कि राजत्व एवं विश्व-शासन कुछ विद्रोहियों द्वारा किसी को प्रदान नहीं किया जा सकता। ईश्वर इस पद को उसी को देता है जिसे वह योग्य समझता है। जहांगीर को संबोधित करते हुए परवेज ने उसे प्रत्यक्ष ईश्वर, अपना स्वामी व 'किवलाह' कहा था। जहांगीर ने स्वयं लिखा है कि महान ईश्वर ही उसके सभी सेवकों का स्वामी है। इसी प्रकार से सम्राट भी विशेष रूप से इस पृथ्वी पर स्वामी है जिसके कारण संसार में समृद्धि व शांति बनी हुई है। जहांगीर की अग्नि व सूर्य के प्रति आस्था थी। सिंहासनरोहण के उपरांत उसने नूरुद्दीन जहांगीर नाम धारण किया। नूर का अर्थ प्रकाश या ज्योति है।

अकबर व जहांगीर के समय जिस राजत्व-सिद्धांत का क्रमश: विकास हुआ वही राजत्व सिद्धांत उनके उत्तराधिकरियों ने उन्हीं तत्वों के साथ अपनाया। शाहजहां ने बीजापुर के शासक को जो फरमान भेजा उसमें उसने अपने को ईश्वर की प्रतिच्छाया उल्लिखित किया। ईरान में शाहजहां के राजदूत ने शाह के सम्मुख कहा कि उसका सम्राट शाहजहां पृथ्वी पर ईश्वर की भांति है। औरगंजेब जब भी अपने पिता शाहजहां को पत्र भेजा करता था उनमें वह जिल्ले इलाही (ईश्वर की प्रतिच्छाया) लिखकर प्रारंभ करता था। इस प्रकार से शाहजहां भी सम्राट के दैवी अधिकारों में विश्वास करता था।

मुगल सम्राटों के राजस्व सिद्धांत की अन्य विशेषता यह थी कि वे विश्व सत्ता में भी विश्वास करते थे। विश्व सत्ता में विश्वास अथवा उसकी कल्पना करना उनके लिए

टिप्पणी

केवल कल्पनामात्र बनी रही। बाबर अपने पैतृक राज्य को खोकर वापस न पा सका। हुमायूं ने भारत में स्थापित मुगल साम्राज्य खो दिया। अपनी मृत्यु से पूर्व वह केवल उसका कुछ भाग ही वापस लेने में समर्थ हुआ। महत्वाकांक्षी अकबर ने विश्व सत्ता की कल्पना की। वह उत्तरी भारत को विजित कर दक्षिण में खानदेश व अहमदनगर का दुर्ग ही विजित कर सका। मध्य एशिया, टर्की व अरब को विजित करना तत्कालीन परिस्थितियों में संभव न था। अत: उसकी यह महत्वाकांक्षा कभी पूर्ण न हुई। समरकंद व फरगना के पैतृक राज्य को वह वापस लेने की सोचता था किंतु यह उसकी कोरी कल्पना ही थी। यही दशा जहांगीर की भी थी। परंतु शाहजहां इन सभी से भिन्न था। उसने दक्षिण में निजामशाही राज्य विजित किया, वीजापुर व गोलकुंडा के शासकों को कर देने पर बाध्य किया तथा पश्चिम में बदख्शां व बल्ख तक अपनी सेनाएं भेजकर विजय प्राप्त की। परंतु वह भी विश्व विजय करने का स्वप्न पूरा न कर सका। औरंगजेब ने दक्षिण में बीजापुर व गोलकुंडा के राज्य विजित कर मुगल साम्राज्य का दक्षिण में विस्तार किया, किंतु उसके साम्राज्य की सीमाएं काबुल से लेकर आसाम तक काश्मीर से लेकर दक्षिण में कृष्णा नदी तक ही रहीं।

मुगल राजत्व सिद्धांत की दूसरी विशेषता यह थी कि सभी मुगल शासक, वंशानुगत सिद्धांत में विश्वास करते थे। इस काल में संप्रभुता केवल मुगल परिवार में ही निहित रही। 1526 से 1857 तक केवल दो बार अल्पसमय के लिए ही इस वंशानुगत सिद्धांत को ठेस पहुंची। प्रथम, जब शेरशाह ने हुमायूं को कन्नौज के यूद्ध में 1540 में पराजित कर उसे इस देश से बाहर निकाल कर द्वितीय अफगान साम्राज्य की स्थापना की व 1556 तक उसके वंश का शासन उत्तरी भारत पर रहा। दूसरे, जब हेमू ने दिल्ली को अधिकृत कर विक्रमादित्य की उपाधि ग्रहण कर शासन करना प्रारंभ किया। इन दो अवसरों को छोड़कर राजसत्ता कभी भी मुगल परिवार के बाहर नहीं गई।

मुगल राजत्व सिद्धांत की तीसरी विशेषता यह थी कि धर्म परिवर्तित मां का पुत्र या अल्पायु होने पर भी कोई भी राजकुमार गद्दी पर बैठ सकता था। बाबर 12 वर्ष तथा अकबर 13 वर्ष की की आयु में गद्दी पर बैठा था। जहांगीर की मां राजा भारमल की पुत्री थी। शाहजहां की मां जगत गोसाई मोटा राजा की पुत्री थी। हिंदू मां से उत्पन्न होने पर भी दोनों ही राजकुमार अपने पिता की मृत्युपरांत गद्दी पर बैठे।

इस काल में समय-समय पर मुगल परिवार की महिलाएं यद्यपि तत्कालीन राजनीति को प्रभावित करती रही, परंतु उन्हें राजसत्ता ग्रहण करने का कोई अधिकार न था। बदख्शां की शाह बेगम ने अपने पत्र में बाबर को स्पष्ट रूप से लिखा कि स्त्री होने के कारण यद्यपि वह संप्रभुता प्राप्त नहीं कर सकती किंतु उसका पौत्र मिर्जा खां इस पद को अवश्य प्राप्त कर सकता है। जहांगीर के समय नूरजहां ने झरोखे में बैठना, अपने नाम के सिक्के निकलवाना या राजकार्य करना अवश्य प्रारंभ किया किंतु उसे राजत्व कभी प्राप्त नहीं हुआ।

मुगल शासकों के राजत्व सिद्धांत की चौथी विशेषता यह थी कि उन्होंने कभी भी खलीफा की संप्रभुता स्वीकार न की। 1517 में जब टर्की के सुल्तान सलीम ने मिस्र को विजित कर लिया तो वह अब्बासी वंश के अंतिम खलीफा को टर्की ले गया, जहां वह शरणार्थी के रूप में जीवन व्यतीत करता रहा। खिलाफत अब तक नष्ट हो चुकी थी अत: उसका कोई अस्तित्व ही नहीं था। बाबर व हुमायूं ने खलीफा की प्रभुसत्ता कभी भी

टिप्पणी

स्वीकार नहीं की। अकबर ने स्वयं खलीफा उज्जमा अमीरउल मोमनीन की पदवी ग्रहण की व अपने नाम का खुतबा पढ़वा कर अपने को खलीफा के क्षेत्र से बाहर घोषित कर दिया। यह सत्य है कि मुगल शासकों ने कभी भी खलीफा का अधीनता स्वीकार न की किंतु अपने सिक्कों पर वे प्रथम चार खलीफाओं के नाम परंपरानुसार अवश्य अंकित करवाते रहे। औरंगजेब ने यह परंपरा भी समाप्त कर दी। उसने अपने सिक्कों पर चारों खलीफाओं का नाम अंकित करवाना बंद कर दिया। परंतु राजत्व में आध्यात्मिक संप्रभुता का विकास अकबर के समय में ही प्रारंभ हुआ। अकबर को राजपूत परिवारों से वैवाहिक संबंधों, दरबार में हिंदुओं के बढ़ते हुए प्रभाव दरबार में दिन प्रतिदिन ईरानी शिया प्रवासियों की संख्या में वृद्धि के कारण, रूढ़िवादी धार्मिक विचार त्यागना पड़ गया। मुसलमान अभिजात वर्ग को विशेष स्थान देकर वह अपने राजनीतिक उद्देश्य कदापि प्राप्त नहीं कर सकता था। केवल उस युग का खलीफा कहने या सुल्तान उल इसलाम या अमीर उल मोमनीन की पदवी ग्रहण करने पर वह अपना लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सकता था। अपने राजनीतिक आदर्श व मंतव्य प्राप्त करने के लिए उसके लिए अनिवार्य था कि वह न्यायप्रिय शासक हो। सुल्तान-ए-कामिल बने और अपनी प्रजा पर बिना किसी भेदभाव के शासन करे। यह तभी संभव था जब कि वह खलीफा से अपने को मुक्त रखे, खलीफा के अधिकार ग्रहण करे और बिना किसी भेदभाव के स्वतंत्रतापूर्वक शासन करे, किंतु इस मार्ग को अपनाने में कई कठिनाइयां थीं। सर्वप्रथम हिंदुओं व शियाओं के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण सुन्नी भयभीत हो रहे थे कि उनका धर्म खतरे में पड़ रहा है। दूसरे, उलेमाओं को भय था कि यदि अकबर को कुरान या इस्लामी कानून की निर्णायक आख्या करने का अधिकार मिल गया तो उनकी स्थिति गिर जाएगी व उनका प्रभाव कम हो जाएगा। तीसरे, अनेक मुसलमान भी यह नहीं चाहते थे कि अकबर खलीफा का पद या उसके अधिकार ग्रहण करे। किसी भी प्रकार की चिंता न करते हुए अकबर ने 1579 में महजर द्वारा सुल्तान-ए-आदिल या इमाम-ए-आदिल तथा अमीर-उल मोमनीन की पदवी ग्रहण की। इस प्रकार से वह अपनी प्रजा की सभी जातियों, मतावलंबियों, धर्मों तथा समुदायों का शासक तथा अध्यात्मिक नेता बन गया। उसने रूढ़िवादी इस्लामी सिद्धांत के स्थान पर सुलह-ए-कुल की नीति का प्रतिपादन किया।

हुमायूं के पश्चात सभी मुगल शासक जन्म से भारतीय मुगल परिवार में होने के कारण भारतीय वातावरण में ही उनका पालन-पोषण हुआ। वे भारतीय मुगल हो गए उन्होंने सदैव यहां की परंपराओं का ध्यान रखा। वे इस्लाम को रूढ़िवादी परंपराओं व शरियत के नियमों से भलीभांति परिचित थे। वे यह जानते थे कि यहां के बहुधर्मी, बहुजातीय समाज पर शरियत के नियम थोपे नहीं जा सकते। अतएव उनके शासनतंत्र में उलेमाओं द्वारा हस्तक्षेप करने की गुंजाइश ही नहीं रही। चूंकि मुगलसम्राट ही साम्राज्य का केंद्रबिंदु था तथा वास्तविक संप्रभुता उसी में निहित थी अतएव उसकी इच्छा ही कानून थी। साम्राज्य की सभी संस्थाएं व उमरावर्ग इसकी राजशक्ति को दृढ़ करने के लिए कार्य करती थीं। सर्वोपरि होने पर भी वह अपनी नीतियों व आज्ञाओं को कार्यान्वित करने के लिए उमरावर्ग पर ही निर्भर करता था। उमरावर्ग ही मुगल साम्राज्य का शासक वर्ग था। इन्हीं की सहायता व परामर्श से शासन चलता था। उमरावर्ग के बहुधर्मी व बहुजातीय होने के कारण, मुगल सम्राटों का धार्मिक दृष्टिकोण निरंतर व्यापक बना रहा। सभी अमीरों की अधिकांशतः उसके प्रति निष्ठा बनी रही। अमीरों ने कभी भी स्वयं गद्दी हड़पने का प्रयास नहीं किया। जिसके कारण संप्रभुता को निरंतर शक्ति मिलती रही और वह स्थायी हो गई।

टिप्पणी

संक्षेप में मुगल सम्राटों के राजत्व सिद्धांत उनके राजनीतिक आदर्शों के अनुरूप थे। वे किसी भी कानून या नियम अथवा बाह्य शक्ति के अंतर्गत न थे। वे पूर्णतया स्वतंत्र व स्वेच्छाचारी थे। किंतु ऐसा होते हुए भी उनकी स्वेच्छाचारिता सीमित थी। वे राजनीतिक व सामाजिक नियमों तथा तत्कालीन परंपराओं से पूर्णत: बंधे हुए थे जिसके कारण चाहते हुए भी वे पथभ्रष्ट नहीं हो सकते थे या मनमानी ढंग से शासन तंत्र नहीं चला सकते थे।

केंद्रीय प्रशासन

सम्राट चाहे जिताना निरंकुश, कुशल योग्य हो पर बिना मंत्रियों व अधिकारियों के सहयोग के विशाल साम्राज्य पर शासन नहीं कर सकता। भारतीय तथा मुसलमान राजनीतिशास्त्रियों ने सम्राट के लिए मंत्रियों व परामर्शदाताओं की आवश्यकता पर विशेष बल दिया है कि उनका कर्तव्य प्रशासन में सम्राट की सहायता करना, प्रशासन के संबंध में उसे परामर्श देना व उसके कार्यों को निर्देशित व नियंत्रित करना है। मंत्रियों की संख्या सदैव अनिश्चित रहती थी। उन्हीं की सहायता से सम्राट शासन किया करते थे। प्रमुख मंत्री को वजीर या वकील कहते थे। केंद्रीय प्रशासन का कार्य चार विभागों में विभाजित था। प्रत्येक विभाग का अध्यक्ष एवं मंत्री हुआ करता था। केंद्रीय प्रशासन के पांच प्रमुख विभाग थे– (1) दीवान-ए-वजारत (2) सैनिक विभाग (3) धार्मिक एवं अनुदान विभाग (4) संपत्ति विभाग (5) न्याय विभाग। प्रथम विभाग दीवान या वजीर, या वकील द्वितीय मीरबख्शी, तृतीय सद्र-उस-सुदूर, चतुर्थ मीर-सामान तथा पंचम विभाग काजी-उल-कुजात के अंतर्गत हुआ करते थे।

अरब में वजीर का पद नहीं था। वजीर शुद्ध पहलवी भाषा के विशियर (न्यायाधीश) वजर (बोझा ढोने वाला) या विज्र (परमर्शदाता) शब्द से बना है। इसका उद्‌गम ईरान में हुआ। अब्बासी खलीफाओं ने गैर-अरबी संस्थाओं में ईरानी संस्था वजारत को अपनाया। उन्होंने जब प्रशासन में कई नवीन पदों की संरचना की तो उनके ऊपर वजीर नियुक्त किया। अंततोगत्वा यह पद अत्यंत महत्वपूर्ण हो गया। वजीर खलीफा का नायब होता था। उसके अनेक अधिकार व उसका विशाल उत्तरदायित्व था। कुछ विधिवेत्ताओं ने उसे राज्य में दूसरा शासक माना है तथा शासक की योग्यताएं निर्धारित करते समय उसकी योग्यताएं भी निर्धारित की हैं। उसे नीतियों का कार्यान्वयन, सेना तथा वित्त का नियंत्रण करना पड़ता था। सम्राट, सर्वसाधारण तथा अमीरों के संपर्क में रहने के कारण उसकी स्थिति अत्यंत नाजुक थी। मुसलमान विधिवेत्ताओं ने विशेषकर अलमवार्दी ने दो प्रकार के वजीरों का उल्लेख किया है। प्रथम वजीर-ए-तफवीद, अथवा असीमित अधिकारों वाला वजीर। दूसरा, वजीर-ए-तनफीज अथवा सीमित अधिकार वाला वजीर। वजीर-ए-तफवीद स्वयं असीमित अधिकारों का उपयोग करता था। वह केवल खलीफा द्वारा नियुक्त किए गए हुए उनकी नियुक्तियां कर सकता था और बाद में उसकी सूचना खलीफा को दे सकता था। वह खलीफा या शासक का गृह प्रबंधक तथा अंतरंग मित्र समझा जाता था। वह सर्वोच्च न्यायाधीश के रूप में मुकदमों का फैसला भी कर सकता था किंतु उसे अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करने या अधिकारयों का स्थानांतरण करने का अधिकार न था। वजीर-ए-तनफीज के अधिकार सीमित होते थे। वह शासक की आज्ञाओं का ही पालन किया करता था उसे अधिकारियों को स्वेच्छा से नियुक्त करने या राजाज्ञा देने का कोई अधिकार न था। अलमवार्दी के अनुसार गैर मुसलमान भी वजीर-ए-तनफीज नियुक्त किए जा सकते थे।

टिप्पणी

विधिवेत्ताओं ने वजीर की योग्यताओं का भी निर्धारण किया है। उनके अनुसार वजीर को दार्शनिक, बुद्धिमान, चतुर, सीधा, सादा, योद्धा कूटनीतिज्ञ, मृदुभाषी, वीर एवं साहसी होना चाहिए। उसे विद्वान भी होना चाहिए तथा उसका व्यक्तित्व आकर्षक होना चाहिए।

मुगल साम्राज्य की स्थापना से पूर्व सल्तनतकाल में वजीर के पद का विकास क्रमशः हो चुका था। शक्तिशाली सुल्तानों के अंतर्गत वे प्रभावहीन रहे परंतु शक्तिहीन शासकों के अंतर्गत उन्होंने सुल्तान के अधिकारों का उपयोग करते हुए राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। बाबर से लेकर औरंगजेब तक इस पद के उत्तदायित्व एवं महत्व में निरंतर परिवर्तन होते रहे। बाबर का वजीर निजामुद्दीन खलीफा योग्य प्रशासक, स्वामिभक्त व कुशल योद्धा था। बाबर के अभियानों में उसने सक्रियता से भाग लिया। बाबर के जीवन के अंतिम दिनों में उसने हुमायूं के स्थान पर मेहदीख्वाजा को बाबर का उत्तराधिकारी बनाना चाहा, किंतु उसकी योजना असफल रही। हुमायूं के शासन काल के प्रारंभ में अमीर उवैस तथा हिंदू वेग उसके वजीर थे। फारस से लौटने के उपरांत उसने कराचखां को वजीर नियुक्त किया। उसने अपने अधिकारों का प्रयोग करके अपनी शक्ति बढ़ा ली। उसके प्रभाव को कम करने के लिए हुमायूं ने 1547 में ख्वाजा गाजी को मुशरिफ-ए-दीवान नियुक्त किया और उसे स्वतंत्र रूप से कार्य करने की आज्ञा दी। इस प्रकार हुमायूं ने वित्तीय तथा प्रशासनिक कार्यों को पृथक कर वजीर के अधिकार दो व्यक्तियों में बांट दिए। इससे कराचखां नाराज हो गया और उसने हुमायूं का साथ छोड़कर कामरान की सेवा ग्रहण की। 1548 में उसने ख्वाजा कासिम को वजीर के पद पर नियुक्त किया । 1551 में ख्वाजा कासिम को भ्रष्टाचार के आरोप पर हटा दिया गया। उसके स्थान पर हुमायूं ने सुल्तान अली को वजीर नियुक्त किया। सुल्तान अली 1556 तक इस पद पर कार्यरत रहा।

हुमायूं की आकस्मिक मृत्यु पर उसका अल्पवयस्क पुत्र अकबर गद्दी पर बैठा। अकबर ने अपने संरक्षक एवं अतालिक वैरम खान को खानखाना तथा वकील-ए-सल्तनत की उपाधि दी। इस समय से वजीर के स्थान पर वकील शब्द का प्रयोग प्रधान मंत्री के लिए होने लगा। अकबर की अल्पावस्था के कारण शासन की बागडोर बैरम खान के हाथों में लगभग 5 वर्षों तक रही। वह स्वयं अधिकारियों का निलंबन व नियुक्तियां करता था, तथा जागीरें देता था, अकबर के व्यक्तिगत व्यय पर रोक लगाता, युद्धों का संचालन करता था, भूमिकर तथा वित्तीय मामलों को देखता था और दीवान में बैठकर प्रशासनिक कार्यों को देखता था। उसके अधिकार असीमित थे। उसकी गणना वजीर-ए-तफवीद की श्रेणी के वजीरों में की जा सकती है। बैरम खां के पतन के उपरांत शिहाबुद्दीन, बहादुर खां उजवेग, मुनीम खां, शम्सुद्दीन अतकाखां, तथा मुनीम खां (1562-67, दूसरी बार), क्रमशः वजीर के पद पर कार्यरत थे। 1567 से 1573 तक अकबर ने वजीर पद पर किसी को नियुक्त नहीं किया। नवम्बर 1573 में मुजफ्फरखां को पहली बार तथा 1577 में दूसरी बार वजीर का पद दिया गया। 1574-77 तक यह पद रिक्त रखा गया। 1577 से 1579 तक मुजफ्फरखां की वजारत के कार्यकाल में टोडरमल को अशरफ-ए-दीवान तथा ख्वाजा शाह मंसूर को वित्त मंत्री नियुक्त किया गया, जिससे वजीर के अधिकार सीमित हो गए। 1579 में मुजफ्फर खां को बंगाल का सूबेदार बनाकर भेज दिया गया। 1579 से 1582 तक अकबर ने यह पद पुनः रिक्त रखा। 1582 में उसने राजा टोडरमल को वजीर नियुक्त किया। 1589 में टोडरमल की मृत्यु की उपरांत अब्दुर्रहीम खान खाना

टिप्पणी

(दिसम्बर 1587 से अप्रैल 1595 तक) तथा मिर्जा अजीज कोका (1595 ले 1605) तक वजीर के पद पर कार्यरत रहे।

अकबर के शासन में समय-समय पर वित्तीय अधिकार दीवान को दिए जाने पर वजीर या वकील के पद की गरिमा कम होती रही। दीवान सर्वोच्च वित्त अधिकारी माना गया। उसे राजनीतिक मामलों में कोई मतलब नहीं रहता था। उसके विपरीत वकील का मतलब सैनिक व प्रशासनिक मामलों में रहते हुए भी उसके पद की गरिमा पूर्व जैसी न रही। क्योंकि उसके अधिकारों का बंटवारा दीवान, मीरबख्शी तथा सद्र के मध्य में हो गया था।

जहांगीर ने सर्वप्रथम शरीफखान को अमीर-अल-उमरा की उपाधि तथा वजीर का पद प्रदान किया। शरीफखान अस्वस्थ हो गया। उसके बद आसफ खां कजवीनी को वजीर नियुक्त किया गया। तदुपरांत शरीफ खां व आसफ खां दोनों ही दक्षिण अभियान पर भेज दिए गए। अपने राज्य काल के पांचवें वर्ष से 21 वें वर्ष उसने आसफ खां को इस पर नियुक्त किया। परंतु राज्यकाल के 22वें वर्ष से लेकर 27 वें वर्ष तक लगभग 3 व्यक्ति इस पद पर रहे।

शाहजहां ने सिंहासनारोहण के उपरांत वजीर का पद आसफ खां को प्रदान किया गया। आसफ खां की मृत्यु के पश्चात यह पद दीर्घकाल तक रिक्त रहा। अपने शासनकाल के अंतिम वर्षों में, उत्तराधिकार के युद्ध प्रारंभ होने से पूर्व उसने मीर जुमला को वजीर नियुक्त किया। औरंगजेब ने अपने शासनकाल में मीर जुमला मुअज्जम खान, जाफर खान असद खान को क्रमशः वजीर नियुक्त किया। उसके शासन काल तक वजीर की प्रतिष्ठा पूर्वतः बनी रही।

इस प्रकार बाबर से लेकर औरंगजेब के शासनकाल तक वजीर का पद कई चरणों से होकर गुजरा। बाबर व हुमायूं के अंतर्गत उनके अधिकार सीमित रहे। अकबर के समय बैरम खां के पतन के उपरांत वजीर की शक्ति कम कर दी गई। अकबर ने अपने शासनकाल में कई वर्षों तक, जहांगीर ने 17 वर्ष तक, शाहजहां ने अपने शासनकाल के 30 वर्षों में 15 वर्षों तक को संचालित करने में कभी भी कोई बाधा उपस्थित नहीं हुई।

केंद्रीय प्रशासन के मुख्य विभाग

वित्तीय एवं राजस्व विभाग : वित्तीय एवं राजस्व विभाग का अध्यक्ष दीवान-ए-आला या दीवान-ए-कुल या दीवान होता था उसे वजीर भी कहते थे। अबुल फजल के अनुसार वित्तीय मामलों में वह सम्राट का नायब होता था। मुगलकाल में दीवान शब्द का प्रयोग वित्त एवं राजस्व मंत्री के लिए होता था। अकबर के काल में इस विभाग के लिए कभी-कभी वजीर किंतु साधारणतया दीवान शब्द का प्रयोग किया गया है। जहांगीर के काल में दीवान या वजीर शाहजहां के काल में दीवान-ए-कुल या दीवान ए-आला तथा औरंगजेब के काल में वजीर, वजीर-ए-आजम, व वजीर-ए-मुअज्जम शब्दों का प्रयोग वित्तीय विभाग के प्रमुख मंत्री के लिए किया गया। वास्तव में दीवान ही राजस्व व वित्तीय विभाग का प्रमुख मंत्री होता था। परंतु सभी दीवान वजीर नहीं होते थे।

दीवान-ए-आला की नियुक्ति सम्राट की राजाज्ञा से होती थी। इस पद पर योग्य अमीर की ही नियुक्ति होती थी। उसके चार प्रमुख कार्यों– राजस्व, वित्तीय, कार्यकारिणी एवं न्यायिक के कारण उसके अधिक अधिकार होते थे। राज्य का सर्वोच्च अधिकारी होने

टिप्पणी

के कारण और राजस्व विभाग का प्रमुख मंत्री होने के कारण दीवान-ए-आला राजकोष की देख-रेख व हिसाब-किताब का रख-रखाव करता था। वह राजस्व के आकलन व उसकी वसूली की व्यवस्था करता था। वह राजस्व के आकलन व वसूल करने के लिए नियम बनाता था। वह साम्राज्य के व्यय का हिसाब-किताब रखता था। उसे राजस्व संबंधी सभी प्रपत्र, हिसाब-किताब, छूट, साम्राज्य के विभिन्न भागों से प्राप्त होते थे, जिनका वह निरीक्षण किया करता था। राजस्व विभाग का मुख्य अधिकारी होने के कारण उसका संपर्क सभी सरकारी कर्मचारियों से था जो कि नकद वेतन या जागीर प्राप्त करते थे। वह सम्राट तथा अन्य कर्मचारियों के मध्य माध्यम था। वित्तीय विभाग का प्रमुख अधिकारी होने के कारण तथा राजकोष पर नियंत्रण रखने वाला व्यक्ति होने के कारण वह सभी विभागों के व्यय संबंधी प्रपत्रों पर अपने हस्ताक्षर करता था। इस प्रकार से राजकोष में आने वाली प्रत्येक कौड़ी तथा उसमें से व्यय होने वाली राशि पर उसका नियंत्रण रहता था। साम्राज्य में सभी कर्मचारियों की नियुक्तियों, पदोन्नतियों पर उसकी स्वीकृति अनिवार्य थी। उसका कार्य क्षेत्र व्यापक था। उसका संबंध केवल राजस्व विभाग से ही नहीं वरन अन्य विभागों से भी था। वह प्रांतों के दीवान को नियंत्रित रखता था व उन्हें सलाह दिया करता था। प्रांतीय दीवान, सूबेदार तथा अन्य प्रमुख अधिकारी अपने-अपने प्रांतों में जाने से पूर्व उससे मिलकर जाते थे व उससे आदेश प्राप्त करते थे।

दीवान-ए-आला के निम्नलिखित महत्वपूर्ण कार्य थे-

(1) वह मुख्यालय पर सूबेदार, फौजदारों, दीवान, करोड़ियों, आमिलों तथा दरोगों की नियुक्तियों के संबंध में संस्तुतियां करता था। इनके अतिरिक्त वह प्रांतों के मुशरिफों, खजांचियों सजावलों, तहसीलदार, जमीदारों की नियुक्तियों के संबंध में भी संस्तुति किया करता था।

(2) नियुक्तियों के अतिरिक्त दीवान उपरोक्त अधिकारियों को तैनात भी किया करता था।

(3) अनेक प्रपत्रों, रजिस्टरों तथा लेखापत्रों पर दीवान के हस्ताक्षर अनिवार्य थे। फरमानों, परवानों, याददाश्तों, इत्यादि पर भी उसके हस्ताक्षर अनिवार्य थे। बख्शी के कार्यालय की कार्रवाई बिना दीवान के हस्ताक्षर के प्रमाणित नहीं मानी जाती थी। मनसबदारों के वेतन, जागीर संबंधी पत्रों, प्रांतों में नियुक्त मनसबदारों की नामावली, प्रांतों व परगनों में भेजा जाने वाला नकद धन, मदद-ए-माश संबंधी आवेदनपत्र, प्रांतीय दीवान व आमिलों की रिपोटों के आधार पर बनायी गई रिपोर्ट, जिसे कि सम्राट के सम्मुख प्रस्तुत करना होता था, खान-ए-सामां द्वारा नकद धन की मांग, मुस्तौफी द्वारा निरीक्षण किए गए हिसाब इत्यादि पर उसके हस्ताक्षर अनिवार्य थे।

दीवान ही सम्राट द्वारा सेना को दिए जाने वाले अग्रिम धन देने की आज्ञा, राजकीय कर्मचारियों को नये पद पर अपना स्थान ग्रहण करने की आज्ञा संबंधी प्रमाणपत्र जारी करता था।

इसके अतिरिक्त दीवान नियुक्तियों के संबंध में प्रमाणपत्र, राजकुमारों को दिए जाने वाला नकद धन, उनसे संबंधित भुगतान किए जाने के लिए परगना अधिकारियों को आदेश, बकाया लगान की वसूली से संबंधी आदेश तथा प्रांतों से बकाया रकम शाही कोष में भेजे जाने के लिए आदेश भी दिया करता था।

टिप्पणी

दीवान के सम्मुख दरोगा-ए-फरियादी, कृषकों की लगान संबंधी शिकायतें पेश करता था। इसके अतिरिक्त मनसबदार तथा उच्च अधिकारी भी उसके सम्मुख अपनी शिकायतें पेश किया करते थे। न्यायाधीश के रूप में वह इन शिकायों को सुनकर निर्णय दिया करता था।

साम्राज्य के राजस्व एवं वित्त संबंधी सभी पत्र दीवान के विभाग में ही रहते थे। प्रांतीय दीवान, आमिल, करोड़ी खजांची राजस्व संबंधी सभी पत्र उसके कार्यालय में भेजा करते थे। उसके कार्यालय में सभी राजाज्ञाएं सुरक्षित रहती थीं।

दीवान का कार्यालय : दीवान-ए-आला का विभाग सुसंगठित होता था। यह विभाग कई खंडों में विभाजित रहता था। प्रत्येक खंड का एक पृथक अधिकारी होता था। उसकी सहायता के लिए अनेक सचिव व अधिकारी हुआ करते थे। इन अधिकारियों में से प्रमुख अधिकारी इस प्रकार से थे– (1) दीवान-ए-खालसा (2) दीवान-ए-तन (3) दीवान-ए-जागीर (4) दीवान-ए-ब्यूतात (5) दीवान-ए-सआदत (मदद-ए-माश व धर्म संबंधी हिसाब के लिए) (6) खजानादार (7) मुशरिफ (प्रमुख लेखपाल) (8) मुस्तौफी (लेखा परीक्षक)। दीवान के उच्च अधिकारियों में दीवान-ए-खालसा, दीवान-ए-तन तथा मस्तौफी थे। वे दीवान-ए-आला के साथ दीवान-ए-आम व खास में उपस्थित रहते थे। उसके ऊपर दीवान का पूर्ण नियंत्रण अवश्य रहता था किंतु वे स्वतंत्र रूप से कार्य किया करते थे।

दीवान-ए-खालसा : दीवान-ए-आला की संस्तुति पर सम्राट दीवान-ए-खालसा की नियुक्ति किया करता था। दीवान-ए-खालसा का प्रमुख कार्य खालसा भूमि का प्रशासन करना, दीवान, अमीन एवं फौजदार की नियुक्तियों संबंधी प्रपत्रों पर हस्ताक्षर करना था। उसके कार्यालय में खालसा क्षेत्र के लगान संबंधी प्रपत्र तैयार किए जाते थे। प्रांतीय दीवान, अमीन खजांची अनेक प्रपत्र उसके कार्यालय को भेजते थे। उसका कार्यालय सम्राट के पुत्रों व पौत्रों को उनके वेतन के बदले में दी गई भूमि के लिए फरमान जारी करता था। वह खालसा भूमि संबंधी सभी कागजों को देखता था और उन पर कार्रवाई करता था।

दीवान-ए-तन : वह बख्शी से प्राप्त मनसबदारों की सूची व उनके वेतन का ब्योरा तैयार रखता था। वह कर्मचारियों से ली गई जमानत सैनिकों का हुलिया व दाग से संबंधित कागज, जागीर तथा नकद वेतन संबंधी प्रपत्र, मदद-ए-माश के संबंध में जारी किए गए परवाने का लेखा भी रखा करता था। वह राज्य के सभी कर्मचारियों को दिए जाने वाले वेतन के लिए उत्तरदायी था।

दीवान-ए-जागीर : यह विभाग जागीरों के संबंध में विवरण का ब्योरा रखता था।

दीवान-ए-ब्यूतात : यह विभाग प्रतिदिन की आय-व्यय का हिसाब रखता था।

दीवान-ए-सआदत : यह मदद-ए-माश संबंधी अनुदानों, धार्मिक दान इत्यादि संबंधी लेखा रखता था।

मुस्तौफी : यह आय-व्यय का लेखा परीक्षण किया करता था और बकाया रकम का ब्योरा तैयार कर दीवान-ए-आला के सम्मुख रखा करता था।

मीरबख्शी तथा उसका सैनिक विभाग : केंद्रीय प्रशासन के सभी उच्च अधिकारियों में वजीर या वकील के पश्चात प्रशासकों की श्रेणी में यदि किसी महत्वपूर्ण

टिप्पणी

अधिकारी का नाम आता है, तो वह मीरबख्शी था जो कि मुगल सेना का सर्वोच्च अधिकारी होता था। तुर्क अफगान काल में सर्वोच्च सैनिक अधिकारी को खाते-ए-अर्ज या अर्ज-ए-ममालिक या दीवान-ए-अर्ज कहते थे। बलबन ने इस पद की संरचना की। अलाद्दीन खिलजी व फिरोज तुगलक आदि ने इस पद का विकास इस उद्देश्य से मिला कि दीवानी व सैनिक अधिकारों के कारण वजीर अत्यधिक शक्तिशाली न हो जाएं मीरबख्शी का कार्य सैनिक को भर्ती करना, उनका वेतन निर्धारित करना, घोड़ों को दाग लगवाना तथा सेना को सुव्यवस्थित करना था। साम्राज्य की राजनीतिक आवश्यकताओं की पूर्ति रकने के हेतु अकबर महान ने इस पद को विशेष महत्व दिया। मीरबख्शी का प्रभाव सेना पर तो रहता ही था, किंतु साथ-साथ अन्य राजकीय विभागों पर भी रहता था। दरबार में सम्राट के सन्निकट रहने, उसे विशेष अधिकार प्राप्त होने के कारण उसका सम्मान और भी बढ़ गया था।

मीरबख्शी की नियुक्ति सम्राट द्वारा होती थी। वह सम्राट की इच्छा तक उस पर बना रहता था। धीरे-धीरे उसके पद के साथ इतने अधिक कार्य संलग्न कर दिए गए कि उसके लिए सैनिक योग्यता के अतिरिक्त प्रशासनिक, कार्य क्षमता, साहित्यिक प्रतिभा तथा सूझ-बूझ व दूरदर्शिता भी आवश्यक योग्यताएं समझी जाने लगीं। उसके लिए तलवार व कलम का धनी होना आवश्यक था। वह सैनिक विभाग का अध्यक्ष, सेना का संचालक व सचिव तथा अपने विभाग का सर्वोच्च अधिकारी होता था अतः वह सर्वगुण संपन्न होता था। अकबर के काल में मनसबदारी प्रथा के लागू किए जाने पर उसके कार्यों की संख्या में वृद्धि होती रही।

मुगल सैनिक विभाग में सर्वोच्च अधिकारी के रूप में एक मुख्य मीरबख्शी रहता था। किंतु उसके अतिरिक्त अन्य बख्शी भी हुआ करते थे। उनकी संख्या निर्धारित न थी। अकबर के समय एक मीरबख्शी, एक बख्शी तथा अहदियों के लिए एक पृथक बख्शी हुआ करता था। जहांगीर के शासनकाल में मीरबख्शी से लेकर अन्य सात बख्शी होते थे– मीरबख्शी, प्रथम बख्शी, द्वितीय बख्शी, बख्शी-ए-हुजूर, बख्शी ए-अहादी, बख्शी गरी-ए-दरखाना तथा बख्शी-ए-शार्गिद पेशा। शाहजहां के समय तीन बख्शियों की परंपरा स्थापित हुई- प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय बख्शी। इन तीनों बख्शियों के कार्य निर्धारित थे। प्रथम बख्शी राजकुमारों तथा उच्च श्रेणी के मनसबदारों, द्वितीय बख्शी, मध्य श्रेणी के मनसबदारों तथा तृतीय बख्शी निम्न श्रेणी के मनसबदारों से संबंधित थे। शाहजहां के समय बख्शी-ए-हुजूर का पद समाप्त हो गया। बख्शी-ए-अहादी व बख्शी-ए-शागिर्द पेशा विशेष श्रेणी के कर्मचारियों से संबंधित थे। इसके अतिरिक्त सेना के प्रत्येक भाग के प्रबंध के लिए पृथक बख्शी नियुक्त थे। जब सेना अभियान पर भेजी जाती थी तो उसके प्रबंध के लिए एक पृथक बख्शी जिसे बख्शी-ए-लश्कर कहते थे, नियुक्त किया जाता था। प्रत्येक प्रांत में सूबेदारों के अंतर्गत भी एक बख्शी की नियुक्ति की जाती थी।

मीरबख्शी का कार्य-क्षेत्र व उसका कार्यालय : मुगल शासन प्रणाली में सद्र को छोड़कर साम्राज्य के सभी प्रमुख कर्मचारी सेना से संबंधित थे। इस प्रकार राज्य के सभी कर्मचारियों का संबंध मीरबख्शी से था। मीरबख्शी के कार्य के दो पहलू थे- (1) सैनिक विभाग में उसकी भूमिका, (2) दरबार में उसी भूमिका।

मीर बख्शी का सैनिक विभाग अथवा कार्यालय केंद्रीय प्रशासन का दूसरा महत्वपूर्ण कार्यालय था। उसकी सहायता के लिए अनेक अधिकारी व कर्मचारी होते थे।

टिप्पणी

उसका विभाग कई उपविभागों में विभाजित था तथा प्रत्येक उपविभाग का कार्यक्षेत्र पूर्णत: निर्धारित था। उसका कार्यालय मनसबदारों की नियुक्तियों से संबंधित फरमान जारी किया करता था। यह कार्यालय मनसबदारों को अपने मनसब के अनुसार कितने सैनिक, घोड़े या बोझा ढोने वाले जानवर रखने पड़ेंगे का निर्धारण किया करता था। वह मनसबदारों के मन्सब के अनुसार वेतन भी निर्धारित करता था या वेतन के स्थान पर कितनी आय की जागीर उसे मिलनी चाहिए उसका निर्धारिण किया करता था। वेतन या जागीर के निर्धारण से पूर्व मीरबख्शी का कार्यालय घोड़ों का परीक्षण करके नियमानुसार उन पर दाग लगवाता था और समय-समय पर सैनिकों व उसके घोड़ों का निरीक्षण भी किया करता था। मनसबदारों की सूची, उनके वेतन या जागीर संबंधी कागज इत्यादि उसी के कार्यालय में सुरक्षित रहते थे। राजकुमारों, राज परिवार के सदस्यों, अमीरों, उच्च श्रेणी के मनसबदारों व कर्मचारियों के मन्सब में वृद्धि के संबंध में आदेश पत्र, सैनिकों की हाजिरी, सुरक्षा कार्य के लिए नियुक्त किए गए सैनिकों की सूची व उनको दिए जाने वाले आदेश, सुरक्षा गार्ड के प्रबंध के लिए नियुक्त दरोगा, अमीन, लिपिक की नियुक्ति, मनसबदारों को तैनाती आदेश, प्रांतों में बख्शियों व वाक्यानवीसों की नियुक्तियों से संबंधित फर्मानों व परवानों पर मीरबख्शी के हस्ताक्षर अनिवार्य थे।

मीर बख्शी के कार्यालय में सेना के विभिन्न भागों का विभाजन होता था। प्रांतों के वाक्यानवीस एवं बख्शी अपनी रिपोर्टें उसी के कार्यालय में भेजा करते थे। मीरबख्शी उन पर उचित कार्रवाई किया करता था। उसके कार्यालय में राजधानी व प्रांतों में तैनात मनसबदारों की सूची, मनसबदारों द्वारा देय की मांग, नकदी या जागीर प्राप्त करने वाले मनसबदारों की सूची, वेतन पत्रों का ब्योरा, मनसबदारी व उनके सवारों की हुलिया का विवरण, घोड़ों की जांच व उनको दागने से संबंधित प्रपत्र, राजमहल में सुरक्षा गार्ड की उपस्थिति की सूची, तथा प्रांतों में उपस्थित मनसबदारों एवं सैनिकों कि सूची उसी के कार्यालय में रहती थी।

दरबार में मीरबख्शी : दरबार में मीरबख्शी सम्राट के निकट रहता था। वह नये सैनिकों को दाग व तसदीक के पश्चात सम्राट के सम्मुख प्रस्तुत किया करता था। इसके अतिरिक्त स्थायी कर्मचारी भी समय-समय सम्राट के सम्मुख पेश किए जाते थे। वह विभिन्न प्रांतों से आए व केंद्र से प्रांतों को भेजे जाने वाले अधिकारियों, सम्राट के दर्शनार्थ आए हुए लोगों या राजदूतों को भी सम्राट के सम्मुख दरबार में पेश करता था। वह गुसलखाने में गुप्त मामलों पर सम्राट को परामर्श देता था। प्रांतों से प्राप्त वाक्यानवीसों की रिपोर्टें वह सम्राट के सम्मुख पेश करता था और उस संबंध में वह उससे पूर्ण जानकारी दिया करता था। राजमहल की पहरेदारी करने के लिए वह मनसबदारों की सूची सम्राट के सम्मुख प्रस्तुत करके उससे आदेश प्राप्त करता था।

मीरबख्शी युद्धस्थल में : सैनिक विभाग का सर्वोच्च अधिकारी होने के कारण मीरबख्शी प्रमुख सेनानायक नहीं होता था। साम्राज्य का प्रमुख सेनानायक सम्राट होता था। मीरबख्शी अन्य बख्शियों के साथ युद्ध में भाग लेता था। जब सम्राट स्वयं युद्धों में भाग लेता था तो उस समय वह स्वयं सैनिकों का प्रबंध करने के लिए उपस्थित रहता था। जब उसे किसी अभियान का उत्तरदायित्व सौंपा जाता था तो वह सेनानायक के रूप में कार्य करता था। जब कभी राजकुमार या उच्च अमीर अभियान पर भेजा जाता था तो कभी-कभी उसे सेना का प्रबंध करने करने के लिए भेज दिया जाता था।

टिप्पणी

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि मीरबख्शी का पद अत्यंत महत्वपूर्ण था। केंद्रीय शासन में वह एक महत्वपूर्ण अधिकारी था।

सद्र-उस-सूदूर व उसका विभाग : मुसलमान अर्थशास्त्रियों के अनुसार प्रजा व शरियत की रक्षा करना राजा व सम्राट का पुनीत कर्तव्य था। प्रत्येक मुसलमान शासक का कर्तव्य है कि वह प्रत्येक मुसलमान को सच्चा मुसलमान बनाए और स्वयं इस्लाम व इस्लामी कानून की प्रतिष्ठा को बनाए रखे। उसका कर्तव्य है कि वह यह देखे कि उसकी प्रजा इस्लाम धर्म के नियमों का पालन कर रही है या नहीं। कहीं इस्लाम विरोधी कार्य तो नहीं कर रही है जो शासक इस्लामी कानून की रक्षा करता है, उसका प्रचार करता है और अपने राज्य द्वारा इसे लागू करता है, वही न्यायप्रिय शासक या हाकिम-ए-आदिल है और उसकी ही आज्ञाओं का पालन प्रजा को करना चाहिए। प्रत्येक शासक को नवाचार को रोकना चाहिए।

इस्लाम के प्रचार व उसकी रक्षा के हेतु शासक के लिए अनिवार्य है कि वह पवित्र, विद्वान, एवं धर्मिष्ठ शिक्षकों (उलेमा) को अपने पास रखे। उनसे समय-समय पर राज्य संबंधी विषयों पर परामर्श ले। राज्य का कर्तव्य है कि वह इन उलेमाओं की सुरक्षा करे, उन्हें प्रश्रय दे तथा सुविधाएं प्रदान करे क्योंकि सभी उलेमाओं से परामर्श लेना शासक के लिए संभव नहीं हो सकता था, इसलिए शासक उनमें से किसी एक व्यक्ति को शरा की रक्षा करने व धार्मिक तथा कानूनी विषयों में अपना सलाहकार नियुक्त करता था। वह व्यक्ति ऐसा होना चाहिए जिसमें कि न केवल प्रशासनिक व वित्तीय योग्यता हो वरन वह स्वयं प्रख्यात विद्वान धर्मशास्त्री तथा पवित्र व्यक्ति हो। ऐसे व्यक्ति को शेख-उल-इस्लाम कहते थे, चूंकि न्याय शरा के अनुसार होता था इसलिए मुख्य न्यायाधीश को काजी-उल, कुजात कहते थे, कभी-कभी कठिन समस्याओं पर इस्लामी कानून ज्ञात करने के लिए शासक प्रमुख उलेमाओं को बुलाते थे, अतएव एकत्रित उलेमाओं को सुदूर कहा जाता था। जो व्यक्ति इन उलेमाओं का सभापतित्व करता था या उसे स्थायी रूप से राज्य की ओर से नियुक्त किया जाता था उसे सद्र-उस-सुदूर कहते थे। दिल्ली सल्तनत में इस अधिकारी को शेख-उल-इस्लाम तथा सद्र सुदूर कहते थे। यह पद मुगलकाल में भी बना रहा।

सद्र-उस-सुदूर के पद का एक इतिहास है। अब्बासी खलीफाओं के काल में इमाम आबु युसुफ काजी-उल-कुजात को राजधानी के बाहर काजियों की नियुक्ति करने का अधिकार दिया गया। फारस में वह सद्र व काजी शेख-उल-इस्लाम से जाना जाता था। तुर्किस्तान में वह मुसलमानों के व्यवहार पर दृष्टि रखता था। भारतवर्ष में दिल्ली सल्तनत के काल में सद्र को शेख-उल-इस्लाम कहते थे, किंतु शेख-उल-इस्लाम को अनुदान, वृत्तिया जागीर उलेमाओं को देने का कोई अधिकार न था। मुगल शासकों ने इस पद को बनाए रखा। ख्वांदमीर के अनुसार हुमायूं ने सआदत विभाग की स्थापना की, जो कि अकबर के समय सद्र उस सुदूर का विभाग कहलाया। अबुल फजल ने सद्र का स्तर बहुत ही ऊंचा बताया है। उसकी प्रतिष्ठा अत्यधिक थी तथा उसका वकील, वजीर तथा बख्शी के बाद चौथा स्थान था। वह सर्वोच्च धर्म अधिकारी व सभी काजियों का अध्यक्ष था। उसके अधिकार असीमित थे। वह धार्मिक व्यक्तियों को अनुदान व वृत्तियां बिना सम्राट से पूर्व अनुमति लिए दे सकता था।

अकबर के समय बैरमखान ने 1558-59 में शेख गदाई नामक शिया को सद्र नियुक्त किया। बैरमखान शासन संबंधी विषयों में उससे परामर्श लिया करता था। शेख

टिप्पणी

गदाई मुसलमान उलेमाओं विद्वानों व फकीरों को जागीर, वजीफा इत्यादि देता था। उसके बाद अबुल बाकी तथा ख्वाजा मुहम्मद सालेह हरखी सद्र नियुक्त हुए। दीवान की नियुक्ति के कारण उनके अधिकार सीमित हो गए। 1565 में मुजफ्फरखान तुरबती की संस्तुति पर शेख अब्दुलनवी को सद्र नियुक्त किया गया। उसे धार्मिक कार्यों के लिए अनुदान, वजीफे, जागीर इत्यादि प्रदान करने का अधिकार प्राप्त था। वह धर्मांध था। उसने गैर सुन्नी मुसलमानों तथा अन्य धर्मावलंबियों पर अनेक अत्याचार किए। उसने मथुरा के एक ब्राह्मण को इस्लाम विरोधी प्रचार के आरोप में मरवा डाला, जिसके कारण अकबर उससे बहुत ही नाराज हुआ। इबादत खाना में होने वाले बाद-विवादों से शेख अब्दुलनवी के ज्ञान का खोखलापन स्पष्ट होने पर अकबर ने 1579 में उसे पदच्युत कर दिया।

अकबर को पहले से ही सद्र-उस-सुदूर की निष्ठा व सच्चाई पर संदेह था। अतएव उसने सद्र के कार्यों की जांच करवा दी। उसे ज्ञात हुआ कि सद्र-उस-सुदूर शेख अब्दुलनवी भ्रष्ट व घूसखोर था। सद्र द्वारा दिए गए अनुदानों के कारण उलेमा धनी व भ्रष्टाचारी हो गए थे। अनुदानों के कारण खालसा क्षेत्र दिन प्रतिदिन कम होता जा रहा था। उलेमाओं के बढ़ते हुए प्रभाव व सद्र के बढ़ते हुए अधिकारों ने राज्य के सम्मुख नया संकट उत्पन्न कर दिया। उनके रूढ़िवादी विचार व धर्म के प्रति संकुचित दृष्टिकोण अकबर व उसके समर्थकों के उदारवादी दृष्टि से मेल न खाते थे अतवए अकबर ने सद्र-उस-सुदूर के विभाग में सुधार करने का दृढ़ संकल्प किया। इसके अतिरिक्त अकबर को ज्ञात हुआ कि अब तक जितने भी सद्र उसके शासनकाल में हुए हैं वे सभी अत्याचारी, लोलुप तथा बेईमान थे। अनुदान प्राप्तकर्त्ता उन्हें घूस देकर अपने अधिकार में कर लिया करते थे। इस प्रकार से धार्मिक कार्यों के लिए दी गई भूमि का क्षेत्रफल सरकारी खातों में उल्लिखित भूमि के क्षेत्रफल से कही अधिक था, जिससे साम्राज्य को राजस्व की बराबर हानि होती रही। सद्र-उस-सुदूर विभाग में सुधार करने के लिए अकबर ने सर्वप्रथम सद्र के अधिकारी के भूमि अनुदान के रूप में थी उनकी जांच करवाई। शेख अब्दुलनवी (1562-1578) के सद्र नियुक्त होने के पूर्व जिन्हें अनुदान दिए गए थे अकबर ने उन्हें अहल-ए-सआदत के रूप में मान्यता दी। अफगानों व चौधरियों की भूमि खालसा के अंतर्गत ले ली गई। शेख अब्दुलनवी ने जिन अनुदानों की पुष्टि की अकबर ने वे अनुदान उन्हीं व्यक्तियों के पास रहने दिए। जिन व्यक्तियों के पास 500 बीघा या उससे अधिक भूमि अनुदान के रूप में थी, अकबर ने उनकी जांच करवाई व उनसे पुनः अनुमोदन प्राप्त करने के लिए कहा, जिनके पास 100 बीघा से अधिक भूमि अनुदान में थी अकबर ने उसमें से 3/5 भाग अर्थात 60 बीघा भूमि वापस ले ली। सद्र के लिए आदेश दिए गए कि वह केवल 15 बीघा भूमि को अनुदान में दे सकता है। इससे अधिक भूमि अनुदान में से पूर्व सम्राट की पूर्व अनुमति लेना उसके लिए अनिवार्य कर दिया गया। 100 बीघा भूमि अनुदान में दिए जाने से पूर्व जांच आवश्यक समझी जाने लगी। सद्र से कहा गया कि वह 100 बीघा भूमि अनुदान में देने से पूर्व अबुल फजल से इस संबंध में परामर्श ले लिया करे। इसके अतिरिक्त अभ्यर्थी जो अपनी भूमि के बदले दूसरी भूमि चाहते थे उनकी भूमि के क्षेत्र में 25 प्रतिशत की कटौती कर दी गई। यदि सयूरगाल भूमि के स्वामी दो व्यक्ति थे और उनमें से एक की मृत्यु हो गई हो, तो दिवंगत व्यक्ति की भूमि को जब्त करने का अधिकार राज्य को दिया गया। नये नियमों के अनुसार केवल खेती योग्य भूमि ही सयूरगाल के अंतर्गत लाई गई। यदि सयूरगाल भूमि में सभी भूमि पर खेती हो, तो उसमें 25 प्रतिशत की कटौती कर दी गई। इन नये सुधारों का तात्पर्य

टिप्पणी

अनुदान प्राप्तकर्त्ताओं को किसी प्रकार से हानि पहुंचाना न था विशेष कर उनको जिनकी भूमि खालसा या मनसबदारों की जागीर के समीप हो। इसके विपरीत नि:सहाय अनुदान अधिकारियों को आदेश दिए कि वे उनसे किसी प्रकार के कर या उपकर न लें, अनुदान प्राप्तकर्त्ता अपनी भूमि को उर्वर बनाए, उनमें उद्यान लगवाए और सुविधापूर्वक जीविकोपार्जन करें।

अकबर ने अनुदान प्राप्तकर्ताओं के हितों की सुरक्षा करने के लिए सदारत विभाग में भी अनेक सुधार किए। उसने सद्र की योग्यताएं निर्धारित की, कि उसे बुद्धिमान, दूरदर्शी, ईमानदार, निष्ठावान, दयालु, धर्मनिष्ठ, उदार तथा व्यावहारिक होना चाहिए। उसने सद्र के अधिकार सीमित कर दिए। सद्र स्वयं किसी को अनुदान नहीं दे सकता था। उसका कार्य केवल आवेदकों की दशा जानना तथा उनके आवेदन पत्रों को अनुदान के लिए संस्तुति देना था। अनुदान में भूमि दिए जाने का क्षेत्रफल भी सीमित कर दिया गया। अभी तक केवल मुसलमानों व उलेमाओं को ही अनुदान दिए जाते थे। किंतु, अब गैर मुसलमानों को भी अनुदान दिए जाने की व्यवस्था की गई। अन्य राजकर्मचारियों की भांति सद्र को भी मन्सब दिया जाने लगा।

अकबर ने अनुदान में भूमि चार श्रेणी के लोगों को देना प्रारंभ किया– (1) संसार का परित्याग कर ज्ञान की खोज में रात दिन लगे हुए संन्यासी (2) जिन व्यक्तियों ने संसार त्याग दिया हो (3) पवित्र वंश में जन्मे व्यक्ति, जो कि अज्ञानतावश जीविकोपार्जन करने में सक्षम न हों (4) नि:सहाय व्यक्ति, जो कार्य करने के लिए सक्षम न हों, दरिद्र व निर्बल हों तथा जिनमें तर्क करने की शक्ति न हो। इस प्रकार से सद्र को सबके प्रति उदार व सहिष्णु होना चाहिए और उसे देखना चाहिए कि अनुदान का उपभोग भली-भांति हो तथा नवीन अनुदानों के लिए दिए गए आवेदन पत्रों की वह भली-भांति छानबीन करे।

अनुदान दो प्रकार के हुआ करते थे (1) नकद (2) भूमि। भरणपोषण के लिए भत्ते या वजीफे नकद में दिए जाते थे। यह वजीफे या तो प्रतिदिन या अमुक समय के लिए दिए जाते थे। कर मुक्ति अनुदानों में दी गई भूमि को सयूरगाल या मदद-माश या आएमा, या इमाह या ईनाम, या मिल्क कहते थे, जो कि वंशानुगत व सेवा-मुक्त होती थी।

शेख अब्दुलनवी को पदच्युत करने के उपरांत अकबर ने सुल्तान ख्वाजा को सद्र नियुक्त किया। सुल्तान ख्वाजा दीन-ए-इलाही का सदस्य था। अनुदान में भूमि देने से पूर्व उसे सम्राट से अनुमित लेनी पड़ती थी। 1581 में अकबर ने 6 प्रांतों में सद्रों की नियुक्ति की जिससे सद्र-उस-सुदूर के अधिकार और भी कम हो गए।

अकबर के उत्तराधिकारियों के समय भी सद्र-उस-सुदूर के पद पर नियुक्तियां होती रहीं। जहांगीर के समय मीरान सद्र जहां व मुसाबी खां, शाहजहां के समय में मुसाबी खां तथा जलाल बुखारी, गुजराती व सैय्यद हिदायत उल्लाह सुप्रसिद्ध सद्र-उस-सुदूर हुए। औरंगजेब ने अपने शासनकाल में 8 सद्र नियुक्त किए।

सद्र-उस-सुदूर की नियुक्ति सम्राट करता था। उसका कार्यकाल अनिश्चित होता था। अन्य मंत्रियों की भांति उनका स्थानांतरण नहीं होता था। जब तक वह सम्राट के प्रति निष्ठावान बना रहता था तब तक वह अपने पद पर बना रहता था। यद्यपि सद्र मनसबदार नहीं होते थे किंतु कभी-कभी उन्हें मन्सब भी प्रदान कर दिए जाते थे।

टिप्पणी

सद्र के कार्य : इसका प्रथम कर्तव्य था कि वह सम्राट को शरियत के अनुसार चलने का परामर्श दे व शरियत के विरुद्द चलने से चेतावनी देता रहे। सद्र के निम्नलिखित तीन महत्वपूर्ण कार्य थे–

(1) उसका उत्तरदायित्व था कि साम्राज्य में शरियत के नियमों का भली-भांति पालन हो। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए यह सर्वसाधारण के नैतिक चरित्र, व्यवहार एवं आचरण तथा धार्मिक विचारों पर नियंत्रण रखता था। वह विद्यार्थियों, शिक्षकों को प्रेरित करता था कि वे धर्मशास्त्र, कुरान, हदीस, इत्यादि विषयों को अपने पाठयक्रम में प्राथमिकता दें। उसका कर्तव्य था कि शरियत के विरुद्ध जो भी कार्य हो वह उसे रोके तथा उसकी सूचना सम्राट को दे। सर्वसाधारण के मनोबल व नैतिक आचरण को इस्लाम के सिद्धांतों के अनुरूप बनाने के लिए वह मुहतासिबों की नियुक्ति किया करता था। वह उजड़ी हुई मस्जिदों का जीर्णोद्धार करने व उसकी व्यवस्था करने का कार्य भी किया करता था।

(2) वह साम्राज्य के विभिन्न भागों में न्याय करने के लिए काजियों व मुफ्तियों की नियुक्ति करता था व उनके कार्यों की देख-रेख करता था।

(3) वह उलेमाओं, शिक्षाविदों, विद्वानों, धार्मिक व्यक्तियों, साहित्यकारों तथा विद्यार्थियों को उनकी जीविकोपार्जन के लिए अनुदान दिया करता था। जो मुसलमान विद्या तथा धर्मशास्त्र के विशेषज्ञ थे उनके लिए जागीर तथा वजीफा देने के लिए वह सम्राट से संस्तुति प्राप्त करता था।

सद्र का कार्यालय : सद्र-उस-सुदूर का पृथक कार्यालय हुआ करता था। उसमें योग्य लिपिक तथा वित्तीय मामलों की देख-भाल के लिए वितिकची जिसे दीवान-ए-सआदात कहते थे होता था। अन्य कार्यालयों की तुलना में इसका कार्यालय छोटा होता था। उसके कार्यालय में मदद-ए-माश में दी गई भूमि के संबंध में फरमान तैयार किए जाते थे, जो कि उसकी मुहर लगने तक उन पर उसके हस्ताक्षर होने के उपरांत दीवान के पास भेज दिए जाते थे। दीवान उन सभी अनुदानों की जांच करने के बाद मदद-ए-माश प्राप्त करने वाले व्यक्तियों को दे दिया करता था।

मीर-ए-सामान व उसका विभाग : केंद्रीय शासन का चौथा महत्वपूर्ण विभाग मीर-ए-सामान का विभाग था। मीर-ए-सामान न केवल सम्राट व उसके परिवार के लिए विभिन्न वस्तुओं का क्रय या संचय किया करता था वरन वह उनके उत्पादन के लिए भी उत्तरदायी था। वह सम्राट के लिए हीरे जवाहरात आभूषण, हथियार, गोला बारूद, शाही अस्तबलों, पशुओं-पक्षियों का प्रबंध किया करता था व उनकी देख-रेख किया करता था। उसी के अंतर्गत शाही कारखाने हुआ करते थे। अकबर के समय यह विभाग दीवान-ए-व्यूतात के अंतर्गत खान-ए-सामान कहा जाने लगा। उसकी नियुक्ति सम्राट के द्वारा होती थी तथा उसकी इच्छा तक वह इस पद पर बना रहता था। इस पद पर महत्वपूर्ण अमीरों की ही नियुक्ति हुआ करती थी।

मीर-ए-सामान के कार्यालय के प्रमुख अधिकारी दीवान-ए-ब्यूतात, मुशरिफ-ए-कुल औजुज, दरोगा, तहसीलदार, मुस्तौफी, दरोगा-ए-कचहरी तथा नाजिर होते थे।

दीवान-ए-ब्यूतात : राजकोष का प्रबंध करता था व मीर-ए-सामान के साथ मिलकर शाही कारखानों के कार्य की देख-भाल किया करता था। वह गैर वित्तीय मामलों

टिप्पणी

में मीर-ए-सामान पर निर्भर रहता था। यद्यपि वह वजीर के अंतर्गत ही रहता था किंतु मीर-ए-सामान व दीवान-ए-ब्यूतात दोनों ही दीवान व सम्राट के संपर्क में रहते थे। वह दिवगंत अमीरों की संपत्ति का लेखा-जोखा संपत्ति के जब्त किए जाने के लिए व उसके उत्तराधिकारियों को बाद में सौंपने के लिए रखता था। वह विभिन्न कारखानों के लिए धन का निर्धारण व वितरण की व्यवस्था करता था। इसके अतिरिक्त कारखानों के लिए धन का निर्धारण व वितरण की व्यवस्था करता था। इसके अतिरिक्त वह वस्तुओं के मूल्य का निर्धारिण व कारखानों की आवश्यकताओं के अनुमानित व्यय का हिसाब भी तैयार करता था।

मुशरिफ-ए-कुल औजुज : मुख्य लेखा परीक्षा अधिकारी होता था।

दरोगा : प्रत्येक कारखाने में एक दरोगा होता था जो कि कारीगरों को कच्चा माल देता था तथा उनके कार्य की देख-रेख किया करता था।

तहसीलदार : प्रत्येक कारखाने में यह खजांची व भंडार के स्वामी के रूप में कार्य करता था।

मुस्तौफी : (लेखा परीक्षा अधीक्षक) वह आडिट रिपोर्ट पर हस्ताक्षर करके उसे दीवान के सम्मुख मीर-ए-सामान की मुहर लगने के उपरांत पेश करता था।

दरोगा-ए-कचहरी : कार्यालय का मुख्य अधिकारी होता था।

नाजिर : हिसाब-किताब का परीक्षण किया करता था।

मीर-ए-सामान के कार्य : मीर-ए-सामान आपूर्ति विभाग का कार्यकारी अधिकारी हुआ करता था। उसके अंतर्गत शाही कारखाने व भण्डार, हुआ करते थे। प्रांतों में या अन्यत्र स्थानों में स्थापित शाही कारखाने भी उसी के अंतर्गत रहते थे। वह विभिन्न अधिकारियों जैसे कि अधीक्षकों, लेखा अधिकारियों (एकाउंटेंट्स) खजांचियों या अपने अंतर्गत किसी भी कर्मचारी की नियुक्ति व उसे पदच्युत कर सकता था, चाहे वे कर्मचारी शाही महल या कारखाने के ही क्यों न हों। वह न केवल विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन वरन उनकी आपूर्ति के लिए भी उत्तरदायी होता था। वह सम्राट के लिए अस्त्र-शस्त्र व तोपों का प्रबंध भी किया करता था। वह सम्राट द्वारा दिए गए उपहारों या सम्राट को दिए गए उपहारों कि सूची बनाता था। वह राजपरिवार में विवाहोत्सव का प्रबंध करता था। वह दुकानों, उद्योगों व हवेलियों से प्राप्त आय का हिसाब-किताब रखता था। वह सम्राट के साथ यात्राओं व अभियानों पर जाता था। उसका नियंत्रण शाही सेवकों, शाही महल के कर्मचारियों तथा शाही महली अधिकारियों जो कि राज्य की सेवा में नहीं होते थे, पर होता था। उसके द्वारा दिए गए प्रमाणपत्र पर ही उनको वेतन मिलता था। उसे दीवान-ए-खास व आम की व्यवस्था, कारखानों की व्यवस्था, वस्तुओं, हिसाब, शाही अस्तबल के जानवरों, योग्य शिल्पकारों, का विवरण देना पड़ता था तथा छमाही बजट तैयार करके देना पड़ता था।

सम्राट तीन प्रकार से मीर-ए-सामान के विभाग पर नियंत्रण रखता था– (1) वह प्रति छह माह पर इस विभाग के हिसाब की जांच करता था तथा उसकी अर्थ व्यवस्था के लिए आदेश दिया करता था। (2) वह दरबार में इस विभाग के कार्य की देख-रेख किया करता था, वस्तुओं के मूल्य निर्धारित करता था और आदेश दिया करता था। (3) वह शाही कारखानों में तैयार की गई वस्तुओं या क्रय की गई वस्तुओं की जांच करता था व शिल्पकारों को पुरस्कृत करके उन्हें प्रश्रय दिया करता था।

टिप्पणी

न्याय विभाग : केंद्रीय प्रशासन में उपरोक्त विभागों के अतिरिक्त न्याय विभाग होता था। यह विभाग काजी उल-कुजात के अंतर्गत होता था। वह साम्राज्य का सर्वोच्च न्यायिक अधिकारी होता था। वह न्याय प्रशासन के लिए उत्तरदायी होता था। वह दीवानी तथा फौजदारी के मुकदमों का फैसला करता था। उसकी सहायतार्थ अनेक मुफ्ती तथा अन्य अधिकारी होते थे। न्याय प्रशासन की चर्चा अन्यत्र की गई है।

केंद्रीय प्रशासन का छठा विभाग महतासिब विभाग होता था। शरियत के अनुसार सर्वसाधारण के नैतिक स्तर को ऊंचा उठाना और उन्हें शरियत द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करना सम्राट का पुनीत कर्तव्य था। इस कार्य को मुहतासिबों की सहायता से संपन्न किया जाता था। मुहतासिबों का कार्य लोगों को शरियत के नियमों के विरुद्ध चलने से रोकना, मदिरा निषेध करना, मादक पदार्थों के सेवन से मुसलमानों को रोकना, जुआ बंद करवाना, व्यभिचार रोकना, लोगों को पांच समय नमाज पढ़ने के लिए प्रेरित करना, रमजान के मास में उन्हें रोजा रखवाना इत्यादि था।

इन विभागों के अतिरिक्त कई अन्य विभाग थे जिनका स्तर अन्य विभागों की तुलना में छोटा था। ये विभाग थे– (1) मीर आतिश या तोपखाना विभाग, (2) गुप्तचर विभाग– जिसका अध्यक्ष दरोगा-ए-डाक चौकी होता था, (3) शाही टकसाल विभाग– जो कि एक दरोगा के अंतर्गत होता था, (4) मुहर विभाग-जो कि मीरमल के अंतर्गत होता था, (5) जहाजरानी या नवाड़ा विभाग- जिसका अधीक्षक मीर-ए-बहर होता था, (6) जंगल विभाग– इसका अधीक्षक मीरवर होता था, (7) पताका विभाग- जो कि कुरवेगी के अंतर्गत होता था, (8) दैनिक समाचार विभाग– जो कि वाक्यानवीस के अंतर्गत होता था।

मुगलों के केंद्रीय प्रशासन की विशेषता यह थी कि उसका निरंतर आवश्यकतानुसार विकास होता रहा। अकबर ने सभी विभागों तथा मुख्य अधिकारियों के अधिकार व कर्तव्य निर्धारित करते समय नियंत्रण व संतुलन का सिद्धांत अपनाया जिससे शासन करने में उसे व उसके उत्तराधिकारियों को बड़ी सुविधा हुई। सम्राट ही प्रशासन की मुख्य धुरी था। अतएव सभी उच्च या साधारण अधिकारी उसी के आदेशानुसार कार्य करते थे। अकबर के समय से नौकरशाही का संगठन इस प्रकार से हुआ कि प्रशासन के किसी भी विभाग का अस्तित्व स्वतंत्र न रह सका। केंद्रीय प्रशासन के सभी विभाग किसी न किसी रूप से एक-दूसरे से जुड़े हुए थे। ऐसी स्थिति में कोई मंत्री मनमानी ढंग से कार्य न कर सकता था। शाही सचिवालय का शाही महल के निकट होने के कारण सम्राट की दृष्टि सभी विभागों के कार्यों पर निरंतर रहती थी। अतएव सभी विभाग भली-भांति कार्य करने के लिए कटिबद्ध थे।

प्रांतीय व स्थानीय प्रशासन

साम्राज्य को विभिन्न प्रशासनिक इकाइयों में विभाजित करना प्रशासनिक दृष्टि से बहुत ही आवश्यक था। प्राचीन भारत तथा इस्लामी देशों में यह परंपरा थी। दिल्ली सल्तनत की स्थापना के उपरांत उत्तरी भारत में निरंतर राजनीतिक अस्थिरता के कारण सुल्तान प्रांतीय शासन के विकास की ओर अधिक ध्यान न दे सके। फिर भी केंद्र के अंतर्गत प्रशासन का जो स्वरूप हमें मिलता है वह इस प्रकार से था। छोटी-छोटी इक्ताएं, जहां कि सुल्तान अपने अमीरों को अक्तादारों के रूप में नियुक्त करता था। इन इक्ताओं का शासन प्रबंध अक्तादार किया करते थे। दूसरी श्रेणी में दूरस्थ प्रदेश या विलायतें आती थीं, जो कि

टिप्पणी

मुक्तियों, वलियों, हाकिमों या मंत्रियों के अंतर्गत होती थीं। तीसरी श्रेणी में स्वायत्त अथवा स्थानीय हिंदू शासक थे, जिन्होंने कि सुल्तान की अधीनता स्वीकार करने के पश्चात उसे वार्षिक कर देना प्रारंभ कर दिया था। इस प्रकार के प्रशासनिक ढांचे में किसी भी भांति एकरूपता न थी। जहां तक प्रांतों (विलायतों) का प्रश्न है वहां का मुख्य कार्यकारिणी-अधिकारी मुक्ती हुआ करता था। उसका कार्य केंद्र द्वारा जारी किए गए नियमों, निर्देश, आज्ञाओं का पालन करना, शांति एवं सुव्यवस्था की स्थापना करना, न्याय व्यवस्था करना, कृषि को प्रोत्साहन देना, राजमार्गों कि रक्षा करना, सेना व वित्त विभाग की देख-रेख करना इत्यादि था।

प्रत्येक प्रांत (विलायत) में सेना का प्रबंध करने के लिए प्रांतीय आरिज हुआ करते थे। भू-राजस्व एवं राजस्व का प्रबंध ख्वाजा या साहिब-ए-दीवान किया करता था. प्रांत शिक अथवा सरकारों व शिक परगनों में विभाजित होते थे। कई गांवों को मिलाकर परगना बनता था। विषम परिस्थितियों, आंतरिक विद्रोहों, बाह्य आक्रमणों, आनुवांशिक परिवर्तनों, इत्यादि के कारण वास्तव में प्रांत व उसके अंतर्गत प्रशासनिक इकाइयों का समुचित ढंग से विकास नहीं हो पाया।

बाबर व हुमायूं को प्रांतीय प्रशासनिक व्यवस्था में किसी प्रकार का परिवर्तन करने का समय नहीं मिल सका। बाबर ने अपने ढंग से ही प्रशासन किया। उसका साम्राज्य अफगान अमीरों, जिन्होंने कि उसकी आधीनस्थता स्वीकार कर ली थी, मुगल वजहदारों या जागीरदारों, हिंदू जमींदारों जिन्होंने कि उसकी अधीनस्थता स्वीकार कर ली थी तथा खालसा क्षेत्र में बंटा हुआ था। हुमायूं के समय भी यही स्थिति रही।

यद्यपि शेरशाह को प्रांतीय प्रशासन का अधिक ज्ञान नहीं था फिर भी उसके शासनकाल में साम्राज्य विभिन्न प्रांतों में बंटा हुआ था। उसके समय में मुख्य प्रांतों में विलायत-बंगाल, मालवा, राजपूताना, मुल्तान इत्यादि प्रमुख थे। परंतु प्रांतों की प्रशासनिक व्यवस्था की ओर उसने ध्यान न दिया। वास्तव में प्रांतीय प्रशासन को नया स्वरूप देने व उनकी व्यवस्था को विकसित करने का मुख्य श्रेय अकबर को था उसने 1575 में अपने साम्राज्य की खालसाभूमि (जिसमें बंगाल, गुजरात व बिहार सम्मिलत न थे) को 182 समान इकाइयों में राजस्व वसूल करने की दृष्टि से विभाजित किया। उसने प्रत्येक इकाई का भू-राजस्व एक करोड़ दाम निर्धारित किया। वहां एक भू-राजस्व वसूल करने वाला अधिकारी (आमिल) तथा एक करोड़ी की नियुक्ति की किंतु यह प्रयोग सफल न हुआ। जनवरी 1580 में उसने अपने साम्राज्य को 12 सूबों (प्रांतों) में, जिनसे उसे 90744,000 रुपये भू-राजस्व मिलता था, विभाजित किया। वह प्रशासनिक व्यवस्था में एकरूपता लाना चाहता था। वे 12 सूबे इस प्रकार से थे– (1) इलाहाबाद (2) आगरा (3) अवध (4) अजमेर (5) अहमदाबाद-गुजरात (6) बिहार (7) बंगाल (8) दिल्ली (9) काबुल (10) लाहौर (11) मुल्तान तथा (12) मालवा। उसने प्रत्येक प्रांत में प्रांतीय राजधानी स्थापित की। उसने बाद में जब बरार, खानदेश और अहममदनगर के दुर्ग को विजित किया तो तीन और सूबे स्थापित किए गए व सूबों की संख्या बढ़कर 15 हो गई। कंधार, काश्मीर, थट्टा व उड़ीसा की विजय के उपरांत बजाय नये सूबों की स्थापना के उसने काश्मीर व कंधार को सूबा काबुल, तथा थट्टा को सूबा मुल्तान में मिला दिया। इसी प्रकार से उड़ीसा को सूबा बंगाल में मिला दिया गया। इस प्रकार से उसके शासनकाल में कुल मिलाकर 15 सूबे थे।

टिप्पणी

जहांगीर ने कांगड़ा विजित कर उसे सूबा लाहौर में मिला दिया। काश्मीर की चार सरकारें तथा कंधार हाथ से 1622-23 में निकल गए। उड़ीसा व थट्टा को नये सूबे में परिणित कर दिया गया। इसी प्रकार से दक्षिण के तीन सूबों को मिलाकर एक कर दिया गया। जहांगीर के शासनकाल के अंत में कुल मिलाकर 17 सूबे थे।

शाहजहां के शासनकाल में सूबों की संख्या 22 हो गई तथा उनसे 22 करोड़ रुपए भू-राजस्व मिलने लगा। ये 22 सूबे इस प्रकार थे- (1) दिल्ली (2) आगरा (3) लाहौर (4) अजमेर (5) मुल्तान (6) इलाहाबाद (7) मालवा (8) अवध (9) बिहार (10) उड़ीसा (11) थट्टा (12) काबुल (13) कंधार (14) वल्ख (15) बदख्शां (16) काश्मीर (17) गुजरात (18) खानदेश (19) दौलताबाद (20) बरार (21) तेलंगाना (22) बगलाना। इसमें कंधार 1648 में हाथ से निकल गया। इस प्रकार से 1648 में 20 करोड़ रुपए राजस्व मिलता था। इसमें से केवल खालसा से 3 करोड़ रुपए राजस्व मिलता था। दक्षिण में निजाम शाही राज्य को विजित करने के उपरांत दक्षिण के चार प्रांतों दौलताबाद, अहमदनगर, तेलंगाना, खानदेश व बरार की प्रशासनिक व्यवस्था का पुनर्गठन औरंगजेब ने अपनी सूबेदारी के काल में किया। इन प्रांतों की राजधानी पहले दौलताबाद में थी, बाद में राजधानी औरंगाबाद में स्थापित की गयी।

इस काल में विभिन्न सूबों की सीमाओं में प्रशासनिक आवश्यकताओं के कारण यदाकदा परिवर्तन होते रहे, कभी-कभी किसी सूबे का कुछ भाग या सरकारों को निकालकर अन्य निकटवर्ती सूबे में जोड़ दिया जाता था। इस कारण सूबे के क्षेत्रफल व उसके राजस्व में कभी-कभी अंतर हो जाता था।

प्रांतीय प्रशासन केंद्रीय प्रशासन का प्रतिरूप था। अकबर ने प्रत्येक सूबे में एक सिपह-सालार, दीवान, बख्शी, मीर-अदल सद्र, कोतवाल, मीर-ए-बहर तथा वाक्यानवीस नियुक्त किया। प्रांतों में खान-ए-सामान तथा ब्यूतात नहीं होते थे। भू-राजस्व व्यवस्था की देख-रेख के लिए आमिल, वितिक्ची, फोतादार या खजानादार, कानूनगो व पटवारी होते थे। गुप्तचर व्यवस्था की देख-भाल के लिए वाक्यानवीस होते थे। सूबे के प्रमुख शहरों में पुलिस कोतवाल के अंतर्गत होती थी। इन सभी अधिकारियों की नियुक्तियां केंद्रीय प्रशासन करता था। यद्यपि सभी अधिकारी सूबेदार या हाकिम के अंतर्गत कार्य करते थे परंतु वे मुख्यत: केंद्रीय प्रशासन के प्रति उत्तरदायी थे।

सूबे के मुख्य अधिकारी को नाजिम, सिपहसालार, सूबेदार या साहिब-ए-सूबा या वली कहते थे। उसकी नियुक्ति मुगल सम्राट किया करता था। मुसलमान विधिवेत्ताओं ने दो प्रकार के सिपहसालार या नाजिम बताए हैं- (1) असीमित अधिकार वाले नाजिम (2) सीमित अधिकार वाले नाजिम। प्रथम श्रेणी के नाजिमों को अधिकारियों की नियुक्तियों व सेना संचालन करने का पूर्ण अधिकार होता था। सीमित अधिकार वाले नाजिम कुछ गिने-चुने व निर्देशित कार्य ही कर सकते थे। साधारणतया इस पद पर कुशल, अनुभवी प्रतिभासंपन्न, सम्राट के विश्वासपात्र की नियुक्ति हुआ करती थी। अमीर के अतिरिक्त राजकुमार भी इस पद पर नियुक्त किए जाते थे। जब कभी सूबेदार मुगल सम्राट के साथ अभियानों पर या राजधानी में रहता था तो ऐसी स्थिति में उसका कार्य देखने के लिए भी चरितार्थ होती थी। वे अनुपस्थित सूबेदार भी हो सकते थे। उनके अल्पायु होने के कारण परामर्शदाता की नियुक्ति कर दी जाती थी। सूबेदारों का कार्यकाल यद्यपि निश्चित नहीं होता था परंतु वे 3-4 वर्ष तक अपने पद पर रहते थे। उनका

टिप्पणी

सामयिक स्थानांतरण होता रहता था। मुख्यत: उच्च मनसबदारों या उच्च श्रेणी के अमीरों की नियुक्ति ही इस पद पर होती थी।

सूबेदार प्रांत में सम्राट का प्रतिनिधि व प्रांत का प्रमुख अधिकारी होता था। मुगल शासक चूंकि केंद्रीयकरण में पूर्णत: विश्वास रखते थे अतएव वे सूबेदारों को अधिक अधिकार देने के पक्ष में नहीं रहते थे। सूबेदार के अधिकार व कार्य पूर्णत: निर्धारित थे। जिस समय उनकी नियुक्ति की जाती थी उन्हें उनके पदानुसार मन्सब व सम्मानसूचक चिह्न व उपहार प्रदान किए जाते थे व उनके पद से संबंधित निर्देश दिए जाते थे। उन्हें उत्तरदायित्व, कार्यक्षेत्र अधिकारों, विशेषाधिकारों, आचार, व्यवहार, कार्य अधीनस्थ कर्मचारियों के प्रति उनके संबंध एवं व्यवहार, उनसे आज्ञाओं के पालन कराने व उनसे सहयोग लेने इत्यादि से अवगत कराया जाता था। उनसे आशा की जाती थी कि वे अपने पद की गरिमा अपने व्यवहार तथा दैनिक जीवन में आदर्श प्रस्तुत करके बनाए रखेंगे। उन्हें निर्देश थे कि वे आवांछनीय तत्वों से दूर रहेंगे व साधारण लोगों से मेलजोल नहीं बढ़ाएंगे क्योंकि उससे पद की गरिमा कम होती थी। उनसे कहा जाता था कि वे अपनी आय से अधिक व्यय न करें व अपने रहन-सहन के स्तर को ऊंचा बनाए रखें। उन्हें निर्देश थे कि वे बोलचाल में संयम बनाए रखें, अपने वचन का पालन करें, जनकल्याण की भावना रखें, तथा न्याय करें। अबुल फजल के अनुसार वह प्रजा का अभिभावक होता है अतएव प्रजा का कल्याण उसके न्यायप्रिय शासन पर निर्भर करता है। उसे समाज के सभी वर्गों के साथ सद्व्यवहार करना चाहिए व दुर्बल व्यक्तियों पर होने वाले अत्याचार को रोकना चाहिए। उसे निर्देश थे कि वह सदैव हथियारों का प्रयोग करता रहे, घुड़सवारी व शिकार करता रहे, जिससे कि वह शिथिल न हो जाए तथा निरंतर अपने कार्य के प्रति सजग रहे। उसके अधिकारों पर अंकुश लगाना भी आवश्यक था। इसलिए सूबेदारों के लिए मनाही थी कि वे सम्राट की शान-शौकत में, उसके दरबार की नकल करने, अभियोगियों की खाल खिंचवाने, उन्हें हाथी के पैरों के नीचे कुचलवाने का यत्न न करे। जो भी सूबेदार इन नियमों की अवहेलना करता था उसे राजदंड दिया जाता था।

सूबेदार के तीन प्रमुख कार्य थे– दीवानी, न्यायिक तथा सैनिक। प्रांत के प्रमुख कार्यकारिणी अधिकारी होने के कारण सूबेदार को प्रांत के संपूर्ण प्रशासन तथा जनसाधारण व समृद्धि की देखभाल करनी पड़ती थी वह उप-कर्मचारियों को नियुक्त करता था, योग्य मनसबदारों को पदोन्नति के लिए सम्राट के पास संस्तुति भेजता था, गुप्तचरों व वाक्यानवीसों के प्रांत में शांति एवं सुव्यवस्था बनाए रखने के लिए उत्तरदायी था। वह प्रांत के सभी कर्मचारियों को सुरक्षा प्रदान करता था व उनके कार्यों में सहायता करता था। उसका कार्य राजकीय नियमों को लागू करना, सम्राट के आदेशों का पालन कराना तथा भू-राजस्व की वसूली में सहायता पहुंचाना था। उसका कार्य जमींदारों को संतुष्ट रखना व उनसे राजकर वसूल करना था। सूबेदारों को स्पष्ट निर्देश थे कि वे उन्हें उपहार आदि देकर प्रसन्न रखें क्योंकि सेना द्वारा उसका दमन कर उन्हें अपने अधीन रखना ठीक नहीं होता है। वह भू-राजस्व अधिकारियों के कार्य पर दृष्टि रखता था व उनके संबंध में सूचनाएं प्राप्त करता रहता था। उसका कार्य तालाब, कुएं, जलाशय, बनवाना, उद्यान लगवाना, सरायों की देखभाल करना, जनहित के लिए कार्य करना था। सर्वसाधारण की दशा से अवगत होने के लिए वह अपने प्रांत का दौरा किया करता था। अकबर के समय उन्हें दीन-ए-इलाही के नियमों का पालन करना पड़ता था। उसे मातहती शासकों या

टिप्पणी

जमींदारों से कर वसूल करना पड़ता था। राजकोष में एकत्र हुए धन को सम्राट के पास सुरक्षित पहुंचाने का उत्तरदायित्व उसी का होता था। जिन राजाओं का केंद्र से प्रत्यक्ष संबंध था उनके ऊपर उनका अधिकार न था।

सूबेदार को अपने प्रांत में न्याय-व्यवस्था की देखभाल करनी पड़ती थी। न्यायाधीश के रूप में उसके प्रारम्भिक व अपीलीय दोनों अधिकार थे। साधारणतया प्रारम्भिक मुकदमों को वह प्रांतीय काजी की सहायता से तय किया करता था। प्रांतीय दीवान व काजी के बाद अपीलों के मुकदमें उसकी अदालत में आते थे। वह अभियुक्तों को चेतावनी दे सकता था, बंदी गृह में डलवा सकता था, परंतु उन्हें मृत्यु-दंड नहीं दे सकता था। मृत्यु-दंड से संबंधित मुकदमों को वह सम्राट के निर्णय कि लिए भेज दिया करता था। यदि उस समय अपराधी विद्रोह करे तो संकटकाल में वह उसे मृत्युदंड दे सकता था।

मुगलकालीन सूबेदार सीमित अधिकार वाले प्रांतपतियों की श्रेणी में आते थे। वे मनसबदार या राज्य कर्मचारी होते थे। अतएव उनके अधिकार सीमित व निश्चित होते थे। उन्हें कर लगाने व नमाज का नेतृत्व करने का कोई अधिकार न था। उसकी शक्ति व अधिकार सम्राट की इच्छा पर निर्भर करते थे। कभी-कभी उन्हें मन्सब प्रदान करने, शासकों से संधि करने, उन्हें आधीनता स्वीकार करने पर बाध्य करने के लिए अधिकार दे दिए जाते थे।

सूबेदार को अपने पास सेना रखनी पड़ती थी। उस सेना का वह सेनापति होता था। उसका कार्य स्थानीय विद्रोहों का दमन करना, डकैतों के विरुद्ध अभियान संचालित करना, सूबे में शांति स्थापित करना तथा अवांछित तत्वों का दमन करना था। परंतु बिना सम्राट से पूर्व अनुमति लिए हुए वह सामंती राज्य के विरुद्ध युद्ध की घोषणा नहीं कर सकता था।

प्रांतीय दीवान (दीवान-ए-सूबा) : यदि प्रांत में सूबेदार, कार्यकारिणी, सेना, रक्षा, न्याय व संपूर्ण प्रशासन की देखरेख किया करता था तो दीवान या दीवान-ए-सूबा केवल मुख्य वित्त अधिकारी ही नहीं वरन केंद्रीय राजस्व विभाग का प्रांत में प्रतिनिधि हुआ करता था। उसका पद सूबेदार के बाद था। अकबर के समय इस पद का विकास हुआ। अकबर के शासन के अंत तक दीवान की नियुक्ति दीवान-ए-आला की संस्तुति पर सम्राट करता था। वह केंद्रीय शासन के प्रति उत्तरदायी होता था। वह केंद्रीय प्रशासन के दीवान-ए-आला के निर्देशानुसार कार्य करता था। इसलिए उससे वह बराबर पत्र व्यवहार करता रहता था। वह सूबेदार के दरबार में उपस्थित अवश्य होता था किंतु उसका पद सूबेदार के पद के बराबर होता था। उसकी नियुक्ति के साथ उसे केंद्र की ओर से कुछ विशेष निर्देश दिए जाते थे कि वह कृषकों को शांति पूर्वक भूराजस्व देने के लिए प्रेरित कर सके।

दीवान के विभाग में दो प्रकार के कर्मचारी होते थे– (1) केंद्रीय दीवान के द्वारा नियुक्त कर्मचारी, (2) प्रांतीय दीवान द्वारा नियुक्त कर्मचारी। उसके विभाग में पेशकार व दरोगा हुजूरनवीस, सूबानवीस, मुहर्रिर, आदि की नियुक्तियां वह स्वयं किया करता था। यह सभी कर्मचारी उसके अधीन कार्य करते थे। प्रांतीय दीवान के कार्य– (1) खालसा महालों से भू-राजस्व वसूल करना, (2) वसूली तथा बकाया, (3) राजस्व का हिसाब रखना, (4) मदद-ए-माश में दी गई भूमि का ब्योरा रखना, (5) प्रांत में नियुक्त

टिप्पणी

अधिकारियों के कार्य के अनुसार उसका वेतन निर्धारित करना व उन्हें वेतन देना, (6) खालसा क्षेत्र में दी गई जागीरों का प्रबंध करना, (7) कृषि को प्रोत्साहित करना, (8) कोषागारों पर दृष्टि रखना, (9) किसी को निषिद्ध-कर वसूल न करने देना, (10) आमिलों के हिसाब की जांच करना तथा भ्रष्ट आमिलों को पदच्युत करने की संस्तुति करना, (11) बकाया लगान व तकाबी वसूल करना, (12) विभिन्न विभागों के व्यय पर नियंत्रण रखना, (13) प्रांतीय टकसालों का प्रबंध करना।

प्रांतीय दीवान के कार्यालय में भू-राजस्व संबंधी आय-व्यय से संबंधी सभी हिसाब-किताब सुरक्षित रहते थे। उसी के विभाग में हिसाब का परीक्षण होता था व उसका सारांश बनाकर केंद्र को भेज दिया जाता था। उसे माह में दो बार दीवान-ए-आला के पास प्रांत में होने वाली घटनाओं तथा कोषागार में नकद धन की सूचना भेजनी पड़ती थी।

न्यायाधीश के रूप में प्रांतीय दीवान राजस्व संबंधी मुकदमों का निर्णय करता था। सरकार व परगनों के राजस्व संबंधी मुकदमों पर हुई अपील को भी वह सुनता था व उन पर फैसला देता था। दीवान द्वारा दिए गए निर्णय के विरुद्ध अपील केंद्र में दीवान-ए-आला के सम्मुख की जा सकती थी।

प्रांतीय सद्र : केंद्रीय सद्र-उस-सुदूर की संस्तुति पर सम्राट प्रांतीय सद्र की नियुक्ति करता था। प्रांतीय सद्र, सद्र-उस-सुदूर के निर्देशानुसार कार्य करता था। उसका कार्यकाल निश्चित नहीं रहता था। अन्य अधिकारियों की भांति उसका भी स्थानांतरण होता रहता था। धार्मिक पदाधिकारी होने के कारण उसका कार्य प्रांत में मुसलमानों के धार्मिक हितों की देखभाल करना, आइमा, सयूरगालया मदद-ए-माश अनुदानों की देखभाल करना, उलेमा व विद्वानों को दिए जाने वाले वजीफे का प्रबंध करना था। किन व्यक्तियों को अनुदान, वजीफे, पेंशन दिए जाए उनके संबंध में वह केवल संस्तुति ही कर सकता था, उन्हें दे नहीं सकता था। वह अपने पास विद्वानों, उलेमाओं व धार्मिक व्यक्तियों की सूची रखता था।

काजी-ए-सूबा : प्रत्येक सूबे में प्रमुख काजी जिसे काजी-ए-सूबा कहते थे की नियुक्ति होती थी। उसकी नियुक्ति केंद्र के काजी-उल-कुजात की संस्तुति पर सम्राट किया करता था। उसे दीवानी व फौजदारी दोनों प्रकार के मुकदमों का तय करने का अधिकार था। वह मुसलमानों के विवाह संबंधी व संपत्ति संबंधी मुकदमों का भी फैसला करता था। न्यायिक कार्यों में उसकी सहायता मीर अदल, मुफ्ती, काजी, मुहतासिब, दरोगा-ए-अदालत किया करते थे। उसकी संस्तुति पर सरकारों के काजी-ए-सरकार की नियुक्तियां की जाती थीं।

मीर अदल : इसका कार्य गवाहों की गवाही की जांच-पड़ताल करना था। काजी की अदालत में मुकदमा पहुंचाने से पूर्व वह गवाही की जांच करके उस पर अपनी रिपोर्ट दिया करता था जिसे के आधार पर मुकदमें का फैसला होता था।

प्रांतीय बख्शी : केंद्रीय शासन की भांति प्रांतों में एक बख्शी रहता था। उसकी नियुक्ति केंद्रीय मीर-बख्शी की संस्तुति पर सम्राट किया करता था। जो कार्य मीरबख्शी केंद्र में किया करता था वही कार्य बख्शी प्रांत में किया करता था। उसका प्रमुख कार्य प्रांत से सेना रखना, सैनिकों की भर्ती करना, उनका वेतन निर्धारित करना, उनका रखरखाव करना, उनकी आवश्यकताओं की पूर्ती करना, घोड़ों पर दाग लगवाना, सैनिकों

टिप्पणी

का हुलिया रखना व अनुशासन के नियमों को लागू करना था। वह प्रांत में मनसबदारों की सूची रखता था। वह सैनिकों, पशुओं व घोड़ों का वार्षिक निरीक्षण कर मनसबदारों को मन्सब की शर्ते पूर्ण करने का प्रमाण-पत्र दिया करता था। वह न केवल सूबेदार की सहायता अभियानों में किया करता था वरन अवांछित तत्वों व विद्रोहियों का दमन स्वयं किया करता था। वह दिवंगत मनसबदारों की संपत्ति का ब्योरा भी तैयार किया करता था। कभी-कभी यह कार्य परगने के वाक्यानवीस को भी सौंप दिया जाता था जो कि इसकी सूचना दीवान को दे दिया करता था।

प्रांत में गुप्तचरों या वाक्यानवीसों का जाल बिछा रहता था। वे प्रांत में होने वाली सभी घटनाओं, भू-राजस्व की वसूली, अभियानों, शांति एवं सुव्यवस्था की स्थिति, व्यापारियों व यात्रियों की सुरक्षा के लिए उठाए गए कदमों, सर्वसाधारण की दशा इत्यादि की सूचना केंद्रीय प्रशासन को भेजा करता था। उसके वाक्यानवीस सूबेदार के तथा अन्य अधिकारियों के कार्यालय में हुआ करते थे। बख्शी केंद्रीय प्रशासन के संपर्क में रहा करते थे। वह सूबेदार से पृथक व स्वतंत्र ढंग से कार्य करता था। उसकी उपस्थिति सूबेदार पर नियंत्रण की भांति थी।

मुहतासिब : प्रत्येक प्रांत में मुहतासिब रहते थे। उनकी नियुक्ति भी सम्राट किया करता था। वह केंद्रीय प्रशासन के सद्र-उस-सुदूर के निर्देशानुसार कार्य किया करता था। कभी-कभी इस पद पर प्रांतीय सद्र भी कार्य किया करता था।

मीर वहर व मीर वर्र : प्रांत में नवाड़े या बड़ी नौकाओं का प्रबंधक प्रांतीय मीर वहर होता था। वह बंदरगाहों व नदियों के किनारे ली जाने वाली चुंगी, नाव कर, घाट कर इत्यादि वसूल करता था। वह जल यातायात, पुलों इत्यादि का भी प्रबंध करता था। कभी-कभी वह मीर वर्र, जो कि सार्वजनिक सेवा विभाग या निर्माण विभाग का अधीक्षक होता था, का भी कार्य देखा करता था।

कोतवाल : प्रांतीय राजधानी का प्रशासन कोतवाल के द्वारा होता था। उसके कार्यों का विवरण स्थानीय प्रशासन के संदर्भ में दिया गया है।

मुगलकाल में प्रांतीय शासन की कुछ विशेषताएं थीं। प्रांतीय शासन के प्रमुख अधिकारी सूबेदार के अधीन कार्य किया करते थे, किंतु कई महत्वपूर्ण विषय में वे केंद्रीय प्रशासन के प्रतिरूप अधिकारी के प्रति उत्तरदायी होते थे। अकबर ने शक्ति संतुलन की नीति अपना कर प्रांतीय अधिकारियों की शक्ति नियंत्रित कर दी। किसी भी परिस्थितियों में वे शक्तिशाली नहीं बन सकते थे। सूबेदार व दीवान एक दूसरे के प्रतिद्वंद्वी थे। परंतु दोनों एक-दूसरे पर अंकुश लगाए रखते थे। प्रांतीय बख्शी जिसके अंतर्गत गुप्तचर विभाग रहता था, से सभी अधिकारी सतर्क रहते थे। सभी प्रांतीय अधिकारियों का समय-समय पर स्थानांतरण होता रहता था, जिससे वे अपने क्षेत्र शक्तिशाली नहीं हो सकते थे। केंद्र व प्रांत के गुप्तचरों के द्वारा उसके कार्यों की सूचनाएं सम्राट को मिलती रहती थीं। यदि वे अत्याचारी बेईमानी व कर्तव्यहीन पाए जाते थे तो उन्हें सेवा से वंचित कर दिया जाता था। मुगल सम्राट स्वयं समय-समय पर साम्राज्य के विभिन्न भागों का दौरा किया करते थे जिससे प्रांतीय कर्मचारी बराबर सतर्क रहते थे। केंद्रीय प्रशासन का पूर्ण नियंत्रण प्रांतों के शासन पर था।

स्थानीय प्रशासन : मुगलकाल की स्थापना से पूर्व उत्तरी भारत में सरकार नामक प्रशासनिक इकाई की उत्पत्ति हो चुकी थी। शेरशाह के समय संपूर्ण साम्राज्य सरकारों

टिप्पणी

में विभाजित था। प्रत्येक सरकार में दो प्रमुख अधिकारी– (1) शिकदार-ए-शिकदारान (2) मुंसिफ-ए-मुंसिफान दीवानी व न्यायिक मामलों की देख-भाल करने के लिए होते थे। अकबर ने इस व्यवस्था में कुछ सुधार किए। उसने अपने साम्राज्य के सभी सूबों को सरकारों में विभाजित किया। एक प्रांत में कितनी सरकारी होंगी, उनकी संख्या प्रांत की भौगोलिक स्थिति विशालता तथा प्राशासनिक सुविधा पर निर्भर करती थी। प्रांतों का सरकारों में विभाजन प्रशासनिक एवं वित्तीय आवश्यकता के कारण किया गया था। 1600 ईस्वी के लगभग अकबर के साम्राज्य में (अहमदनगर को छोड़कर) 124 सरकारें थीं। जिस प्रकार कि प्रांत में दीवान व न्यायिक अधिकारियों के मध्य अंतर था उसी प्रकार से सरकार में भी अंतर दृष्ठिगोचर होता है। परंतु दोनों ही श्रेणियों के अधिकारी मिल-जुल कर कार्य किया करते थे।

प्रत्येक सरकार में निम्नलिखित प्रमुख अधिकारी होते थे, जैसे कि फौजदार, अमलगुजार, या आमिल, काजी, वितिकची, खजानादार तथा कोतवाल।

फौजदार : सरकार का प्रमुख प्रशासनिक अधिकारी फौजदार होता था। उसकी नियुक्ति सम्राट किया करता था। सरकार में वह सम्राट व सूबेदार के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता था। उसी के माध्यम से सम्राट सरकार की जनता के संपर्क में रहता था व उसके ऊपर नियंत्रण रखता था। उसके द्वारा भेजी गई सूचनाएं सम्राट के सम्मुख पढ़ी जाती थी। जिस समय इसकी नियुक्ति होती थी उस समय उसे परामर्श दिया जाता था कि कार्यभार ग्रहण करने के उपरांत वह सरकार में रहने वाले व्यक्तियों से संपर्क स्थापित करे, वहां के विषय में पूर्ण जानकारी प्राप्त करे व आवांछित तत्वों के बारे में सूचना प्राप्त करे। जैसा कि उसके पद के शीर्षक से ज्ञात होता है, वह एक सेनापति होता था। उसका कार्य सरकार में विद्रोहियों का दमन करना व शांति बनाए रखना था। इस प्रकार उसे सरकार की सेना का प्रबंध करना पड़ता था, सैनिकों को चुस्त रखना पड़ता था, सेना की व्यवस्था करनी पड़ती थी, स्थानों का प्रबंध करना पड़ता था, लोहारों को अवैध अस्त्र-शस्त्र बनाने से रोकना पड़ता था तथा थानेदारों को जनता से क्रूरतापूर्वक अवैध कर वसूल करने से रोकना पड़ता था तथा थानेदारों का प्रबंध करना पड़ता था, उसे ग्रामों व शहरों में शांति एवं सुव्यवस्था स्थापित करनी पड़ती थी, छोटे-मोटे विद्रोहों को दबाना पड़ता था, चोरों व डकैतों को पकड़ना पड़ता था, राजमार्गों की सुरक्षा करनी पड़ती थी, जंगलों को कटवाना पड़ता था, गढ़ियां तुड़वानी पड़ती थीं। यात्रियों व व्यापारियों की रक्षा करनी पड़ती थी तथा कृषकों को सुविधाएं प्रदान करनी पड़ती थी। यह सभी कार्य वह अपने कर्मचारियों व सैनिकों की सहायता से संपन्न किया करता था।

फौजदार को भू-राजस्व वसूल करने वाले अमलगुजार आमिल या करोड़ी को खालसा भूमि तथा जगीरों में भू-राजस्व करने में सहायता पहुंचानी पड़ती थी, ताकि विद्रोही जमींदारों तथा भू-राजस्व देने वाले कृषकों से भू-राजस्व वसूल किया जा सके। वह इन तत्वों के विरुद्ध सेना का तभी प्रयोग कर सकता था जब तक की अतिआवश्यक न हो। जब उसकी कूटनीति व शांतिपूर्ण ढंग असफल हो जाते थे तभी वह उनके विरुद्ध सेना का प्रयोग करता था। साधारणता वह मन्सब तथा न्यायिक विषयों में हस्तक्षेप नहीं करता था।

अमलगुजार या आमिलि : सरकार में दीवान-ए-सूबा के समकक्ष भू-राजस्व व्यवस्था का प्रबंध करने वाला अधिकारी अमलगुजार होता था। उसकी नियुक्ति केंद्र द्वारा

टिप्पणी

होती थी। वह सरकार में भू-राजस्व विभाग का प्रमुख अधिकारी होता था परंतु वह दीवान-ए-सूबा के निर्देशन पर कार्य किया करता था। खालसा भूमि के अतिरिक्त मदद-ए-माश भूमि तथा जागीर की भूमि पर उसका अधिकार था। मदद-ए-माश भूमि में घपला होने पर वह उसे राजसत् कर सकता था। वह कृषकों के संपर्क में रहता था व अधिकारीगण से उन्हें सुरक्षित रखता था। वह उन्हें खेती करने के लिए प्रोत्साहित करता था। उन्हें अधिक से अधिक भूमि जोतने व बोने के लिए प्रेरित करता था। उन्हें तकाबी देना तथा उनसे समय पर तकाबी वसूल करना उसका कार्य था। उसका प्रमुख कार्य भूमि की पैमाइश कराना, लगान निर्धारित करना था। भूमि की पैमाइश होने के बाद वह भूमि की उर्वरता व फसल का मूल्य मालूम करता था। वह कृषकों को उत्तम प्रकार की फसलें उगाने के लिए प्रेरित करता था। प्रत्येक वर्ष वह उन्हें सुविधाएं प्रदान करता था। कृषकों से अवैध कर या उपहार लेने की उसे मनाही थी। उसे अधिकार था कि वह कृषकों पर जब्ती प्रथा के नियम लागू न करके उनसे बटाई या अन्य किसी प्रणाली के अंतर्गत आधी फसल पर भू-राजस्व का आकलन करे या उन्हें नकद या अनाज में लगान देने की छूट दे।

अमलगुजार का प्रमुख कार्य भू-राजस्व वसूल करना भी था। उसे निर्देश थे कि वह विद्रोही या बेईमान कृषकों के साथ कठोरतापूर्वक व्यवहार करे। भू-राजस्व एकत्र करने में उसकी सहायता गांव का मुखिया करता था जिसे कि कुल लगान का ढाई प्रतिशत पारिश्रमिक के रूप में मिलता था। अच्छी फसल होने पर वह पूर्ण भू-राजस्व वसूल करने का अधिकारी था। रबी व खरीफ की फसलों में भू-राजस्व क्रमशः होली व दशहरा के बाद वसूल किया जाता था। सरकार के कोष में जमा होने वाले लगान, उसके हिसाब, उसकी सुरक्षा के लिए वह उत्तरदायी होता था। उसे प्रतिदिन की आय-व्यय का हिसाब तथा 2 लाख दाम कोष में जमा होने पर केंद्र को भेजना पड़ता था। प्रत्येक 15 दिनों में उसे केंद्रीय दीवान के पास सर्वेक्षण व राजस्व के आकलन का ब्योरा भेजना पड़ता था। प्रतिमाह वह कृषकों की दशा आदि के संबंध में रिपोर्टें भेजा करता था। जब कभी सरकार के मुख्यालय में कोतवाल अनुपस्थित रहता था तो वह उसके कार्य को भी देखता रहता था।

वितिक्ची : प्रत्येक सरकार में एक वितिक्ची या हिसाब लिखने वाला अधिकारी होता था। वह भूमि संबंधी आंकड़े रखता था। अमुक कृषक के पास कितनी भूमि है, किस किस्म की भूमि है, उसे कितना लगान देना होगा, गांव का अनुमानित लगान कितना है इन सभी बातों का हिसाब उसे रखना पड़ता था। उसके द्वारा तैयार किए गए ब्योरे के आधार पर ही अमलगुजार भू-राजस्व वसूल करता था। वह बकाया लगान, वसूल किए गए लगान इत्यादि का भी ब्योरा अमलगुजार को देता था उसकी एक प्रति केंद्र को भेजता था।

खजांची : सरकार के राजकोष का अधिकारी खजानादार या खजांची होता था। वह कृषकों से लगान लेकर उन्हें रसीद देता था। वह प्रतिदिन संध्या समय दिन भर की वसूली का हिसाब करता था, उसे बहीखाते में लिखता था और बहीखाते पर अमलगुजार के हस्ताक्षर करवाता था। बिना प्रांतीय दीवान के आदेश के वह कोई बड़ा भुगतान नहीं कर सकता था। जो छोटा-मोटा भुगतान वह करता भी था तो उसकी सूचना तत्काल व प्रांतीय दीवान के पास भेज दिया करता था। सरकार के राजकोष पर अमलगुजार व खजांची का ताला लगता था। दोनों की सहमति के बिना खजाने से धन नहीं निकाला जा सकता था। खजांची की सहायता के लिए अनेक कारकून व कर्मचारी होते थे।

टिप्पणी

काजी-ए-सरकार : प्रत्येक सरकार में एक काजी हुआ करता था। उसकी नियुक्ति सद्र-उस-सुदूर किया करता था। वह एक धार्मिक व्यक्ति विद्वान व धार्मिक ग्रंथों का ज्ञाता होता था। उसका मुख्य कार्य न्यायिक होता था परंतु वह अनेक अन्य कार्य भी किया करता था। वह धार्मिक मुकदमों का फैसला करता था तथा उत्तराधिकार-विवाह संबंधी व तलाक के मुकद्दमे इस्लामी कानून के अनुसार तय किया करता था। उसकी सहयाता मुफती, जो इस्लामी कानून का विशेषज्ञ हुआ करता था, किया करता था। गैर-न्यायिक विषय संबंधी वह निम्नलिखित कार्य किया करता था। वह धार्मिक कार्यों के लिए धन को नियंत्रित करता था, गरीबों की मदद करता था। वह मदद-ए-माश प्राप्त कर्त्ताओं को धन दिया करता था, वह जजिया तथा जकात वसूल किया करता था। वह मस्जिदों की देखभाल किया करता था, शुक्रवार की नमाज व ईद की नमाज का नेतृत्व किया करता था तथा मुसलमानों के विवाह संपन्न करवाता था।

परगने का प्रशासन : कई गांवों को मिलाकर एक परगना बनता था। सल्तनत काल में विशेषकर मुहम्मद तुगलक के काल में इब्नबतूता के अनुसार गांवों के समूह को सदी कहा जाता था। शेरशाह ने परगना के शासन को सुव्यवस्थित किया। उसने प्रत्येक परगने में एक शिकदार व एक मुंसिफ की नियुक्ति की। वहां उसने एक फोतादार (खजांची) तथा दो कारकून (लिपिक) भी नियुक्त किए, जो कि नागरीलिपि व फारसी में हिसाब रखते थे।

अकबर ने कुछ परिवर्तनों के साथ परगने का शासन सुव्यवस्थित किया। उसने परगने की सीमाएं भौगोलिक व परंपराओं के आधार पर निर्धारित की। अकबर के शासनकाल के अंत में लगभग 5,000 परगने या महाल थे। परगने में निम्नलिखित मुख्य अधिकारी होते थे-

शिकदार : परगने का प्रमुख प्रशासक शिकदार होता था। उसका मुख्य कार्य परगने में शांति एवं व्यवस्था स्थापित करना, लगान वसूल करने में आमिल की सहायता करना, प्रशासन के आदेशों व निर्णय को कार्यान्वित करना था। वह परगने में आने वाले लोगों की सूचना रखता था। वह फौजदारी के मुकदमों का फैसला भी किया करता था। वह परगने में जनगणना भी किया करता था।

आमिल : आमिल का कार्य परगने में भूमि का सर्वेक्षण करना, भू-राजस्व का आकलन करना, भू-राजस्व वसूल करना, कृषि का विस्तार करना, तथा कृषकों के हितों की रक्षा करना था।

कानूनगो : परगने के राजस्व संबंधी हिसाब-किताब कानूनगो रखता था। उसका कार्य आकलन की सूचियां, भू-राजसव का हिसाब, व कृषकों के पास की भूमि का ब्योरा रखना था।

खजानादार : परगने के खजांची को फोतादार या खजानादार भी कहते थे। यह परगने के कोष का मुख्य अधिकारी होता था। वह कृषकों से राजस्व लेकर उन्हें रसीद देता था। वह परगना कोष का हिसाब रखता था। उसका कर्तव्य हिसाब के ब्योरे को सरकार के खजांची के पास भेजना था।

अमीन : परगने के अमीन का कर्तव्य संपूर्ण कृषि-भूमि का हिसाब रखना तथा नियमों के अनुसार उनका लगान निर्धारित करना, कृषकों को पट्टा देना तथा उनसे कबूलियत प्राप्त करना था। उसका कार्य वर्जित करों को वसूल किए जाने से रोकना था।

टिप्पणी

चौधरी : यह भू-राजस्व प्रशासन से संबंधित परगना अधिकारी होता था। उसका प्रमुख कार्य लगान वसूल करना था। वह मुकद्दम की सहायता से कृषकों में तकाबी वितरित करता व उनसे वापस लिया करता था. वह ध्यान रखता था कि कानूनगो भू-राजस्व संबंधित कागजात समय-समय पर प्रांत के दीवान के पास भेज रहा है या नहीं। उसे परगने के वसूल किए गए भू-राजस्व का ढाई प्रतिशत दस्तूरी में मिलता था। उसे कृषकों से एक प्रतिशत कमीशन भी वसूल करने का अधिकार था।

करकुन : उसका कार्य परगने के हिसाब-किताब को लिखना था।

गांव का प्रशासन : प्रत्येक परगना कई गांवों में विभाजित होता था। इस काल में अधिकांश जनता गांव में ही रहती थी। गांव के प्रमुख अधिकारी चौधरी या मुकद्दम कहलाते थे। वे बहुधा गांव में ही रहते थे। गांव के कृषकों से लगान वसूल करते थे। इसके लिए उन्हें गांव के भू-राजस्व में से ढाई प्रतिशत दस्तूरी मिलती थी। उसका कार्य गांव में शांति बनाए रखना भी होता था। वह तकाबी भी बांटा करता था। गांव में दूसरा महत्वपूर्ण कर्मचारी पटवारी हुआ करता था। वह कृषकों से वसूल किए जाने वाले लगान, कृषि भूमि, आदि का ब्योरा रखता था। उसे गांव के लगान में से 1 प्रतिशत दस्तूरी मिलती थी। गांव के अन्य कर्मचारियों में चौकीदार, सीमापाल, तालाब, जलाशयों के अधीक्षक, पुरोहित आदि होते थे, जिन्हें उपज का एक भाग जीविकोपार्जन के लिए मिलता था। गांव की पंचायत की गांववासियों के पारस्परिक झगड़ों व मुकदमों को तय करती थी।

शहर का प्रशासन : प्रत्येक शहर में शांति एवं सुरक्षा के लिए कोतवाल होता था। संपूर्ण शहर मुहल्लों में विभाजित होता था। प्रत्येक मुहल्ले के निवासियों की सूची उसके पास रहती थी। वह नगर में आने जाने वालों की सूची भी रखता था। वह अपने गुप्तचरों की सहायता से नगरवासियों की गतिविधियों की जानकारी प्राप्त करता था। वह अभियुक्तों को दंड भी दिया करता था। इस प्रकार उसे नगर की व्यवस्था बनाए रखने के लिए अनेक कार्य करने पड़ते थे।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि मुगलों का प्रांतीय शासन पूर्णत: संगठित व व्यवस्थित था। प्रांत व उसकी विभिन्न इकाइयों के अधिकारियों पर केंद्रीय प्रशासन का पूर्ण नियंत्रण रहता था। उच्च अधिकारियों के समय-समय पर स्थानांतरण के कारण तथा शक्ति संतुलन की नीति के कारण कोई भी अधिकारी अपने अधिकारों का दुरुपयोग करने में समर्थ न था। यदि वह अपने अधिकारों कि सीमा से बाहर जाता था तो उसके परिणाम वह भलीभांति समझता था। सभी प्रशासनिक इकाइयों में एक अधिकारी पर दूसरे अधिकारी का अंकुश लगा रहता था। प्रशासन का मुख्य शांति को बनाए रखना व जनकल्याण करता था।

मुगल सम्राटों के विशेषाधिकार

एक प्रबल, शक्तिशाली व गौरवमयी शासक के लिए यह अनिवार्य था कि उसकी प्रतिष्ठा की रक्षा हो। यह प्रतिष्ठा उसे विशेष आरक्षित विशेषाधिकारों द्वारा मिलती थी। कुछ ऐसे विशेष अधिकार होते थे जो कि केवल सम्राट के लिए ही आरक्षित रहते थे। कोई भी राजकुमार, अमीर या व्यक्ति, चाहे वह कितने ही उच्च पद पर क्यों न हो। इनमें से किसी भी अधिकार का प्रयोग नहीं कर सकता था। यदि वह ऐसा करता था तो दंड का भागी

टिप्पणी

बनता था। इन विशिष्ट अधिकारों को कई श्रेणियों में बांटा जा सकता है– (1) वे विशिष्ट अधिकार जिनका संवैधानिक एवं प्रशासनिक महत्व था। (2) वे विशिष्ट अधिकार जो दरबारों नियम व शिष्टाचार से संबंधित थे। (3) वे विशिष्ट अधिकार जो कि आखेट व युद्ध में लूट के माल से संबंधित थे।

संवैधानिक एवं प्रशासनिक महत्व के विशिष्टाधिकार

(1) **खुतबा पढ़वाना :** सम्राट का विशिष्ट एवं प्रमुख अधिकार था। सम्राट के सिंहासनारोहण पर खातिब उसका नाम खुतबा में पढ़ा करता था। तत्पश्चात सम्राट का नाम प्रत्येक शुक्रवार के दिन नमाज से पूर्व या दोनों ईदों के अवसर या अन्य उत्सवों पर खुतबा में विशेष रूप से पढ़ा जाता था। सर्वप्रथम ईश्वर की प्रार्थना की जाती थी, फिर सम्राट के लिए दीर्घजीवी व समृद्धशाली की प्रार्थना की जाती थी, तत्पश्चात उसकी आदर्शनीति का बखान किया जाता था और अंत में मुसलमान समाज के कल्याण के संबंध में उपदेश दिए जाते थे। शुक्रवार की नमाज के पूर्व खुतबा पढ़ा जाता था, शेष अवसरों पर नमाज के बाद सम्राट के अतिरिक्त कोई अन्य व्यक्ति अपना नाम खुतबा में नहीं पढ़ सकता था और ना ही सम्राट का नाम खुतबा में पढ़ सकता था। यदि कोई ऐसा करता था तो उसे विद्रोही माना जाता था। किसी राजकुमार या अमीर का नाम खुतबा में पढ़ना राजद्रोह था। खुतबा में शासक के नाम को पढ़वाने से रोकना भी अपराध था।

(2) **सिक्का निकलवाना :** सम्राट का दूसरा विशेष अधिकार अपने सिंहासनारोहण पर अपने नाम के सिक्के निकलवाना था। कोई अन्य व्यक्ति सम्राट के नाम के स्थान पर अपने नाम के सिक्के नहीं निकलवा सकता था। सम्राट का सभी शाही टकसालों पर अधिकार था अत: उन टकसालों में उसी के नाम के सिक्के निकाले जाते थे। यदि वह चाहता था तो इन सिक्कों पर उसकी मुख्य पत्नी या रानी का नाम भी अंकित कर दिया जाता था। केवल सम्राट को ही सिक्कों के भार तय करने, अपनी उपाधियों या अनुश्रुतियां अंकित करवाने का अधिकार था।

(3) **झरोखा-दर्शन :** हिंदू शासक सूर्योदय के होते ही झरोखे में खड़े होकर प्रजा को दर्शन दिया करते थे। हिंदुओं के प्रभाव में आने के उपरांत अकबर ने झरोखा दर्शन की परंपरा प्रारंभ की। प्राय: की नामजें पढ़ने के उपरांत अकबर ने 24 घंटे में एक बार झरोखे में उपस्थित होकर अपनी प्रजा के सभी वर्गों को दर्शन देने की प्रथा चालू की। वह लगभग 45 मिनट तक यहां बैठता था। इस अवसर पर हजारों व्यक्ति उसके दर्शन किया करते थे। अकबर उनकी फरियादें भी यहीं सुना करता था। झरोखादर्शन की यह प्रथा औरंगजेब के शासनकाल के ग्यारहवें वर्ष तक ज्यों की त्यों बनी रही। तत्पश्चात औरंगजेब ने एक विशाल जनसमूह को दर्शन देने के स्थान पर न्याय कार्य करने में समय व्यतीत करना प्रारंभ किया।

(4) **उपाधियों को धारण करना :** सम्राट का यह विशिष्टाधिकार था कि वह सिंहारनारोहण पर अपनी नई पदवी या उपाधि धारण करे। बाबर के पूर्वजों की उपाधियां मिर्जा व सुल्तान थी। 1505 में बाबर ने बादशाह की उपाधि धारण की। खनवा के युद्ध के पश्चात उसने गाजी की उपाधि ग्रहण की। अपनी महानता प्रकट करने के लिए मुगल सम्राटों ने अल सुल्तान आजम (महान सुल्तान) अलखाकान

टिप्पणी

अल मुअज्जम (सुप्रसिद्ध सम्राट) अल सुल्तान अल अली खलीफात अलमुता अली (महान सुल्तान एवं प्रतिष्टित खलीफा) साहिब-ए-किरानसानी, जहांगीर (विश्वविजेता) शाहजहां (विश्व का शासक) आलमगीर (विश्वविजेता) की उपाधियां धारण कीं। उपाधियों के वितरण करने का विशिष्टाधिकार केवल सम्राट को ही था। केवल वही अपने अमीरों, गणमान्य व्यक्तियों, विद्वानों, कालाकारों, साहित्यकारों, व्यक्तियों इत्यादि को उपाधियों से विभूषित कर सकता था। किसी भी सूबेदार या प्रांतीय गवर्नर या राजकुमार या अन्य व्यक्तियों को अपने सेवकों या कर्मचारियों को उपाधि देने का अधिकार न था।

(5) **सूबेदारों व अधिकारियों की नियुक्तियां :** करने का आधिकार भी केवल सम्राट को था। सम्राट ही समय-समय पर सूबेदारों या प्रांतपतियों तथा अधिकारियों कि नियुक्तियां कर सकता था। वही उनकी पदोन्नतियों, स्थानांतरण या पदच्युत किए जाने के संबंध में आदेश दिया करता था।

(6) **बहुमूल्य रत्न रखने का अधिकार :** केवल सम्राट को ही बहुमूल्य रत्न प्राप्त करने व उन्हें रखने का अधिकार था। उसके अतिरिक्त कोई भी व्यक्ति बिना उसकी पूर्व अनुमित के बहुमूल्य रत्न या आभूषण क्रय नहीं कर सकता था और न ही अपने पास रख सकता था।

(7) **अंधा करने, शरीर के किसी भाग को काट डालने तथा मृत्युदंड देने का अधिकार :** यह अधिकार केवल सम्राट को ही था। कोई अन्य व्यक्ति दंड स्वरूप अभियोगियों को अंधा करने या शरीर के कुछ भाग को कटवाने या उसे मृत्यु-दंड देने का अधिकारी नहीं होता था।

(8) **धर्म परिवर्तन :** यह अधिकार केवल सम्राट को ही होता था। कोई भी सूबेदार जबरदस्ती किसी व्यक्ति का धर्म परिवर्तन नहीं करा सकता था, उसे इस्लाम धर्म स्वीकार करने पर बाध्य नहीं कर सकता था।

(9) **युद्ध में प्राप्त हाथी पर अधिकार :** यह भी केवल सम्राट का ही अधिकार हुआ करता था। कोई भी अमीर यदि इस नियम का उल्लंघन करता था तो उसे दंड दिया जाता था।

दरबार के शिष्टाचार व कार्रवाई से संबंधित विशिष्ट अधिकार

(1) **चौकी-ए-तसलीम या चौकी :** अकबर ने अमीरों को आदेश दिया कि वे अपने सैनिकों के साथ निर्धारित समय तक दिन-रात महल के चारों ओर पहरा दें तथा उसकी रक्षा करें व महल की ओर मुख करके अभिवादन करें। जब कभी आवश्यकता हो तो वे शाही संदेशवाहक का भी कार्य करें। प्रत्येक दिन उनकी डड्यूटी में परिवर्तन किया जाता था तो वे उसका अभिवादन (तसलीम) करके उसे सहर्ष स्वीकार करते थे।

(2) **तसलीम व कोरनिश :** यह दो प्रकार से अभिवादन करने के ढंग थे। तसलीम व कोरनिश केवल सम्राट के सम्मुख ही करने की परंपरा थी। राजकुमार व अमीर तसलीम द्वारा ही सम्राट का अभिवादन करते थे । सम्राट का अभिवादन करने का दूसरा ढंग कोरनिश था। दोनों ही प्रकार के अभिवादन सम्राट को छोड़कर कोई अन्य व्यक्ति नहीं करवा सकता था।

टिप्पणी

(3) **नौबत :** केवल सम्राट को ही अधिकार था कि वह रात-दिन वादकों से नौबत बजवाए। सम्राट के नौबत खाने से पौ फटने से पूर्व तथा प्रत्येक तीन घंटे के अंतराल पर नौबत बजा करता थी। इसी प्रकार नक्कारा बजवाना भी सम्राट का विशेष अधिकार था। परंतु यदा-कदा सम्राट यह अधिकार अपने राजकुमारों या अमीरों को भी प्रदान कर दिया करता था।

(4) **राजचिह्न**- राजचिह्न चार प्रकार के होते थे- (1) औरंग या सिंहासन (2) छत्र या जड़ाऊ चंदवा (3) सायवान या आफताब और (4) कौकवाह सितारा। ये चारों राजचिह्न केवल सम्राट के प्रयोग के लिए ही होते थे। इनके अतिरिक्त अन्य प्रकार के राजचिह्नों में पताकाएं होती थीं। जब सम्राट राजधानी से बाहर निकलता था तो कम-से-कम 5 पताकाएं लिए हुए कर्मचारी उसकी सवारी के आगे चलते थे। दूसरा राजचिह्न माहीमरातिव (पताका जिस पर मछली बनी रहती थी) होता था।

(5) **उच्च स्थान पर बैठना :** केवल सम्राट का यह अधिकार था कि दरबार में या प्रजा को दर्शन देते समय वह उच्च स्थान पर बैठे। किसी भी अमीर या राजकुमार को ऊंचे स्थान पर बैठकर कर्मचारियों या प्रजा से अभिवादन स्वीकार करने की अनुमति न थी।

(6) **तुलादान :** अकबर ने अपने जन्मदिन पर सौर्य व चंद्र वर्ष के हिसाब से वर्ष में दो बार तुलादान करने की परंपरा प्रारंभ की। केवल सम्राट को ही स्वर्ण से अपना तुलादान करने का अधिकार था।

(7) **मुहर व पंजा :** सभी राजकीय प्रपत्रों पर एवं सम्राट के पत्रों पर सम्राट की ही मुहर या उसका पंजा लगाया जाता था। केवल सम्राट ही फरमान जारी कर सकता था। किसी भी राजकुमार या अमीर को यह अधिकार न था कि व अपने पत्रों में अपनी मुहर या पंजा लगाए।

(8) **पालकी में बैठना :** केवल सम्राट को ही यह अधिकार था कि वह पालकी में बैठकर जामा मस्जिद नमाज पढ़ने के लिए जाए। अन्य लोग पैदल ही जाया करते थे।

(9) **आगे चलना :** मुगल परंपरा के अनुसार अमीरों व राजकुमारों के लिए यह अनिवार्य था कि जब भी सम्राट आखेट से या अभियान या सैर-सपाटे से लौटकर राजधानी में प्रवेश करें तो वरिष्ठ अमीर या राजकुमार आगे बढ़कर उसका अभिवादन व स्वागत करे। केवल सम्राट को यह अधिकार था कि उसके पीछे-पीछे राजकुमार व अमीर चलें। कोई भी सूबेदार या अमीर राजकीय अधिकारियों को पैदल अपने दल के साथ नहीं ले जा सकता था।

आखेट तथा युद्ध से प्राप्त संपत्ति संबंधी अधिकार

(1) **गज युद्ध :** केवल सम्राट को ही गज युद्ध आयोजित करवाने का अधिकार था। यह अधिकार किसी भी सूबेदार व अमीर को न था।

(2) **शिकार कमरगाह :** एक प्रकार का आखेट था, जो कि केवल सम्राट के लिए आरक्षित था। इसके अंतर्गत एक विशाल क्षेत्र में जंगली जानवर चारों ओर से घेर कर संकरे दायरे में लाए जाते थे तदुपरांत सम्राट इन जानवरों का शिकार किया करता था। कमरगाह शिकार केवल सम्राट ही खेल सकता था। इसी प्रकार से शेर का शिकार केवल सम्राट और उसकी अनुमति से राजकुमार ही कर सकते थे।

टिप्पणी

मुगल सम्राटों की दिनचर्या

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि मुगल शासन प्रणाली की संपूर्ण मुगल सम्राट में केंद्रित थी। बिना उसकी सहमति, स्वीकृति तथा अनुमति के कोई भी महत्वपूर्ण निर्णय नहीं लिया जा सकता था। वह सेना का प्रधान सेनापति, मुख्य न्यायाधीश तथा कार्यकारिणी का प्रमुख अधिकारी था। प्रशासन का केंद्र बिंदु वही था। राज्य के सभी कार्य उसके निर्देशन व आदेशानुसार होते थे। उसकी दृष्टि शाही महल, वित्त, केंद्रीय प्रशासन, प्रांतीय शासन, न्याय, सैन्य व्यवस्था, व्यापार, कृषकों की दशा, विदेश नीति, युद्ध व शांति संबंधी विषयों इत्यादि अनेक विभागों व विषयों पर रहती थी। चूंकि सभी राज कर्मचारियों, अमीरों, मनसबदारों की नियुक्तियां वही करता था अत: वे अपनी पदोन्नतियों के लिए उसी पर निर्भर रहा करते थे। राजकार्य की विशालता को देखते हुए सम्राट के लिए नितांत आवश्यक था कि वह अपना अधिक से अधिक समय शासन तंत्र को संचालित करने में लगाए व उसी के अनुरूप अपनी दिनचर्या निर्धारित करे।

बाबर व हुमायूं के पास कभी भी इतना समय नहीं था कि वे नियमित ढंग से शासन तंत्र को संचालित करने के लिए अपनी दिनचर्या निर्धारित करते। शेरशाह ने अपने शासनकाल में सुनिश्चित दिनचर्या का पालन कर अकबर के लिए उदाहरण प्रस्तुत किया। शेरशाह प्रतिदिन प्रात: की नमाज से निवृत्त होकर सरकारी अधिकारियों व कर्मचारियों को बुलाता था तथा दिन की समस्त घटनाओं को सुनता था। चार घंटे तक वह पत्र व्यवहार इत्यादि सुनता था। चाहे वे राजकीय विभागों के हो या अन्य प्रांतों या प्रदेशों के वह उन्हें एक-एक कर सुनता था। उसके पश्चात वह अगले दिन के कार्यों के संबंध में आदेश देता था। अधिकारी उन आज्ञाओं को लिखकर अपने पास रख लेते थे और वे उसी के अनुसार कार्रवाई करते ते। फजर की नमाज के समय तक शेरशाह इसी कार्य में व्यस्त रहता था। वह दो घड़ी तक नमाज पढ़ता था उसके बाद अमीरों व अधिकारियों का अभिवादन स्वीकार करता था। उसके बाद वह आदेश देता था। वह सैनिकों को स्वयं भर्ती किया करता था और उनका वेतन भी निर्धारित करता था। इस प्रकार से वह दिन भर कुछ न कुछ कार्य करता रहता था। अन्य क्षणों में हिसाब-किताब सुनता था तथा प्रत्येक नगर से वहां जो सामान आता था, उस सामान के बारे में या कर के बारे पूछ-ताछ करता था। इसी समय प्रांतों व प्रदेशों से आए हुए प्रार्थनापत्र वह सुनता था और उनके उत्तर लिखवाया करता था। इसी समय वह नव-आगंतुकों से भेंट करता था। जब तीन चार घंटे व्यतीत हो जाते थे तो वह विद्वानों व शेखों के साथ बैठकर खाना खाता था। भोजन के पश्चात वह पूर्वत: कार्यों में व्यस्त हो जाता था और मध्याह्न तक कार्य करता था। उसके बाद वह शयन कक्ष में जाकर सो जाता था। निद्रा के पश्चात वह जुहर की नमाज पढ़ता था। उसके बाद वह पुन: राजकार्य में व्यस्त हो जाता था।

अकबर महान ने राज्य संचालन व संगठन के लिए अपनी दिनचर्या निर्धारित की। वह बराबर इस दिनचर्या का पालन करता रहा। वह कभी भी अपना समय बर्बाद या अपने कर्तव्य से विमुख न होता था। अबुल फजल के अनुसार अपने पुत्र के प्रति कर्तव्यों का पालन करना ही शासकों द्वारा ईश्वर की उपासना था। इस आदर्श को प्राप्त करने के लिए उसने राजकार्य संपन्न करने के हेतु अपनी दिनचर्या में कुछ परिवर्तन अवश्य किए परंतु उनकी दिनचर्या निर्धारित थी जिनका वे पालन करते थे।

अकबर सूर्योदय होने से लगभग दो घंटे पूर्व उठ जाता था। कुछ समय वह चिंतन, मनन व प्रार्थना में व्यतीत करता था उसके उपरांत नित्य क्रम से निवृत्त होकर वह नमाज

टिप्पणी

पढ़ता था, फिर वस्त्र पहन कर तैयार हो जाता था। सूर्योदय के समय वह झरोखा में उपस्थित होकर लोगों को अपने दर्शन दिया करता था। झरोखा दर्शन का समय चार घंटे होता था। यहां से वह हरम में विश्राम करने के लिए चला जाता था।

हरम में महिलाएं अपनी समस्याएं उसके सम्मुख रखती थीं। इन समस्याओं को सुनकर वह निर्णय व आदेश देता था। इसके उपरांत वह कुछ भोजन कर विश्राम करता था। तीसरे पहर अकबर शाही अस्तबल के पशुओं व कारखानों का निरीक्षण करता था, वह आवश्यक निर्देश दिया करता था। इस कार्य में लगभग डेढ़ घंटे व्यतीत करता था।

अकबर के समय दीवान-ए-आम व खास कभी सायंकाल और कभी रात्रि में हुआ करता था। जब कभी दरबार के समय में परिवर्तन होता था तो उसकी पूर्व सूचना नक्कारा बजाकर दी जाती थी। अकबर रात्रि में अत्यंत विश्वसनीय परामर्शदाताओं के साथ बैठकर विचार करता था। यह बैठक अनौपचारिक होती थी, अतएव इसमें लोगों को बैठने की अनुमति दे दी जाती थी। इस बैठक में साम्राज्य की समस्याओं पर विचार-विमर्श होता था। उसके पश्चात उन समस्याओं पर निर्णय लिए जाते थे। प्रशासनिक कार्य समाप्त होने के उपरांत यह बैठक विद्वानों की सभा में परिणित हो जाती थी। इस गोष्ठी में विद्वानों, कवियों, साहित्यकारों धर्मशास्त्रियों से विविध विषयों पर चर्चा होती थी। इसके बाद अकबर नमाज पढ़कर अपने शयनकक्ष में सोने के लिए चला जाता था।

जहांगीर ने भी अकबर द्वारा निर्धारित दिनचर्या अनुसरण किया। वह भी प्रातः उठकर दैनिककार्य से निवृत्त होकर नमाज पढ़ने के उपरांत झरोखा दर्शन के लिए उपस्थित होता था। वह यहां सर्वसाधारण के आवेदन व शिकायतें स्वीकार कर उन पर आदेश देता था। उसके बाद वह दरबार में उपस्थित होकर गजयुद्ध देखा करता था या जानवरों या सैनिकों का निरीक्षण किया करता था। मध्याह्न के समय वह दरबार में उपस्थित होकर राजकार्य करता था। यहां वह राजकुमारों तथा सूबेदारों की अर्जियां सुनता था व उन पर आदेश देता था। इसी समय बख्शी मनसबदारों की अर्जियां उसके सम्मुख प्रस्तुत करते थे। अकबर की भांति जहांगीर भी रात्रि में गोष्ठियां करता था।

शाहजहां सूर्योदय के लगभग दो घंटे पूर्व उठ जाता था। नित्यकर्म से निवृत्त वह नमाज पढ़ने के उपरांत कुरान का पाठ करता था। उसके पश्चात वह झरोखा से सर्व-साधारण को दर्शन दिया करता था। यहां झरोखे के नीचे गजयुद्ध का प्रदर्शन व सैनिकों की परेड होती थी। उसके बाद वह दीवान-ए-आम में उपस्थित रहते थे। यहां वह राजकार्य से संबंधित निर्देश दिया करता था। लगभग दस बजे वह दीवान-ए-खास में प्रवेश करता था जहां प्रमुख अधिकारी उपस्थित रहते थे। वह उन्हें आवश्यक निर्देश दिया करता था। इसी समय वह भवनों के निर्माण की योजनाओं को स्वीकृत, कारीगरों द्वारा प्रस्तुत वस्तुओं का निरीक्षण व दान विभाग द्वारा प्रस्तुत किए गए आवेदन-पत्रों पर निर्णय दिया करता था। लगभग साढ़े ग्यारह बजे वह शाह बुर्ज में आता था जहां वह अत्यंत गोपनीय कार्य करता था। दोपहर में वह हरम में जाकर भोजन व विश्राम किया करता था। तीसरे पहर नमाज पढ़ने के उपरांत वह पुनः दरबार-ए-आम में बैठकर राजकार्य किया करता था। संध्या की नमाज के उपरांत वह पुनः हरम में प्रवेश करता था जहां कि वह भोजन करने के उपरांत महिलाओं द्वारा प्रस्तुत किए गए संगीत तथा अन्य मनोरंजक कार्यक्रम में उपस्थित रहता था। रात्रि के 10 से साढ़े 10 बजे तक वह महिलाओं से पुस्तकें पढ़वाकर

टिप्पणी

सुनता था, उसके बाद वह सो जाता था। इस प्रकार से दिन में कम-से-कम 6 बार वह राजकार्य किया करता था। बुधवार का दिन न्याय करने के लिए निर्धारित था। उस दिन शाहजहां दीवान-ए-आम व खास में उपस्थित नहीं होता था। इस दिन वह झरोखा दर्शन के उपरांत सीधे गुसलखाना जाकर न्याय किया करता था।

अन्य शासकों की तुलना में औरंगजेब की दिनचर्या भिन्न थी। वह सूर्योदय से पूर्व पांच बजे सोकर उठता था। नित्यकर्म से निवृत्त होकर वह हरम से दीवान-ए-खास के निकट महल की मस्जिद में जाकर नमाज पढ़ता था, तत्पश्चात वह कुरान व हदीस का पाठ करता था। लगभग साढ़े 7 बजे वह खिलवतगाह में जाता था। वहां सिंहासन पर बैठकर वह लगभग एक घंटे तक न्याय करता था। उसके बाद अपने शयनगृह की खिड़की से वह लोगों को दर्शन देता था। झरोखा-दर्शन को वह मानव पूजा समझता था, इसलिए उसने यह प्रथा अपने शासनकाल के ग्यारहवें वर्ष में त्याग दी। इसी समय नीचे मैदान में गजयुद्ध तथा सैनिकों की परेड वह देखा करता था। लगभग सवा 9 बजे वह दीवान-ए-आम में उपस्थित होता था जहां सार्वजनिक दरबार में वह राजकार्य किया करता था। लगभग ग्यारह बजे वह दीवान-ए-आम से उठकर दीवान-ए-खास जाता था, जहां उसके विश्वसनीय मंत्री व अधिकारी उपस्थित रहते थे। यहां वह गोपनीय कार्य पर विचार-विमर्श कर उनसे संबंधित आदेश दिया करता था। उसके बाद वह हरम में जाकर भोजन करता था व एक घंटे सोता था। मध्याह्न की नमाज के उपरांत वह गुसलखाना में आता था, जहां वह धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन करता था व कुरान की प्रतियां तैयार करता था। चार बजे वह पुनः असर की नमाज पढ़ता था। उसके पश्चात सूर्यास्त तक वह दीवान-ए-खास में राजकार्य किया करता था। यहां वजीर उससे राजस्व संबंधी मामलों पर आदेश प्राप्त करता था। यहां अन्य कार्य भी संपन्न किए जाते थे। लगभग 8 बजे रात्रि में दरबार समाप्त हो जाता था। उसके बाद वह हरम में जाकर भोजन करता था व विश्राम करता था। रमजान के महीने में औरंगजेब गुसलखाना या उसके पास स्थित मस्जिद में एकांतवास ग्रहण करता था। राजकार्य उसके सम्मुख वहीं प्रस्तुत किए जाते थे और वहीं से वह राजकार्य किया करता था।

झरोखादर्शन : हिंदू शासकों की भांति अकबर महान ने झरोखा दर्शन की प्रथा जारी की। वह प्रतिदिन प्रातः झरोखे से सर्वसाधारण को दर्शन किया करता था। इस अवसर पर वह बहुत बड़ी संख्या में स्त्री, पुरुष, सैनिक व्यापरी, कृषक तथा अन्य व्यवसायों के लोग सम्राट के दर्शन करने के लिए उपस्थित रहते थे। सम्राट के दर्शन करते ही यह लोग 'सम्राट चिरंजीवी हो' कहकर उसका अभिवादन करते थे। यहां सम्राट उनकी शिकायतें सुनता था तथा उनके आवेदन-पत्रों पर विचार करता था और तत्काल वहीं उनका निर्णय करता था। सम्राट के समीप उपस्थित रहने वाले वाक्यानवीस प्रत्येक बातें लिख लिया करते थे। अकबर यहां साढ़े 4 घंटे व्यतीत करता था। अबुल फजल के अनुसार झरोखा दर्शन का मुख्य उद्देश्य यह था कि जनता प्रत्यक्ष रूप से सम्राट के सम्मुख अपनी शिकायतें रख सकें, उसके दर्शन कर सकें व न्याय पा सके। बदायुंनी के अनुसार अकबर ने यह प्रथा उन ब्राह्मणों के कारण प्रारंभ की जो कि सम्राट को राम व कृष्ण का अवतार समझते थे। वह यह भी लिखता है कि निम्न वर्ग के लोग जो कि दौलतखाना में प्रवेश नहीं पा सकते थे, सूर्योदय के समय झरोखा में सम्राट के दर्शन करने के उपरांत ही अन्न-जल ग्रहण करते थे।

टिप्पणी

अकबर द्वारा झरोखादर्शन की यह प्रथा जहांगीर तथा शाहजहां के समय भी प्रचलित रही। शाहजहां झरोखा में पौन घंटा व्यतीत करता था। यहां न्याय विभाग के कर्मचारी जनता की शिकायतों को लिख लिया करते थे, जिनका निर्णय शाहजहां दौलतखाना-ए-खास में जाकर करता था। झरोखा दर्शन का समय समाप्त हो जाने पर लोग मैदान के किनारे-किनारे खड़े हो जाते थे। खुले मैदान में तत्पश्चात गजयुद्ध होता था। कभी-कभी उन घोड़ों व हाथियों, जिनका प्रदर्शन दौलतखाना-ए-खास में नहीं हो सकता था उनका प्रदर्शन यहां होता था। शाहजहांकालीन प्रसिद्ध इतिहासकार अब्दुल हमीद लोहौरी के अनुसार झरोखादर्शन के समय जनता को अवसर मिलता था कि वे सम्राट के दर्शन कर अपना दिन प्रारंभ कर सकें। अपने दुखदर्द के बारे में उसे बता सकें व न्याय प्राप्त कर सकें।

अकबर ने यह संस्था जनता में सम्राट के प्रति विश्वास, निष्ठा, आस्था तथा स्वामिभक्ति उत्पन्न करने के लिए की थी। मुगल सम्राट के पुत्र रोगग्रस्त रहने या परिवार में किसी मृत्यु के कारण ही झरोखादर्शन के समय नहीं उपस्थित हो पाते थे अन्यथा वे नियमित रूप से झरोखादर्शन के समय उपस्थित रहते थे।

दीवान-ए-आम व खास : अकबर तथा जहांगीर के समय दीवान-ए-खास व आम के दरबार लगाने के लिए किसी भवन का निर्माण न हो सकने के कारण दरबार की कार्रवाई एक शामियाने के नीचे हुआ करती थी। 1638 में शाहजहां ने पहली बार दीवान-ए-आम के दरबार के लिए पक्की इमारत बनवायी, जिसके मध्य में संगमरमर का बना हुआ एक पच्चीकारी किया हुआ चबूतरा बनाया गया जहां कि सम्राट मयूर सिंहासन पर बैठा करता था।

अकबर के समय दीवान-ए-आम के कार्य की नियमावली निर्धारित की गई। दीवान-ए-आम की कार्रवाई प्रारंभ होने की सूचना नौबत बजाकर दी जाती थी। इसके उपरांत सभी अधिकारी, अमीर, दरबारी, अपने-अपने पदानुसार अपने स्थान पर उपस्थित हो जाते थे। दरबार में राजकुमारों, मंत्रियों व गणमान्य व्यक्तियों का स्थान निर्धारित था। सम्राट के बायीं ओर मीर सामान तथा दाहिनी ओर मीरबख्शी खड़े रहते थे। सम्राट के दाहिनी ओर राजकुमारों, अमीरों मनसबदारों एवं राजदूतों के लिए स्थान निश्चित थे। सम्राट के आने की सूचना मिलते ही दरबार में उपस्थित सभी लोग उसका अभिवादन किया करते थे। तत्पश्चात दीवान-ए-खास सार्वजनिक सभा न होकर अधिकारियों की सभा ही होती थी जिसमें दीवान, मीरबख्शी राजकुमार उच्च अधिकारी तथा मनसबदार ही उपस्थित रहते थे, यहां, राजकुमारों व सूबेदारों की अर्जिया पेश की जाती थी। मनसबदारों की अर्जिया मीरबख्शी प्रस्तुत किया करता था। यहां दीवान और मीर सामान खालसा व बयूतात विभाग के मामले पेश किया करते थे। प्रांतीय सद्र के आवेदन-पत्र सद्र उस सुदूर, जो कि अनुदान में भूमि या नकद धन देने की संस्तुति किया करता था, प्रस्तुत किया करता था। यहां जानवरों का निरीक्षण तथा नये जानवरों के मूल्य का निर्धारण होता था। इसके अतिरिक्त विभिन्न कारखानों के कार्य का परीक्षण भी यहां होता था। इसी समय नई नियुक्तियों, पदोन्नतियों, जागीरों के आवेदन इत्यादि के संबंध में सम्राट आदेश दिया करता था। दरबार-ए-आम व खास में ही विदेशों के शासक, उनके राजदूत, राजकुमार व अधिकारी प्रस्तुत किए जाते थे। इसके अतिरिक्त युद्ध में बन्दा, पराजित शत्रु तथा क्षमाप्रार्थी विद्रोही भी दरबार में उपस्थित किए जाते थे जो कुछ भी कार्य शेष रह जाता था सम्राट उसे संध्याकालीन दरबार में संपन्न किया करता था।

टिप्पणी

गुसलखाना : अकबर के समय दीवान-ए-खास व आम तथा हरम के मध्य एक छोटा सा कक्ष होता था जहां कि अकबर स्नान किया करता था। स्नान करने के उपरांत अकबर कुछ अमीरों को परामर्श के लिए उस कक्ष के समीप स्थित एक अन्य कक्ष में बुला लिया करता था। चूंकि यह दूसरा कक्ष स्नानागार के समीप था अतएव उसे गुसलखाना की संज्ञा प्रदान की गई। अबुल फजल ने इस कक्ष के लिए दौलतखाना शब्द का प्रयोग किया गया। परंतु यह कक्ष जहां गोपनीय सभा होती थी, गुसलखाना के नाम से ही सुप्रसिद्ध था। यहां न केवल गोपनीय राजकार्य या परामर्श या विचार-विमर्श ही होता था वरन कभी-कभी संगीत व मनोरंजन का कार्यक्रम भी हुआ करता था। वहां परामर्शदाता खुलकर अपनी बात कह सकते थे जो कि दीवान-ए-आम या खास में उनके लिए कर सकता संभव न था। शाहजहां गुसलखाने से उठकर शाहबुर्ज चला जाता था जहां कि राजकुमार, चुने हुए व्यक्ति उच्च अधिकारी, वकील या दीवान उससे भेंट कर सकते थे। यहां गोपनीय फरमान तैयार किए जाते थे।

गुसलखाने में दीवानी व सैनिक प्रकृति के सभी मामले गोपनीय तौर से विचार-विमर्श के लिए प्रस्तुत किए जाते थे। यहां सम्राट कार्यालय द्वारा तैयार किए गए पत्रों के उत्तर को स्वीकृति प्रदान करता था व उन पत्रों पर हस्ताक्षर किया करता था। यहां दीवान व वकील उन मामलों को भी सम्राट के सम्मुख रखते थे जिन पर खुले दरबार पर विचार नहीं किया जा सकता था दीवाने-खालसा व जागीरों के संबंध में बख्शी व सद्र अपने विभागों से संबंधित कार्य यहां सम्राट के सम्मुख रखते थे। यहां प्रांतों से प्राप्त रिपोर्टें या सूबेदारों की रिपोर्टें पढ़ी जाती थीं और उनके लिए सम्राट फरमान जारी करवाया करते थे। गुसलखाने में कभी-कभी न्यायालय से संबंधित मुकदमें भी रखे जाते थे। सम्राट अन्य उपस्थित अधिकारियों से परामर्श लेकर अभियोगियों को दंड दिया करता था। कभी-कभी उच्च अधिकारियों के अभियोगों पर भी यहां निर्णय लिया जाता था। यहां शांति व युद्ध संबंधी समस्याओं पर भी विचार होता था। विदेशों से संबंधित मामले भी यहां रखे जाते थे। निर्माण संबंधी योजनाओं पर भी यही निर्णय लिए जाते थे। इसके अतिरिक्त इसी सभा में राजकार्य संपन्न होने के उपरांत गायन, वादन, संगीत, काव्य गोष्ठियां हुआ करती थीं। कभी-कभी यहां धार्मिक विषयों पर भी चर्चा होती थी। सम्राट यहां अनुदान देने के संबंध में आदेश देता था या अनुदान संबंधी आवेदन-पत्रों पर विचार किया करता था। गुसलखाना में विविध विभागों व विषयों में उच्च अधिकारियों से परामर्श लेने का तात्पर्य यह नहीं था कि सम्राट उनके परामर्श को स्वीकार करने के लिए बाध्य होता था। इसके विपरीत सम्राट की इच्छा व उसका निर्णय ही सर्वोपरि होता था। गुसलखाना की बैठक एक परामर्शदाता समिति के रूप में थी। सम्राट को यहां उच्च अधिकारियों एवं विभिन्न विभागों के अध्यक्षों की राय मालूम करने का सुअवसर प्राप्त होता था और उनके परामर्श के आधार पर उसे अंतिम रूप से निर्णय लेने में सुविधा होता थी।

शाही महल विभाग व सचिवालय : मुगल सम्राटों के परिवार में बाबर से लेकर औरंगजेब तक निरंतर वृद्धि होती रही। उनके परिवार में राजमाता, पत्नियां, रखैलें, निकटतम संबंधी, राजकुमारियां, इत्यादि हुआ करता थीं। इस विशाल परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति, उसकी सुरक्षा, सुख व स्वास्थ्य तथा अन्य सुविधाओं का दायित्व मुगल प्रशासन पर ही हुआ करता था। चूंकि परिवार के सदस्यों का पोषण हरम में ही होता था अतएव हरम के प्रशासन के लिए अनेक विभाग जैसे कि शाही महल, मत्वख

टिप्पणी

(शाही रसोई, किरकीरक खाना खरज), फर्राश खाना (शामियान इत्यादि), आबदार खाना (जल), मेवा खाना, कुरखान (अस्त्र-शस्त्र), फीलखाना (हाथियों का अस्तबल), अस्तबल (घोड़ों के लिए), गऊखाना (गाय), शुतरखाना (ऊंट), नक्कारखाना, शाही पुस्तकालय इत्यादि होते थे। प्रत्येक विभाग में पृथक-पृथक अधिकारी व कर्मचारी नियुक्त किए जाते थे, ताकि अमुक विभाग का प्रबंध ठीक प्रकार से हो।

अपने परिवार के निवास के लिए मुगल सम्राट विशेष रूप से भव्य महलों का निर्माण कराया करते थे। मुख्यतः यह महल राजधानी में ही हुआ करते थे, उनकी सुरक्षा का पूर्ण ध्यान रखा जाता था। महल के शाही परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए निम्नलिखित महत्वपूर्ण विभाग हुआ करते थे-

मत्वख (शाही भोजनालय) : शाही भोजनालय राज परिवार के भोजन का प्रबंध किया करता था। उसका प्रबंध विशेष रूप से बड़े पैमाने पर होता था। यह विभाग खान-ए-सामा के आधीन होता था, परंतु इसका प्रमुख अधिकारी मीर वकावल होता था, जिसकी सहायता के लिए अनेक अन्य कर्मचारी जैसे कि नाजिर-ए-कुल वकाबल-ए-जुज, गंजूर (कोषाध्यक्ष) गजूर-ए-जुल, वितिवची, मुशरिफ तथा पेशकार होते थे। इन कर्मचारियों के अतिरिक्त इस विभाग में भोजन चखने के लिए खुरिश गरा, भोजन परोसने के लिए शिलीचयान, बावर्ची, पानी भरने वाले आवकश भी हुआ करते थे।

वर्ष के प्रारंभ में भोजनालय का बजट तैयार हो जाता था तथा वर्ष भर के लिए खाद्यान्न एकत्र कर लिए जाते थे। प्रत्येक वस्तु आवश्यकता के समय उपलब्ध हो सकती थी। प्रत्येक दिन सैकड़ों प्रकार के व्यंजन शाही रसोईघर में बनते थे। इन व्यंजनों को रकाबियों में रखकर वकाबल को सौंप दिए जाते थे। भोजन चखने वाला अधिकारी इन व्यंजनों को चखकर उन्हें कपड़े से ढक कर प्रत्येक रकाबी पर मुहर लगा दिया करता था। भोजन के समय वकावल, मुख्य रसोइया तथा अन्य विश्वसीनय सेवक विभिन्न व्यंजनों के परोसे जाने से पूर्व एक बार पुनः चखते थे, जिससे भोजन में विष मिलाए जाने का संदेह मिट जाए। यह विभिन्न व्यंजन सोने, चांदी, मिट्टी के रकाबियों में परोसे जाते थे। शाही भोजनालय में देश-विदेश के रसोइयों, जो विभिन्न प्रकार के शाकाहारी, मांसाहारी व्यंजनों के पकाने में प्रवीण होते थे, की नियुक्तियां की जाती थी। भोजन के उपरांत पान का भी प्रबंध रहता था।

मत्वख के अंतर्गत दो अन्य उपविभाग– आबदार खाना व मेवा खाना होते थे। आवदार खाना पानी व पेय पदार्थों का प्रबंध किया करता था। काबुल, काश्मीर, समरकंद बदख्शां तथा भारत के विभिन्न भागों से मेवा व मौसमी फल प्राप्त किए जाते थे।

पोशाकखाना या किरकिराक खाना : यह विभाग शाही परिवार के वस्त्रों का प्रबंध किया करता था। इस विभाग का अध्यक्ष मीर-सामान होता था। सम्राट के लिए अनेक प्रकार के वस्त्र व परिधान होते थे। वे ऋतु महीने व दिन के अनुसार परिधान धारण करते थे। अकबर कभी कभी पुर्तगाली, ईरानी, मंगोल व हिंदुस्तानी वस्त्र पहना करता था। ऋतु के प्रारंभ में शाही पोशाक खाने के लिए पोशाकें तैयार कर ली जाती थीं और वस्त्रों के 128 जोड़े, 12 बंडलों में लदकर बांध दिए जाते थे। जाड़े में सम्राट ऊनी वस्त्र पहनते थे अबुल फजल ने शाही वस्त्रों के नाम व उनके मूल्य आईने-ए-अकबरी में उल्लिखित किए हैं। शाही पोशाक खाने में सम्राटों की पगड़ियों व जूतों तथा शालों इत्यादि का भी प्रबंध रहता था जो कि उनकी रुचि के अनुसार तैयार करवाए जाते थे।

टिप्पणी

कुरखाना : यह विभाग सम्राट के व्यक्तिगत प्रयोग के लिए विभिन्न अस्त्र-शस्त्रों का प्रबंध किया करता था। सम्राट के लिए विभिन्न प्रकार के हथियार बनवाए जाते थे, उनका निरीक्षण समय-समय पर किया जाता था, उनमें यदा-कदा सुधार किए जाते थे और उनकी बराबर देख-रेख कुरखाना विभाग किया करता था।

खुशबूखाना : मुगल सम्राट सुगंधित पदार्थों, इत्र,शृंगार के प्रसाधनों का प्रयोग करते थे, जिसके लिए पृथक विभाग खुशबूखाना की स्थापना अकबर के समय में की गई। यह विभाग विभिन्न प्रकार के देशी-विदेशी इत्रों, सुगंधित पदार्थों, तेल इत्यादि का प्रबंध किया करता था। अबुल फजल ने आईने-ए-अकबरी में इनकी चर्चा विस्तारपूर्वक की है।

फर्राशखाना : मुगल सम्राट अपना अधिकांश समय यात्रा या अभियान में व्यतीत करते थे। फर्राशखाना विभाग उनके लिए, शामियानों, तम्बुओं, रावदियों, बड़े-बड़े खरगाहों (जिसमें 10000 से अधिक व्यक्ति बैठ सकते थे) का प्रबंध किया करता था। यही विभाग महलों में फर्नीचर, पर्दों, शामियनों इत्यादि का भी प्रबंध करता था।

पुस्तकालय : सम्राटों की रुचि शिक्षा व साहित्य दोनों में होने के कारण शाही पुस्तकालय की व्यवस्था हेतु पृथक विभाग की स्थापना की गई। इस पुस्तकालय में सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ रखे जाते थे। सर्वेश्रेष्ठ कृतियों की प्रतियां बना कर यहां रखी जाती थीं।

शाही पशुशाला : शाही महल के समीप शाही पशुशाला रहती थी, जहां कि हाथी, घोड़े ऊट, खच्चर, गायें तथा अन्य जानवर अस्तबलों में रहते थे। देश-विदेश से अच्छी नस्ल के जानवर मंगाए जाते थे और उनके रखरखाव पर पूर्णरूप से ध्यान दिया जाता था। अबुल फजल ने आईन-ए-अकबरी में इन जानवरों की खुराक तथा प्रत्येक जानवर पर होने वाले व्यय का विवरण दिया है।

4.2.1 मनसबदारी प्रणाली

मुगल सम्राट अकबर ने अपने साम्राज्य के विस्तार को देखते हुए एक ऐसी प्रशासनिक प्रणाली के बारे में सोचा जो सुचारू रूप से प्रशासन को संचालित कर सके और इस प्रणाली को उसने 'मनसबदारी प्रणाली' का नाम दिया। मुगल साम्राज्य की सैनिक व सिविल सेवाओं की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए मनसबदारी प्रणाली का जन्म हुआ और इस व्यवस्था के जन्मदाता मुगल सम्राट अकबर बने। अकबर के उत्तराधिकारियों ने राजनीतिक एवं आर्थिक कारण से उपजी आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए इसमें कुछ परिवर्तन किए।

मुगल साम्राज्य के संस्थापक बाबर एवं उसके पिता हुमायूँ एक असंगठित व अव्यवस्थित साम्राज्य अकबर के लिए छोड़ गए थे। बाबर 1526 ई. में पानीपत युद्ध के पश्चात अपने जीवनपर्यंत युद्ध में ही व्यस्त रहा। तथा उसे प्रशासन को गठित करने का समय ही नहीं मिल पाया और वह यह जिम्मेदारी अपने पुत्र हुमायूँ को विरासत में छोड़ गया। हुमायूँ भी राजनीतिक उलझनों में फंसा रहा जिसके चलते उसका साम्राज्य भी उससे छिन गया। हुमायूँ ने फिर से अपनी शक्ति व कौशल के साथ, खोए हुए साम्राज्य को वापिस प्राप्त कर लिया लेकिन कुछ समय पश्चात वह मृत्यु को प्राप्त हो गया। इस प्रकार अव्यस्क अकबर के लिए एक छिन्न-भिन्न साम्राज्य खड़ा था जिसे अकबर एक चुनौती के रूप में स्वीकार कर प्रशासन को नए सिरे से गठित करके एक नई दिशा दी। अकबर ने इस अव्यवस्थित शासन को नियमों पर आधारित एक व्यवस्था देना चाहता था। वह

टिप्पणी

चाहता था कि हर प्रशासनिक अधिकारी, अमीर एवं उमरा को समझना चाहिए कि वह कानून एक नियम के अधीन है एवं प्रशासन में नियुक्ति व पदोन्नति का आधार योग्यता होनी चाहिए। अतः अकबर कानून एवं योग्यता पर आधारित प्रशासनिक व्यवस्था का निर्माण करना चाहता था।

मनसब का अर्थ एवं विकास

इतिहास के परिप्रेक्ष्य में यदि देखें तो सभी कालों में प्रशासन में अधिकारियों एवं सेवकों का स्तर में कभी समानता नहीं रही। कुछ पद उच्च होते थे व कुछ छोटे स्तर के। सभी पद मिलकर प्रशासन में एक सोपान तंत्र का निर्माण करते थे। शासक की व्यक्तिगत इच्छा के अनुसार ही कर्मचारियों की पदोन्नति होती थी। अकबर के पूर्व के साम्राज्यों में प्रशासनिक अधिकारियों के सोपानों को तय करने के लिए किसी एक तकनीकी शब्द का प्रयोग नहीं हुआ था जबकि अकबर ने अपने शासन के प्रारंभिक सोपान क्रम में किसी अधिकारी की स्थिति निश्चित करने के लिए 'मनसब' शब्द की खोज की। इस शब्द का अर्थ मद या श्रेणी से था। मुगल प्रशासन में इस शब्द से धारक की स्थिति का ज्ञान होता था। अकबर ने अमीरों, रईसों एवं सेना के अधिकारियों को मनसब देने की प्रथा शुरू की। मनसब में संख्या जोड़ने की शुरुआत हुई जिसका तात्पर्य था मनसबदार का दायित्व निश्चित करना। मनसब में दो शब्दों का प्रयोग होता था जात एवं सवार। जहां एक ओर मनसबदार के निजी वेतन तथा प्रशासन के सोपान क्रम का निर्धारण जात से जुड़ी संख्या पर निर्भर करता था वहीं दूसरी ओर सवार से जुड़ी संख्या उसके द्वारा रखे जाने वाले घुड़सवारों तथा उनके वेतन को इंगित करती थी।

मनसब व्यवस्था के विकास को लेकर इतिहासकारों में विभिन्न मत हैं। इस व्यवस्था का सर्वप्रथम अध्ययन ब्रिटिश इतिहासकार डब्लू. एच. मोरलैंड ने किया। उनके अनुसार अकबर से पहले मनसब में मात्र एक पद का प्रचलन था जो मंगोलों से विरासत में मिला था। इस एक पद से मनसबदारों द्वारा रखे जाने वाले सैनिकों की संख्या का पता चलता था। सन् 1566-67 ई. में इस व्यवस्था को प्रभावी बनाने के लिए सवार पद जोड़ दिया गया। मोरलैंड के इस मत का सर्मथन अब्दुल अजज़ी ने अपने ग्रंथ 'मनसबदारी सिस्टम एंड द मुगल आर्मी' में किया है। 1961 में अलीगढ़ के प्रोफेसर ए. जान कैसर ने मोरलैंड के इस मत का खंडन किया है। उनका मानना है कि जात और सवार दोनों का जन्म एक साथ अकबर के शासनकाल के अट्ठारहवें वर्ष अर्थात 1573-74 ई. में हुआ था। इससे पूर्व के जिन अमीरों के नाम के आगे मनसब लगा है वे काल्पनिक हैं। ऐसा संभवतः प्रशासन तंत्र में उनकी स्थिति के निर्धारण के लिए किया गया होगा। ऐसा माना गया है कि 1573-74 ई. से पूर्व ही ये मनसबदार दिवंगत हो चुके थे।

प्रो. शीरीं मूसवी, प्रोफेसर कैसर से मतैक्य प्रकट करती हैं। उनके अनुसार 1973-74 ई. तक के समय में केवल एक ही पद प्रचलन में था जैसे-सदी, हजारी, दो हजारी एवं पंच हजारी आदि। अमीरों द्वारा रखे जाने वाले सवारों की संख्या से ही उनके मनसब, पद और श्रेणी का पता चलता था। सवार पद ही अमीर श्रेणी की पहचान थी। प्रो. शीरीं का मानना था कि इस समय तक दो या युगल पद 'जात एवं सवार' एक साथ प्रचलन में नहीं आए थे। इस प्रकार कहा जा सकता है कि 1573-74 ई. तक मनसबदारों द्वारा रखे जाने वाले सैनिकों की संख्या का निर्धारण जागीर से होने वाली आमदनी के आधार पर कर दिया जाता था। यह व्यवस्था अकबर के अट्ठारहवें वर्ष अर्थात 1573-74

टिप्पणी

ई. में दाग प्रथा के शुरू होने तक जारी रही। दाग प्रथा शुरू होने के एक वर्ष पश्चात शाही अधिकारियों के ओहदो के अर्थ में मनसब शब्द की शुरुआत हुई।

प्रो. के.के. त्रिवेदी ने इस सम्पूर्ण बहस के निष्कर्षों को अत्यन्त प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया है। उन्होंने लिखा है कि सम्पूर्ण विवरणों से यह तथ्य उजागर होते हैं कि "अट्ठारहवें-उन्नीसवें शासकीय वर्ष की व्यवस्थाएं इस प्रकार थीं : संख्या पर आधारित एकल मनसब प्रदान किया जाता था। मनसबदार को अपने मनसब में निर्दिष्ट संख्या के अनुरूप घुड़सवारों की व्यवस्था करनी होती थी। मनसबदारों को युद्ध में काम करने वाले, बोझा ढोने वाले पशुओं एवं गाड़ियों आदि की व्यवस्था भी स्वयं करनी होती थी। मनसब प्रदान करने के बाद आंशिक रूप से अदायगी भी की जाती थी। बकाया राशि की अदायगी उस समय की जाती थी जब मनसबदार अपने मनसब में निर्दिष्ट संख्या के अनुसार घुड़सवार दस्ते को लेकर निरीक्षण एवं दाग आदि की औपचारिकताएं पूरी करने के लिए उपस्थित होता था।"

सवार पद की आवश्यकता

मनसबदारों के निर्धारण के पश्चात मुगल प्रशासन के समक्ष कुछ समस्याएं आयीं। मनसबदारों का यह प्रयास होता था कि वे मनसब के अनुरूप सैनिक न रखें, अप्रशिक्षित सैनिक रखे। इसके अतिरिक्त वे निरीक्षण के समय असैनिक को भी सैनिक के रूप में दिखा देते थे। ऐसा करने से मुगल सैन्य शक्ति पर भी प्रभाव पड़ा। अंत में मुगल प्रशासन ने इस समस्या के समाधान हेतु कुछ प्रयास किए। एकल संख्या के मनसब के साथ एक अन्य संख्यात्मक पद और जोड़ दिया जो अलग से सैनिकों की संख्या को बताता था। इस नए पद का नाम 'सवार' रखा गया, तथा पूर्व प्रचलित एकल पद को भी नया नाम जात दे दिया गया। प्रथम पद जात मनसबदार के निजी वेतन को इंगित करता था वहीं दूसरी ओर द्वितीय पद से मनसबदार की श्रेणी का पता चलता था। सवार पद के लिए मिलने वाले वेतन से सैनिकों की तनख्वाह एवं उनके द्वारा रखे जाने वाले जानवरों के खर्चे शामिल थे।

प्रो. शारी मूसवी ने अबुल फजल के आधार पर अकबर के समय में ही मनसब व्यवस्था में तीन श्रेणियों को दर्शाया है। प्रथम श्रेणी- इस श्रेणी में वे मनसबदार आते थे जो अपनी जात संख्या के बराबर सैनिक रखते थे, द्वितीय श्रेणी में ऐसे मनसबदार आते थे जो अपने जात पद के आधे के बराबर या इससे अधिक घुड़सवार रखते थे। तीसरी श्रेणी में वे सैनिक अधिकारी या मनसबदार आते थे जो अपने जात मनसब के आधे से भी कम घुड़सवार सैनिक रखते थे।

प्रो. मूसवी ने अकबर के समय मनसब व्यवस्था के विकास के चरणों को संक्षेप में गिनाया है जो निम्न है-

प्रथम, अकबर के शासन के पहले दस सालों तक पूर्व शासकों के समय से चली आ रही सैनिक टुकड़ियों के आकार के अनुरूप कोई स्थाई सैनिक दायित्व नियत नहीं हुआ था। व्यक्तियों के वेतन कम या अधिक मनमाने ढंग से निश्चित किए जाते थे।

द्वितीय, अकबर ने ग्यारहवें वर्ष में सैनिक दायित्व निश्चित करने का प्रयास किया। इसके अतिरिक्त यह भी तय करने का प्रयास किया कि अमीर स्वीकृत दरों के आधार पर अपनी जागीरों से राजस्व के अनुसार घुड़सवारों को रखें।

टिप्पणी

तृतीय, अकबर के शासन के 1573-74 ई. में संख्यात्मक मनसब स्थापित किया गया। अमीरों को संख्या प्रदान की गई जो उनके वेतन एवं उन जानवरों की संख्या का निर्धारण करती थी जो व्यक्तिगत दायित्व के तौर पर उन्हें रखने पड़ते थे। इससे भी महत्व की बात यह है कि उन्हें अपने मनसब की संख्या के बराबर सवार रखने पड़ते थे। लेकिन वास्तविक जांच के लिए वे अपेक्षित घोड़े नहीं लाते थे।

चतुर्थ, अकबर के शासन काल के चालीसवें वर्ष अर्थात् 1595-96 ई. में मनसब के अनुपात में रखे गए सवारों की संख्या के आधार पर मनसबदारों की तीन श्रेणियों में रखा गया। अत: अब इस वर्ष से सवारों की संख्या मनसब की संख्या से अलग समझी जाए।

पंचम्, शासन के 41 वें अर्थात् 1596-97 ई. में या इससे थोड़ा पहले मनसब का स्वरूप द्वैध हो गया। तब से मनसब की संख्या जोड़े के द्वारा निर्धारित की जाने लगी। जात मनसबदार के वेतन को एवं जानवरों की संख्या को निर्धारित करती थी जबकि सवार संख्या को दिखाती थी जो मनसबदार को स्वीकृत दर पर रखनी होती थी।

अकबर के द्वारा स्थापित की गयी इस मनसब व्यवस्था को उसके उत्तराधिकारियों ने भी लागू किया। विभिन्न राजनीतिक व आर्थिक परिस्थितियों के बदलाव स्वरूप इसमें कुछ परिवर्तन भी किए गए किंतु जात एवं सवार पद यथावत रहे।

4.2.2 सामाजिक-आर्थिक आधार

मुगल भारत के लोगों का सामाजिक जीवन एवं आर्थिक अवस्था का इतिहास अधिक रोचक एवं महत्वपूर्ण है। इनके अध्ययन के साधन वास्तव में कम हैं, किन्तु समकालीन यूरोपीय यात्रियों के विवरणों तथा यूरोपीय कारखानों के कागजात से बहुमूल्य सूचनाओं का संग्रह किया गया है। उस युग के पारसी एवं देशी साहित्यों के समकालीन ऐतिहासिक ग्रंथों में आकस्मिक उल्लेख मिल जाते हैं।

समाज सामन्तवादी संस्था के समान दीखता था, जिसके शीर्ष पर बादशाह था।

बादशाह के नीचे पदाधिकारी सरदार थे। इन्हें विशेष सम्मान एवं अधिकार थे, जो साधारण जनता के भाग्य में कभी नहीं पड़े। इससे स्वभावत: उनके रहन-सहन के स्तर में अन्तर पैदा हो गया। पदाधिकारी सरदार धन एवं आराम से रहते थे, जबकि साधारण जनता की अवस्था अपेक्षाकृत दयनीय थी। अपने पास अत्यधिक साधन रहने के कारण धनी पुरुष स्वभावत: भोग-विलास तथा मद्यपान में लीन रहते थे। मृत्यु के पश्चात् अपने धन एवं जायदाद के राज्य द्वारा लिये जाने के भय से सरदारों में मितव्ययता की प्रेरणा नष्ट हो गयी। अमीरों में मदिरा एवं स्त्रियों के प्रति घोर आसक्ति एक आम बुराई थी।

यहां पर यह याद रखना चाहिए कि साधारणत: विदेशी सरदारों के रहने से देश का धन अधिक मात्रा में विदेशों को नहीं चला जाता था, क्योंकि उस वर्ग का कोई इसे देश के बाहर नहीं ले जा सकता था। प्रारम्भ में सरदारों में ऐसे गुण थे कि जब तक वे अपनी शक्ति को बनाये रहे, तब तक राज्य के योग्य सेवक बने रहे। परन्तु शाहजहां के राज्यकाल के अन्तिम वर्षों से उनकी पुरानी उपयोगिता नष्ट होने लगी तथा उनका आचार अधिक भ्रष्ट होने लगा। औरंगजेब के राज्यकाल तथा अठारहवीं सदी में उनका और भी पतन हुआ। उत्तर काल के स्वार्थी एवं पतित सरदारों की प्रतिद्वंद्विताओं एवं षड्यंत्रों ने सामाजिक जीवन पर तो दूषित प्रभाव डाला ही, साथ ही उस युग की राजनीतिक अव्यवस्थाओं में भी उनका बहुत बड़ा हाथ रहा।

टिप्पणी

सरदारों के नीचे ठाटबाट के खर्चों से बचा हुआ एक छोटा और मितव्ययी मध्यम वर्ग था। इसके रहन-सहन का स्तर इसके पदों एवं धंधों के अनुकूल था। व्यापारी आमतौर पर सरल एवं संयमी जीवन व्यतीत करते थे।

दोनों उच्चतर वर्गों की हालत से तुलना करने पर निचले वर्गों की हालत बुरी थी। उनके कपड़े पूरे नहीं होते थे। ऊनी पोशाक एवं जूते उनके साधन से परे थे। उनकी अन्य आवश्यकताएँ कम रहती थीं। इसलिए साधारण परिस्थिति में उनके लिए सामान्य भोजन का अभाव नहीं था। परन्तु दुर्भिक्ष और महँगाई के समय में उनके कष्ट और विपन्नता अवश्य बहुत बढ़ जाते रहे होंगे।

हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही ज्योतिष-विद्या के सूत्रों और भविष्यवाणियों में विश्वास करते थे। उस युग की प्रधान सामाजिक रीतियाँ थीं-सती-प्रथा, बाल-विवाह, कुलीन-प्रथा तथा दहेज-प्रथा। अकबर ने सामाजिक प्रथाओं को इस प्रकार नियमित करने का प्रयत्न किया जिससे विवाहों में दुल्हा तथा दुल्हिन की स्वीकृति एवं माता-पिता की अनुमति आवश्यक हो जाए। वह दोनों पक्षों के वयस्क होने के पहले विवाह, निकट सम्बन्धियों के बीच विवाह, अत्याधिक दहेज की स्वीकृति तथा बहुविवाह को रोकना चाहता था। परन्तु उसके प्रयत्न व्यवहार में सफल हुए मालूम नहीं पड़ते। अठारहवीं सदी में सामाजिक बुराइयां– विशेष रूप से बंगाल में बढ़ गयीं। तथा बोल्ट्स क्रौफर्ड एवं स्क्रैफ्टन जैसे समकालीन यूरोपीय लेखकों की किताबों तथा समकालीन साहित्य में इनकी ओर बार-बार संकेत किया गया है। परन्तु तत्कालीन मराठा समाज देहज की स्वीकृति को प्रोत्साहन नहीं देता था। पेशवा महाराष्ट्र के सामाजिक एवं धार्मिक मामलों पर काफी नियंत्रण रखते थे तथा डाक्टर सेन कहते हैं कि उनके विवाह सम्बन्धी नियमों में वह उदार भाव पाया जाता था, जिसका अनुकरण करके उनके आधुनिक वंशज लाभान्वित हो सकते हैं। वे बलपूर्वक विवाहों के विरुद्ध थे, परन्तु कभी-कभी नियम विरुद्ध विवाहों की अनुमति दे देते थे, यदि उभय पक्षों के अभिप्राय ठीक होते थे। महाराष्ट्र के गैर-ब्राह्मणों तथा पंजाब एवं यमुनाघाटी के जाटों में विधवा-विवाह प्रचलित था। उपर्युक्त जाटों में बहुपतित्व अज्ञात नहीं था। अठारहवीं सदी के मध्य में ढाका के राजा राजवल्लभ ने विधवा-विवाह चलाने का असफल प्रयत्न किया। यद्यपि स्त्रियां साधारणतः अपने स्वामी की इच्छा के अधीन रहती थीं, किन्तु राजनीतिक मामलों में उनके सक्रिय भाग लेने के दृष्टान्त भी अप्राप्य नहीं हैं।

सवाल यह है कि मुगल साम्राज्य के पतन के लिए औरंगजेब की मृत्यु के बाद की घटनाएं किस हद तक जिम्मेदार थीं और किस हद तक औरंगजेब की गलत नीतियां? इस बात को लेकर इतिहासकारों में काफी मतभेद रहा है। हालाँकि औरंगजेब को इसके लिए जिम्मेदार होने से पूर्णतया मुक्त नहीं किया जाता, अधिकतर आधुनिक इतिहासकर औरंगजेब के शासनकाल को देश की तात्कालिक आर्थिक, सामाजिक, प्रशासनिक तथा बौद्धिक स्थिति और उसके शासनकाल के पहले और उसके दौरान की अंतर्राष्ट्रीय गतिविधियों के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं।

मध्यकालीन भारत की आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति का पूरा मूल्यांकन करने पर पता चलता है कि सत्रहवीं शताब्दी के दौरान भारत में वाणिज्य तथा व्यापार का बहुत विकास हुआ तथा हस्तकला के माध्यम से निर्मित वस्तुओं की माँग भी बढ़ती गई। इस मांग को तभी पूरा किया जा सकता था, जब कपास तथा नील जैसे कच्चे माल का भी

उत्पादन साथ-साथ बढ़ता रहे। इस काल में मुगल सरकारी आंकड़ों के अनुसार उन क्षेत्रों का जहां 'जाब्ती' अर्थात 'भूमि की नपाई' के आधार पर बनाई गई व्यवस्था का विस्तार हुआ। इस बात के भी कुछ सुबूत मिलते हैं कि कृषि योग्य भूमि का भी विस्तार हुआ। यह आर्थिक परिस्थितियों के अलावा मुगलों की प्रशासनिक नीतियों के कारण ही सम्भव हुआ। हर सरदार तथा ऐसे धार्मिक नेता जिसे भूमि अनुदान में मिलती थी, से आशा की जाती थी कि वह कृषि के विस्तार और विकास में व्यक्तिगत रुचि लेगा। कृषि संबंधित दस्तावेजों को सावधानी से रखा जाता था। इतिहासकारों को इन विस्तृत ब्योरों को देखकर आश्चर्य होता है। इनमें हर गांव के न केवल हलों, बैलों तथा कुंओं की संख्या दी गई थी, बल्कि किसानों की संख्या भी दर्ज की गई थी।

इसके बावजूद ऐसा विश्वास करने के कारण भी हैं कि वाणिज्य तथा व्यापार और कृषि उत्पादन उतनी तेजी से नहीं बढ़ रहा था, जितनी कि स्थिति और आवश्यकता के अनुसार बढ़ना चाहिए था। इसके कई कारण थे। मिट्टी की घटती हुई उपजाऊ शक्ति को पूरा करने के लिए कृषि के नये उपायों के बारे में लोगों को कोई जानकारी नहीं थी। लगान की दर बहुत ऊंची थी। बादशाह अकबर के समय से, यदि जमींदारों तथा अन्य स्थानीय अधिकारियों के हिस्से को शामिल करें, तब यह कुल उत्पादन का करीब-करीब आधा हिस्सा होती थी। अकबर के शासनकाल में आमतौर पर लगान औसत उत्पादन का एक तिहाई हिस्सा था। लेकिन इसमें जमींदारों तथा अन्य स्थानीय अधिकारियों का हिस्सा सम्मिलित नहीं था। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य के बाद राज्य का हिस्सा बढ़कर कुल उत्पादन का आधा भाग हो गया, लेकिन इसमें जमींदारों तथा अन्य स्थानीय अधिकारियों, जिनमें गाँव के मुखिया इत्यादि शामिल थे, का हिस्सा भी शामिल था।

कृषि का विकास न होना

यद्यपि राज्य का हिस्सा अलग-अलग क्षेत्रों के अनुसार अलग-अलग था। अर्थात राजस्थान तथा सिंध जैसे कम उपजाऊ राज्यों में कम तथा कश्मीर में केसर उत्पादन करने वाले उपजाऊ क्षेत्रों में अधिक था, आमतौर पर लगान इतना अधिक नहीं था कि इसके कारण किसान खेती छोड़ दें। वास्तव में पूर्वी राजस्थान के आंकड़ों से पता चलता है कि सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तथा अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में नये गाँव बराबर बसते गये। ऐसा लगता है कि सामाजिक तथा कुछ हद तक प्रशासनिक कारणों से कृषि का उतना अधिक विकास नहीं हो पाया।

वर्ग विशेष की भावना

अनुमान लगाया जाता है कि इस काल में देश की आबादी साढ़े बारह करोड़ थी। इसका अर्थ यह हुआ कि कृषि भूमि बहुत बड़ी मात्रा में उपलब्ध थी। लेकिन इसके बावजूद कई गाँवों में ऐसे किसानों के बारे में सुनने को मिलता है, जिनके पास कोई जमींन नहीं थी। इनमें से अधिकतर लोग अछूत वर्ग में जाते थे। खेती करने वाला वर्ग तथा जमीदार, जो अधिकतर उच्च जातियों के थे न तो चाहते थे कि अछुत नये गांव बसाये और इस प्रकार जमीन की मिल्कियत हासिल करें और न ही इस बात को प्रोत्साहन देते थे। उनका हित इसी में था कि ये लोग गाँव में अतिरिक्त श्रमिक के तौर पर ही रहें और उनके लिए मृत जानवरों की खाल उतारने तथा चमड़े की रस्सियां बनाने जैसे छोटे काम करते रहें। भूमिहीन अथवा गरीब, जिनके पास बहुत कम जमीन थी, लोगों के पास न तो ऐसा संगठन

टिप्पणी

था और न ही इतनी पूंजी थी कि वे अपने बल पर नई जमीन पर खेती कर सकें अथवा नये गाँव बसा सकें। कभी-कभी नयी जमीन पर खेती करने के कार्य में राज्य पहल करता था। लेकिन अछुत इसका पूरा लाभ नहीं उठा सकते थे। क्योंकि राज्य को इस काम में स्थानीय जमींदारों तथा गांव के मुखियों का सहयोग लेना ही पड़ता था और ये लोग दूसरी जातियों के होते थे और अपने ही वर्ग के हितों के प्रति जागरूक थे।

शक्तिशाली जमींदार

जमींदारों की संख्या तथा उनके रहन-सहन के स्तर के बारे में अधिक जानकारी प्राप्त नहीं है। जमींदारों के प्रति मुगल नीतियां अलग-अलग थीं। एक ओर तो यह माना जाता था कि राज्य की आंतरिक स्थिरता के लिए सबसे बड़ा खतरा जमींदार ही हैं। दूसरी ओर स्थानीय प्रशासन को चलाने के लिए बड़े पैमाने पर इनकी नियुक्ति होती थी। इनमें से कइयों- राजपूतों, मराठों तथा अन्य को मनसब प्रदान किये जाते थे और साम्राज्य के आधार पर विस्तार के लिए राजनीतिक पदों पर इनकी नियुक्ति की जाती थी। इस प्रक्रिया में जमींदारों का वर्ग बहुत शक्तिशाली हो गया था और वह अब सरदारों की गैर-कघनूनी मांगों को मानने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं था। न ही किसानों पर लगान का बोझ बढ़ाना आसान था। विशेषकर जबकि उपजाऊ भूमि बड़ी मात्रा में उपलब्ध थी। जमींदारों तथा गांव के मुखियों में अधिक खेतिहारों को अपने यहां काम करने के लिए लाने की होड़ लगी रहती थी। ऐसे किसान जो रोजगार की खोज में एक गांव से दूसरे गांव जाते रहते थे, उन्हें 'पाही' अथवा 'ऊपरी' कहा जाता था। मध्ययुगीन ग्रामीण समाज के ये एक प्रमुख अंग थे। लेकिन इनके भविष्य पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया।

किसानों तथा सरदारों का असंतोष

इस प्रकार जमींदार जमीन से अधिक से अधिक कमाना चाहते थे और कई बार ऐसे तरीके अपनाते थे, जो राज्य के द्वारा स्वीकृत नहीं थे। इस कारण मध्ययुगीन ग्रामीण समाज के सभी आंतरिक संघर्ष उभरकर सामने आ गये। कुछ क्षेत्रों में किसानों के बीच गम्भीर असंतोष फैला तथा अन्य क्षेत्रों में जमींदारों के नेतृत्व में विद्रोह तक हो गये। कई अवसरों पर इन जमींदारों ने स्वतंत्र क्षेत्रीय राज्य स्थापित करने के प्रयास भी किए। प्रशासनिक स्तर पर भी सरदारों के बीच व्यापक असंतोष तथा भेदभाव फैला और इससे जागीरदारी व्यावस्था में गंम्भीर संकट पैदा हो गया। अधिकतर सरदारों का यह प्रयास रहता था कि वे अधिक आमदनी वाली जागीर हथिया लें और इस कारण मुगल प्रशासन व्यवस्था में भ्रष्टाचार बढ़ता गया। औरंगजेब ने 'खघलिसा' अर्थात राजकीय व्यय के लिए सुरक्षित भूमि, की सीमा को बढ़ाकर इस संकट की और गंम्भीर कर दिया। उसने दिनों तक बढ़तें प्रशासनिक खर्चे तथा युद्धों के खर्चे, जो उसके शासनकाल में बराबर होते रहे, के लिए खघलिसा को बढ़ाया था।

सरदारों की व्यवस्था

मुगलों द्वारा विकसित सरदारों की व्यवस्था मुगल काल की सबसे प्रमुख विशेषता थी। जातिभेद के आधार पर मुगल योग्य से योग्य व्यक्तियों को अपनी सेवा में आकर्षित करने में सफल रहे थे। इनमें से देश के विभिन्न क्षेत्रों के लोग थे और कुछ विदेशी भी थे। व्यक्तिगत आधार पर बने मुगलों के प्रशासनिक ढाँचे के अंतर्गत सरदारों ने बड़ी सफलता से काम किया और देश को काफी हद तक सुरक्षा तथा शान्ति प्रदान की। सरदारों की

टिप्पणी

यह भूमिका सम्राट के प्रति मात्र सेवा भाव थी और ये अधिकतर अपने ही हितों का ध्यान रखते थे। कुछ इतिहासकारों का यह तर्क गलत है कि सरदारों का संगठन औरंगजेब की मृत्यु के बाद इसलिए कमजोर पड़ गया, क्योंकि मध्य एशिया से कुशल लोगों का आना रुक गया। वास्तव में औरंगजेब के सिंहासनरूढ़ होने तक अधिकतर मुगल सरदार ऐसे व्यक्ति थे, जिनका जन्म भारत में हुआ था। ऐसा विश्वास करने का कोई कारण नहीं है कि इनकी योग्यता का ह्रास भारतीय जलवायु के कारण हुआ। यह तर्क अंग्रेज इतिहासकारों ने जातिभेद के आधार पर इसलिए दिया है, जिससे वे ठंडे देशों के लोगों द्वारा भारत के आधिपत्य को उचित ठहरा सकें। लेकिन ये तर्क अब नहीं स्वीकार किए जा सकते।

अपनी प्रगति जांचिए

1. उमर शेख मिर्जा की मृत्यु के उपरांत फरगना की गद्दी पर कौन बैठा?

   (क) हुमायूं (ख) अकबर

   (ग) बाबर (घ) शाहजहां

2. मुगल साम्राज्य की सैनिक व सिविल सेवाओं की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए किस प्रणाली का जन्म हुआ?

   (क) शाही (ख) सामान्य

   (ग) आर्थिक (घ) मनसबदारी

4.3 औपनिवेशिक राज्य : राजनीतिक अर्थव्यवस्था, राज्य संयंत्र एवं वैधीकरण

18वीं शताब्दी के आरंभ से ही पतनशील मुगल साम्राज्य का विकेंद्रीकरण हो रहा था। प्रांतीय सूबेदार अपने-अपने क्षेत्रों को स्वतंत्र घोषित कर रहे थे तथा साम्राज्य विघटन की इस प्रक्रिया को बादशाह औरंगजेब की मृत्यु के उपरांत और भी गति प्राप्त हो गई। उत्तर पश्चिम में सिख, दिल्ली के पास भरतपुर में जाट, पश्चिम व मध्य भारत में राजपूत तथा दक्कन में मराठों ने एक विशाल राज्यसंघ स्थापित कर लिया था। इस काल के राष्ट्रीय चरित्र की विशेषता देखें तो ऐसा प्रतीत होता है कि इन सारे क्षेत्रीय राज्यों में अपने-अपने क्षेत्रों का विस्तार करने को लेकर होनेवाला संघर्ष एक आम बात थी और ये क्षेत्रीय राज्य निरंतर संघर्ष की एक कड़ी में उलझे हुए थे जिससे एक अराजकता का माहौल संपूर्ण देश में व्याप्त हो चुका था। इन क्षेत्रीय राज्यों में न केवल परस्पर शत्रुता थी बल्कि अंदरूनी रूप से भी ये दरबारी गुटबाजी तथा षड्यंत्रों के शिकार थे। यही वह स्थिति थी जिसमें भारत में 16वीं सदी से व्यापार करने को आई यूरोपियन कंपनियों ने इन गुटबाजियों का लाभ उठाकर भारतीय उपमहाद्वीप की राजनीति में शनैः-शनैः पहले तो हस्तक्षेप किया उसके पश्चात अपना प्रभुत्व जमाना शुरू किया।

भारत के दक्षिणी राज्यों की आपसी शत्रुता का लाभ उठाकर फ्रेंच तथा अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी ने मद्रास, मैसूर तथा हैदराबाद के राज्यों में हस्तक्षेप करना प्रारंभ कर दिया था। उस समय के सामरिक संसाधनों की उन्नति की दृष्टि से इन यूरोपीयन सेनाओं के

टिप्पणी

पास भारतीय सेनाओं की तुलना में कहीं अधिक विकसित शस्त्र-अस्त्र हुआ करते थे जिनके बल पर उन्होंने इन राज्यों में हस्तक्षेप करके अपना प्रभुत्व बढ़ाया साथ ही अपनी शक्ति को भी सिद्ध किया जिससे आने वाले समय में भारत के अन्य क्षेत्रों के राज्यों में भी दरबार की दलगत गुटबाजी को प्रोत्साहन मिला परिणामस्वरूप किसी भी नवाब या रजवाड़े से असंतुष्ट दरबारियों का गुट अंग्रेज या फ्रेंच से संपर्क स्थापित कर लेता।

सिराजुद्दौला से असंतुष्ट एक गुट ने इसी प्रकार बंगाल की राजनीति में अंग्रेजों को हस्तक्षेप करने का न्योता दिया। इस अवसर का अंग्रेजों ने पूरा-पूरा लाभ उठाया और 1757 में प्लासी के एक छोटे से संघर्ष में विजय प्राप्त कर ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत के सर्वाधिक संपन्न राज्य बंगाल को अपने नियंत्रण में ले लिया।

यदि देखा जाए तो इस काल में भी मराठों की शक्ति भारत में शक्तिशाली थी। वे ईस्ट इंडिया कंपनी या अन्य किसी यूरोपियन कंपनी को भारत से संपूर्ण रूप से निष्कासित करने में समर्थ भी थे किंतु उनका लक्ष्य कुछ और ही था। इसी समय 1760 में अफगानिस्तान के अहमदशाह अब्दाली को नजीब खान रोहिल्ला ने भारत पर आक्रमण कर उत्तर भारत में पुनः अफगान नियंत्रण को प्रस्थापित करने का निमंत्रण दिया। 1752 में हुई एक संधि के ऐवज में बादशाह को संरक्षण देने का दायित्व मराठों ने अपने ऊपर ले लिया था जिसके कारण उन्हें अहमदशाह अब्दाली के इस आक्रमण का सामना करने के लिए उत्तर भारत की राजनीति में ध्यान देना आवश्यक बन चुका था। 14 जनवरी 1761 को दिल्ली के उत्तर में पानीपत में हुए एक भीषण युद्ध में उत्तर भारत की संप्रभुता को लेकर पठानों एवं मराठों में जो संघर्ष हुआ उस संघर्ष में मराठों की पराजय हुई। किंतु इस युद्ध में मराठों के प्रबल विरोध का सामना करते हुए अफगानों की शक्ति भी क्षीण हो गई जिस कारण उत्तर भारत से अफगान एवं मराठाओं की अनुपस्थिति से उत्पन्न रिक्तता का लाभ उठाकर ईस्ट इंडिया कंपनी ने 1765 में दिल्ली के बादशाह शाहआलम, अवध के नवाब शुजाउद्दौला और बंगाल के मीर कासिम को बक्सर के युद्ध में परास्त कर दिया। इसके पश्चात हुई इलाहाबाद संधि से ईस्ट इंडिया कंपनी को बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा के राजस्व को वसूलने का अधिकार प्राप्त हो गया था।

कंपनी प्रशासन की स्थापनाः आवश्यकता तथा स्वरूप

ईस्ट इंडिया कंपनी व्यापारी, गुमास्ता तथा मुंशीयो से युक्त एक व्यापारी संरचना थी। विजित क्षेत्रों से राजस्व वसूली का अधिकार प्राप्त होने के पश्चात सबसे बड़ी समस्या यही उभरी की किसानों से इसे कैसे वसूला जाए. ईस्ट इंडिया कंपनी तत्वतः एक व्यापारी संरचना थी तथा जो उस समय के व्यापारवाद के तत्वों का अनुकरण कर कंपनी को अधिकाधिक लाभ कमाने के लिए तत्पर थी। सन 1757 के उपरांत उसे एक क्षेत्रीय शक्ति का दर्जा जरूर हासिल हुआ किंतु ईस्ट इंडिया कंपनी पर नियंत्रण रखने वाले कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स ईस्ट इंडिया कंपनी के स्वामी थे। उन्हें ब्रिटिश संसद से पूर्वी देशों के साथ भारतीय व्यापार के एकाधिकार का लाइसेंस मिला हुआ था।

उस समय तक कंपनी अपने सैनिक अभियान के लिए ब्रिटेन की सेना का इस्तेमाल करती थी इसलिए संसद का आरंभ से ही उसके राजनीतिक मसलों पर नियंत्रण था किंतु इस तरह के सैनिक अभियानों से हासिल क्षेत्र और प्राप्त लूट के माल का आवंटन किस तरह से किया जाए? इस तरह के कुछ प्रश्न अनिवार्यतः उपस्थित हुए, साथ ही ईस्ट इंडिया कंपनी के अधीन बंगाल के अलावा मद्रास एवं मुंबई प्रेसिडेंसी के गवर्नर

टिप्पणी

आपस में किस तरह कार्य करें या उनमें पदों का सोपानक्रम क्या हो? इन सभी संबंधों के अधिकारों को परिभाषित करना आवश्यक था तथा उसके लिए कोई एकीकृत नीति को भी तैयार करना था। अंग्रेजों द्वारा अपनाई गई नीति के कारण आने वाले दिनों में भारतीय राज्य की प्रकृति में कई मौलिक परिवर्तन होने वाले थे। अब तक की भारतीय राज्य व्यवस्था में साधारण भारतीय के जीवन को कभी भी पूरी तरह से नियंत्रित करने का प्रयास नहीं किया जाता था, सुरक्षा एवं राजस्व वसूली के अतिरिक्त इससे पूर्व के राज्य नागरिकों के जीवन के किसी भी क्षेत्र को नियंत्रित नहीं करते थे। स्थानीय क्षेत्रों में अपनी पंचायतें और उनके अधिकार को एक हद तक स्वतंत्रता एवं स्वायत्तता प्राप्त थी। साथ ही विभिन्न धर्म एवं संप्रदायों के लोगों को स्थानीय प्रथा, रिवाजों और धर्मशास्त्र के अनुरूप ही न्यायदान मिलता था। ब्रिटिश संसद ने सुविचारीत नीति के तहत तथा राजस्व वसूली के लक्ष्य को समक्ष रखकर भारत में प्रशासनिक ढांचे का निर्माण किया। यह एक ऐसी व्यवस्था थी कि जो भारत की स्वतंत्रता तक विकसित होती रही। निरंतर परिवर्तनों के कई कारक थे जो भारतीय परिस्थिति तथा ब्रिटिश पार्लियामेंट की स्थितियों पर निर्भर थे। पहला यह कि अंग्रेज आरंभ में स्पष्टत: भारतीय समाज एवं संस्कृति तथा प्राकृतिक परिवेशो के कई पक्षों से अनभिज्ञ थे, दूसरा ब्रिटिश पार्लियामेंट में जिस तरह ईस्ट इंडिया कंपनी के हितैषी सदस्य थे उसी प्रकार उसके विरोधक भी थे जो समय समय पर भारतीय प्रशासनिक ढांचे के परिवर्तन में कई संशोधन सुझाते रहते इसके साथ ही जेरेमी बेंथम, जॉन स्टूअर्ट मिल एवं जेम्स मिल जैसे उपयुक्ततावादी (Utilitarianism), चार्ल्स ग्रैंट के नेतृत्व में इंजीलवादी (Evangelical) विचारधारा के प्रवर्तक अवश्य ही उदार थे उनके आग्रह स्वरूप कुछ परिवर्तन भी किए गए. एडम स्मिथ एवं डेविड रिकार्डो जैसे अर्थशास्त्री एवं विधि के बुद्धिजीवियों ने भी इस नीति में समय-समय पर कई सुझाव दिए किंतु विदित रहे कि इन समस्त सुझावो पर विमर्श करने के उपरांत ब्रिटिश संसद में भारतीय प्रजा के जनकल्याण की मंशा की अपेक्षा ब्रिटेन के आर्थिक हितों को ध्यान में रखकर ही अधिनियम बनाए जाते थे।

1765 से 1772 तक बंगाल पर शासन की जो प्रकृति स्थापित कई की गई थी उसे द्वैध शासन प्रणाली कहा गया है यह प्रणाली प्रजाजनों के लिए के लिए अभिशाप साबित हुई। इलाहाबाद की संधि के उपरांत मिले राजस्व वसूली के अधिकार को कठपुतली नवाब मोहम्मद रजा खान के कर्मचारियों द्वारा ही प्रयोग किया जाता था। कहने को तो नवाब के कर्मचारी रैयत से राजस्व वसूल करते थे किंतु वसूली की संपूर्ण राशि को ईस्ट इंडिया कंपनी के कोष में जमा कर दिया जाता। नवाब के ऊपर शासन का दायित्व जरूर था किंतु राजस्व पर उसका अधिकार नहीं था। इसके विपरीत कंपनी पूरी राशि अपने पास रख लेती किंतु उस पर बंगाल के प्रशासन का कोई भी दायित्व नहीं था। मुर्शिदाबाद में नियुक्त ब्रिटिश रेजिडेंट 1772 तक राज्य की शासनव्यवस्था का वास्तविक प्रशासक बना रहा। इस दौरान उसने कंपनी के मुनाफे में बढ़ोतरी की तथा भारत पर ब्रिटिश पकड़ को कायम रखकर बिना व्यवधान के भारत के साथ व्यापार जारी रखा किंतु इसका दूसरा और नकारात्मक पक्ष भी था। वह भारतीय लोगों पर पड़े हुए विपरीत परिणामों का था। किसी समय समस्त समृद्धियों को समेटे यह राज्य केवल 7 साल में अत्यंत ही अवनत दशा को पहुंच चुका था। मुर्शिदाबाद में कंपनी के रेजिडेंट बेचर ने एक रिपोर्ट दी थी जिसमें उसने कहा था, "यह सुंदर देश, जो अधिक से अधिक निरंकुश और स्वेच्छाचारी शासन में भी फलता-फूलता रहा, अब हुकूमत में अंग्रेजों का इतना बड़ा हिस्सा होने के कारण तबाही की हालत को पहुंच रहा है।"

टिप्पणी

1770 में बंगाल में जो अकाल पड़ा उसमें एक रिपोर्ट के अनुसार बताया गया कि पूर्णिया का जो राज्य कभी हरा-भरा होता था अब उसकी एक तिहाई आबादी खत्म हो गई है, अनुमान लगाया गया था कि इस अकाल में एक करोड़ लोगों की जानें गई फिर भी अकाल के दौरान में मालगुजारी न सिर्फ कड़ाई से बल्कि बड़ी निर्दयता से भी वसूल की गई साथ ही उसे बढ़ा भी दिया गया था। कहना अनुचित न होगा कि, आधुनिक भारत का आरंभ ऐसे ही ब्रिटिश शासन से हुआ था जिससे भारतीय लोगों को केवल बर्बादी का सामना करना पड़ा। रजनी पाम दत्त ठीक ही कहते हैं, "ब्रिटिश शासन के नीचे भारतीय जनता को दुखों के साथ एक विशेष प्रकार की उदासियां मिली क्योंकि उनकी पुरानी दुनिया तो बिछड़ गई थी मगर नई का कहीं पता न था।" लूट केवल किसानों की ही नहीं बल्कि भारत के कुलीन वर्ग के लोगों की भी हो रही थी। भारतीय शासकों और जमींदारों से जबरन वसूली रिश्वत और तोहफों से कंपनी के भ्रष्ट अधिकारियों ने विपुल मात्रा में धन अर्जित किया। रॉबर्ट क्लाइव भारत से जब इंग्लैंड लौटा तो उसके पास लगभग 40000 पौंड प्रतिवर्ष की आय होने जितनी संपत्ति जमा हो चुकी थी। यही अकूत धन भारत से लौटे कंपनी अन्य अधिकारियों के पास भी दिखता था। इंग्लैंड के लोग उनको नवाब कहकर तंज कसा करते तथा उन्हें भारतीयों का शोषक एवं उत्पीड़क मानते थे। ब्रिटिश पार्लियामेंट में स्थित अनेक मंत्री एवं संसद सदस्यों के साथ ही ब्रिटेन स्थित अनेक व्यापारिक कंपनियां भी बंगाल की संपदा का लाभ उठाने के लिए लालायित थीं, जिसके चलते उन्होंने निरंतरता से कंपनी के एकाधिकार के विरुद्ध आवाज उठाई तथा उन्हीं के प्रयासों के चलते 1767 में पार्लमेंट ने कानून बनाकर कंपनी को ब्रिटेन के खजाने में प्रतिवर्ष 4 लाख पौंड देना अनिवार्य बना दिया। ईस्ट इंडिया कंपनी के पक्षध र सदस्य पार्लमेंट में दिन-ब-दिन अपना प्रभाव बढ़ाते जा रहे थे जिससे अंग्रेजी राजनेताओं को यह चिंता होने लगी कि कहीं कंपनी ब्रिटिश प्रशासन पर हावी न हो जाए।

भारत में कंपनियों के भ्रष्ट अधिकारियों की करतूतें अब ब्रिटेन में भी पहुंच चुकी थीं तथा वहां के उदारवादियों में कंपनी के विरुद्ध रोष उत्पन्न हो रहा था। सम्राट जॉर्ज तृतीय भी कंपनी का हितैषी था तथा वह चाहता था की कंपनी और उसके विरोधियों के बीच कोई बीच का रास्ता निकल जाए। इसी बीच कंपनी को अपना कर्ज उतारने के लिए 10 लाख पाउंड की आवश्यकता पड़ गई। भारत से लौटे कंपनी के अधिकारियों की संपत्ति देखते हुए अंग्रेजों को यह मानना कठिन हो रहा था की कंपनी किसी घाटे में चल रही है इसलिए अप्रैल 1772 में गठित संसद की प्रवर समिति द्वारा दिए सुझाव के आधार पर सन 1773 विनिमयन अधिनियम (Regulating act) का रास्ता खोल दिया गया।

1773 का रेगुलेटिंग एक्ट

भारत और ब्रिटेन में लगभग 6000 मील का अंतर है, जाहिर है इतनी दूर से किसी क्षेत्र पर नियंत्रण करना असंभव सा था संचार की कठिनाइयों तथा यातायात के साधनों की मर्यादाओं को देखते हुए राज्य तथा कंपनी का संबंध निश्चित करना जरूरी था। ब्रिटिश राज्य आरंभ से ही कंपनी के साम्राज्य का भागीदार रहा था किंतु फिर भी उस पर नियंत्रण स्थापित करना आवश्यक हो चुका था जिसने 1773 के रेगुलेटिंग एक्ट का मार्ग प्रशस्त किया।

ब्रिटिश संसद द्वारा पारित यह पहला महत्वपूर्ण कानून था, जिसने कंपनी प्रशासन को अपने नियंत्रण में लेने की दिशा में पहल की थी, इसके अनुसार–

टिप्पणी

(1) भारतीय रजवाड़ों के साथ युद्ध या अन्य कोई करार करने के विषय में बंबई और मद्रास प्रेसीडेंसी पर बंगाल प्रेसीडेंसी का नियंत्रण स्थापित कर दिया गया।

(2) गवर्नर जनरल और उसकी सहायता के लिए काउंसिल का गठन हुआ जिसमें 4 सदस्यों की नियुक्ति की गई।

(3) 1765 की संधि के अनुसार मुगल सम्राट द्वारा प्रदत्त राजस्व वसूली के अधिकार को कंपनी के अधीन ही रहने दिया गया।

1784 का पिट्स इंडिया एक्ट

1773 के एक्ट द्वारा कलकत्ता में सुप्रीम कोर्ट की स्थापना की गई। इस कानून ने भारत में अंग्रेजी शासन व्यवस्था की स्थापना की दिशा में पहल जरूर की थी किंतु गवर्नर जनरल को काउंसिल के चारों सदस्यों के साथ सामंजस्य स्थापित करना अनिवार्य हो गया। इसके अभाव में प्रशासन में कुछ समस्याएं पुनः होने लगीं जिस कारण त्रुटियों को दूर करने हेतु अगस्त 1784 में पिट्स इंडिया एक्ट को लागू करना पड़ा। इसके द्वारा–

(1) कंपनी के सार्वजनिक कार्य तथा उसके प्रशासन पर ब्रिटिश संसद की सर्वोच्चता स्थापित हो गई किंतु कंपनी द्वारा विजित प्रदेशों को उसके अधीन ही रहने दिया गया।

(2) कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स को बोर्ड ऑफ कंट्रोल के अधीन कर दिया गया। 6 सदस्यों के मंडल में दो कैबिनेट मंत्रियों के साथ चार प्रीवी काउंसलर्स नियुक्त किए गए।

(3) गवर्नर जनरल की काउंसिल के किसी एक सदस्य का भी समर्थन अगर प्राप्त हो जाए तो वह अपने मतानुसार कार्य करने को स्वतंत्र हो गया। इसके साथ ही युद्ध, राजस्व तथा अन्य मामलों में मुंबई तथा मद्रास प्रेसीडेंसी पर बंगाल के गवर्नर जनरल का मत निर्णायक माना गया। 1786 में इसमें संशोधन कर गवर्नर जनरल को आपातकालीन परिस्थितियों में काउंसिल के मध्य हस्तक्षेप करने का अधिकार दे दिया गया और साथ ही गवर्नर जनरल और कमांडर इन चीफ इन दोनों पदों को एक में मिला दिया गया, जिससे भारत में गवर्नर जनरल के हाथों सर्वोच्च शक्ति सीमित हो गई। इस प्रकार भारत में एक ऐसी शासन व्यवस्था का सूत्रपात हुआ जिसके स्वामी भारत से हजारों मील की दूरी पर बैठे हुए थे तथा वे अपने अधिकारियों द्वारा भारत में भारतीय लोगों के हित की अपेक्षा अंग्रेजी राज्य के हित में कार्य करने वाले थे। अधिनियम एवं कानूनों में परिवर्तन का यह सिलसिला 1857 तक चलता रहा। प्रत्येक नए अधिनियम द्वारा कंपनी की सत्ता एवं उसके विशेष अधिकारों को क्रमशः परिवर्तित किया जा रहा था। 1788 में पारित एक विज्ञप्ति कानून के द्वारा बोर्ड ऑफ कंट्रोल को ही कंपनी के ऊपर की सर्वोच्च शक्ति मान लिया गया।

1793 का चार्टर एक्ट

लॉर्ड कॉर्नवालिस के काल से गवर्नर जनरल के अधिकारों में काफी वृद्धि हो चुकी थी। सन 1793 में तत्कालीन बोर्ड ऑफ कंट्रोल के अध्यक्ष हेनरी डन्डास ने कंपनी के चार्टर एक्ट को अगले 20 वर्षों के लिए बढ़ा दिया। इसकी एक और विशेषता थी कि इसने सर्वप्रथम धर्म के हस्तक्षेप से परे एवं लिखित कानून आधारित प्रशासन की आधारशिला रखी। इससे पूर्व भारत के कानून धर्मशास्त्र, रीतीरिवाज तथा जातिगत आधार के साथ ही स्थानीय शासकों की इच्छा पर निर्भर थे। 20 वर्षों के उपरांत इस चार्टर एक्ट का नूतनीकरण होना था।

टिप्पणी

लॉर्ड वेलेजली (1798-1805) और मर्कोस ऑफ हेस्टिंग्स (1813-1823) की साम्राज्यवादी नीतियों के चलते भारतीय उपमहाद्वीप के नेपाल, पंजाब और सिंध के क्षेत्र को छोड़कर शेष में कंपनी का नियंत्रण स्थापित हो चुका था। इन सारे अभियानों के चलते कंपनी को काफी खर्च उठाना पड़ा और जिस कारण उन्होंने पुनः संसद से सहायता की गुहार लगाई। इस समय तक ब्रिटेन की राजनीति में प्रचलित कई विचारधाराओं से प्रभावित हुए पार्लमेंट के सदस्य भारत की नीतियों में परिवर्तन करना चाहते थे ताकि साम्राज्य से होने वाले आर्थिक लाभ को ब्रिटेन के समस्त लोगों के लिए इस्तेमाल किया जाए और साथ ही ब्रिटिश साम्राज्य को दीर्घकाल तक कायम रखा जाए। एडम स्मिथ की मुक्त व्यापार (Laissez Faire) नीतियों के प्रशंसकों की संख्या भी निरंतर बढ़ रही थी वे भी भारत तथा पूर्वी देशों के साथ व्यापार कर लाभान्वित होने को उत्सुक थे। इन सभी के चलते 1813 में ब्रिटिश संसद ने चार्टर एक्ट पारित किया जिससे कंपनी के अधीन क्षेत्रों पर उसके नियंत्रण को कायम रखकर अगले 20 वर्षों तक इसका नूतनीकरण कर दिया गया। इस एक्ट से पहली बार भारत में कंपनी के क्षेत्र में क्रिश्चियन मिशनरियों को अपने धर्म प्रसार एवं मिशन से संबंधित कार्य करने की अनुमति भी दी गई साथ ही इसमें महत्वपूर्ण बदलाव यह किया गया कि भारत को छोड़कर पूर्वी देशों के साथ कंपनी के एकाधिकार को समाप्त कर दिया गया। इस काल में ब्रिटेन में आई औद्योगिक क्रांति के चलते एक व्यापक नीति के तहत लैसेज फेयर की नीति को अंग्रेजों की औद्योगिक नीति का आधार बनाकर भारत को केवल ब्रिटिश हितों के लिए एक उपनिवेश के रूप में ही स्थापित कर दिया गया। 1833 का चार्टर एक्ट भारत के संवैधानिक विकास में मील का पत्थर साबित हुआ। बोर्ड ऑफ कंट्रोल का अध्यक्ष अब भारतीय मामलों का प्रमुख बना दिया गया तथा कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स को केवल मार्ग दर्शकों के रूप में ही रखा गया। बंगाल के गवर्नर जनरल को भारत का गवर्नर जनरल घोषित कर सभी नागरिक एवं सैन्य मामले उसके अधीन हो गए। कानूनी मामलों के जानकार लॉर्ड मेकाले को भी काउंसिल में लिया गया जो आने वाले समय की भारत से जुड़ी न्यायिक एवं शिक्षा संबंधित नीतियों का प्रवर्तक रहा। इस अधिनियम द्वारा लिखित कानून को संहिताबद्ध किया गया था और सबसे महत्वपूर्ण यह कि इस एक्ट द्वारा ईस्ट इंडिया कंपनी को अंतिम बार 20 वर्षों तक की अनुमति मिली। इससे जाहिर है कि 1853 में ब्रिटिश संसद इस विषय में कोई महत्वपूर्ण कदम उठाने वाली थी।

1840 में स्थापित लैंडहोल्डर्स एसोसिएशन द्वारा भारत में राजनीतिक जागरूकता का आरंभ हो चुका था। यह संगठन आम लोगों की समस्याओं को नहीं उठाता था। 1850 के बाद दादाभाई नौरोजी और उनके सहयोगियों ने मुंबई एसोसिएशन की स्थापना की तथा मद्रास प्रेसिडेंसी में मद्रास नेटिव एसोसिएशन की भी स्थापना हुई इन संगठनों ने आरंभिक काल में भारतीय लोगों की समस्याओं से सहानुभूति रखने वाले ब्रिटिश पार्लिमेंट के कुछ सदस्यों द्वारा भारतीयों के प्रश्नों पर चर्चा का आरंभ कर दिया था था। 1853 के चार्टर एक्ट द्वारा गवर्नर जनरल की काउंसिल में विधि सदस्य की नियुक्ति कर दी गई तथा गवर्नर जनरल को किसी भी संवैधानिक प्रस्ताव के लिए सर्वोच्च अधिकार प्रदान किए गए। गवर्नर जनरल की 12 सदस्यों की काउंसिल में गवर्नर जनरल के साथ उसकी काउंसिल के 4 तथा लेजिस्लेटिव एसेंबली के 6 सदस्यों का समावेश था। एक अधिनियम

टिप्पणी

द्वारा ईस्ट इंडिया कंपनी के चार्टर एक्ट को बढ़ाया नहीं गया। भारतीय प्रशासकीय सेवाओं में अब प्रतियोगिता परीक्षा के आधार पर भर्ती की जानी थीं। लॉर्ड मैकाले की अध्यक्षता में इस विषय की एक समिति को गठित किया गया, कंपनी के सारे अधिकार अगले अधिनियम तक कायम रखे गए।

1773 से 1853 तक के इन अधिनियमों में ऐसा एक भी अनुच्छेद नहीं था जिसके तहत गवर्नर जनरल की काउंसिल में किसी भारतीय का समावेशन हो सके। बिपनचंद्र का कथन है कि कॉर्नवालिस ने बंगाल सरकार के दो उद्देश्य प्रमुखता से निश्चित किए थे, "राजनीतिक सुरक्षा सुनिश्चित करना तथा भारत पर अधिकार को ईस्ट इंडिया कंपनी तथा ब्रिटिश राष्ट्र के लिए यथासंभव लाभदायी बनाना।" वास्तव में आरंभ से ही अंग्रेजी हुकूमत इस तरह के अधिनियम बनाती रही, जिनसे केवल ब्रिटेन के उभरते पूंजीवादी वर्ग को लाभ पहुंचे तथा ब्रिटिश साम्राज्य की समृद्धि एवं उसका विस्तार हो सके। 1813 के बाद ब्रिटेन में आई औद्योगिक क्रांति के उपरांत भारत संबंधी सारी नीतियों में फेरबदल किया गया। पूंजीवादियों के प्रबल वर्ग ने इन नीतियों पर गहरा प्रभाव डाला। वह वर्ग अपने उत्पादन को भारत में अधिक से अधिक निर्यात करना चाहता था तथा यदि भारत से कुछ आयात हो तो वह केवल कच्चा माल ही होना चाहिए जिसमें कपास की मांग को प्राथमिकता दी गई। मुक्त व्यापार की नीति के तहत धीरे-धीरे कृषिप्रधान भारत को पूंजीवादी तथा उद्योगप्रधान इंग्लैंड का उपनिवेश बना दिया गया। 1813 के बाद से ईस्ट इंडिया कंपनी की व्यापारिक नीति का निर्धारण ब्रिटिश उद्योग की आवश्यकता के अनुसार ही होने लगा साथ ही उन्होंने भारत के पश्चिमी करण का भी समर्थन किया ताकि वे इंग्लैंड से उत्पादित माल को खपा सकें। इसलिए जाहिर है कि ब्रिटिश सरकार को भारत के समस्त आर्थिक संसाधनों पर पूर्ण नियंत्रण चाहिए था जिसके चलते उन्होंने मालगुजारी की अलग-अलग पद्धतियां बनाईं तथा कर प्रणाली में परिवर्तन किए। इन परिवर्तनों को लागू करने के लिए प्रशासनिक ढांचे का भी विकास हुआ जिससे भारत में सिविल सर्विस सेवा, पुलिस, सेना, न्यायप्रणाली विकसित की गई, किंतु इन सभी सेवाओं के शिखर पर अंग्रेजों का एक ही उद्देश्य कायम रहा और वह था बिना किसी कठिनाई के अधिक से अधिक राजस्व को वसूल करना। 1757 से 1857 तक के 100 वर्षों में अंग्रेजों ने भारतीय उपमहाद्वीप का लगभग सारा क्षेत्र ही अपने अधीन कर लिया था। कुछ छोटे एवं अंग्रेजों के कृपा पात्र राज्य ही अपने स्वतंत्र अस्तित्व को अभी तक बचा पाए थे किंतु लॉर्ड डलहौजी (1848 से 1856) के शासनकाल में राज्य विलय के सिद्धांत (Doctrine of lapse) से तथा उसकी आक्रमक नीतियों के कारण भारत में 1857 के गदर की तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त हुई कुछ समय के लिए इस विद्रोह ने ब्रिटिश साम्राज्य को जड़ से हिला दिया था इतने भिन्न-भिन्न अधिनियम एवं कानून तथा विभिन्न प्रकार की पुलिस एवं सैन्य व्यवस्था को विकसित करने के पश्चात भी विद्रोह के दौरान कुछ समय तक भारत के 1 बड़े भूभाग से अंग्रेजों का वर्चस्व लगभग समाप्त सा हो गया था। इसी कारण ब्रिटेन के अग्रणी नेताओं ने इस दिशा में एक और ज्यादा आश्वासित तथा महत्वपूर्ण कदम उठाया और वह था– 1858 का भारत सरकार का कानून। इसके द्वारा ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के लगभग 100 वर्षों के शासन को औपचारिक रूप से भंग कर दिया गया तथा 1858 में महारानी विक्टोरिया की शाही घोषणा द्वारा भारतीय शासन को अपने अधीन कर लिया गया।

टिप्पणी

1858 भारत सरकार अधिनियम की मुख्य धाराएं इस प्रकार थीं–

(1) बोर्ड ऑफ कंट्रोल तथा कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स को निरस्त कर उसकी जगह भारत सचिव (Secretary of State of India) तथा उसकी काउंसिल को सर्वोच्च बनाया गया जो उसे ब्रिटिश क्राउन के अधीन शासित करने वाले थे।

(2) भारत सचिव ब्रिटिश संसद का न केवल सदस्य होता था बल्कि वह ब्रिटिश सरकार का कैबिनेट मंत्री भी था इससे भारत की ब्रिटिश संसद पर सर्वोच्चता स्थापित हो गई।

(3) भारत सचिव को 15 सदस्यों की काउंसिल के साथ कार्य करना था जिनके निर्णय मानना उसे बंधनकारक नहीं था। केवल आर्थिक मामलों में ही काउंसिल के निर्णय महत्वपूर्ण माने जाते थे, इन सभी का वेतन भारत के राजस्व से ही दिया जाता था।

(4) भारतीय साम्राज्य से जुड़े प्रत्येक क्षेत्र को भारत सचिव के अधीन कर दिया गया जिसमें राजस्व एवं रेलवे तथा इसी प्रकार की भारत संबंधी नीतियां प्रमुखता से थीं। इन सभी की रिपोर्ट उसे प्रतिवर्ष हाउस ऑफ कॉमंस के समक्ष प्रस्तुत करनी होती थी।

(5) गवर्नर जनरल को अब ब्रिटिश ताज के प्रतिनिधि के रूप में वॉइसराय के नाम से संबोधित किया जाना था।

1 नवंबर 1858 को ब्रिटेन की महारानी विक्टोरिया का घोषणा पत्र निकला जिसके द्वारा भारतीय रजवाड़ों तथा प्रजाजनों को यह सूचित किया गया कि अब से महारानी विक्टोरिया ही भारतीय शासन की सर्वोच्च अधिकारिणी होंगी। इस घोषणापत्र में आश्वासन तथा सूचनाओं की निम्नलिखित धाराएं थीं–

(1) भारतीय नरेशों को आश्वासित किया गया की ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा उनके साथ की गई संधियों का यथापूर्वक पालन किया जाएगा साथ ही साम्राज्यविस्तार की नीति को भी समाप्त कर उन्हें अभय दिया गया।

(2) ब्रिटिश सरकार भारतीयों के धार्मिक विचार, उनके रिवाज तथा पूजा विधियों में कोई हस्तक्षेप नहीं करेगी। भारतीय धर्म एवं विश्वासों को उचित सम्मान दिया जाएगा।

(3) महारानी विक्टोरिया भारतीय लोगों को जाति, नस्ल, रंग एवं धर्म इत्यादि भेदभाव के बिना सरकारी नौकरियों में योग्यता के आधार पर नियुक्त करेगी तथा उनके साथ समानता का व्यवहार किया जाएगा।

(4) विद्रोहियों के साथ उचित व्यवहार होगा तथा यदि वे दोषी न हों तो उन्हें क्षमादान मिलेगा।

भारतीय लोग महारानी की घोषणा से आश्वासित तो हुए किंतु वास्तव में यह घोषणा पार्लियामेंट द्वारा पारित कोई अधिनियम नहीं था इसलिए इसमें वर्णित धाराओं के आधार पर शासन चलाने के लिए कोई भी अधिकारी बाध्य नहीं था। किंतु फिर भी इसकी कुछ धाराओं पर अंग्रेजों ने आगे के समय में पूरी तरीके से पालन किया जैसे कि इसके बाद उन्होंने भारतीय समाज की किसी भी धार्मिक परंपरा एवं विश्वास के विरुद्ध कोई कानून नहीं बनाया। परिणामतः भारतीय समाज में अंग्रेजी शिक्षा से प्रभावित एक सुशिक्षित वर्ग

टिप्पणी

ने राजा राममोहन राय के काल से ही भारत में आरंभ हो चुके नवजागरण के धार्मिक एवं सामाजिक सुधार आंदोलनों को और अधिक व्यापक किया।

इसके बाद के समय में महारानी विक्टोरिया की घोषणा से अभय प्राप्त देसी रजवाड़े, नवाब और जमींदारों को अंग्रेजों ने मैत्री संधियों द्वारा अपना मित्र बनाना आरंभ कर दिया। वे नहीं चाहते थे कि उन्हें फिर से 1857 की तरह ही किसी दूसरे विद्रोह का सामना करना पड़े। उनके साम्राज्य के लिए संभावित शत्रु भारतीय रजवाड़ों के एक बड़े वर्ग को इस घोषणा द्वारा शांत कर दिया गया कि 1876 में पारित रॉयल टाइटल्स एक्ट के द्वारा महारानी विक्टोरिया को भारत की साम्राज्ञी घोषित कर दिया गया है, जिसके चलते समस्त भारतीय रजवाड़ों एवं शासकों का दर्जा अधीनस्थ राजा की तरह बन गया। ऐसा नहीं था कि उन्हें पूरी तरह से स्वतंत्र राज्य का दर्जा ही मिल चुका था। कुछ अंदरूनी मामलों को छोड़कर उनकी विदेश नीति को नियंत्रित कर दिया गया। इन शासकों के दरबार में एक रेजीडेंट की नियुक्ति कर दी गई जिससे वह राजाओं की गतिविधियों का विवरण गवर्नर जनरल तक पहुंचा सके। यही वर्ग था जिसने अब तक भारतीय जनता का राजनीतिक नेतृत्व किया हुआ था किंतु इसके पश्चात वे अंग्रेजों के घनिष्ठ सहयोगी बन चुके थे। अब भारत में अंग्रेजी नीतियों का शिकार हो चुकी पीड़ित एवं शोषित प्रजा को एक नए वर्ग का सहारा मिला। यह आधुनिक शिक्षा से प्रेरित का एक वर्ग था जो पश्चिम के अनेक उदार बुद्धिजीवियों के विचार से अवगत हो चुका था। उन्होंने ही इस काल के बाद से भारतीय स्वतंत्रता तक के समय तक भारतीय जनता का सफल नेतृत्व किया।

1858 के अधिनियम के साथ भारत सरकार के ढांचे में कुछ आवश्यक परिवर्तन भारतीय परिषद अधिनियम 1861 द्वारा किए गए जिनमें सिविल सेवा, उच्चतम न्यायालय तथा सेना के पुनर्गठन संबंधी अधिनियम ब्रिटिश संसद द्वारा पारित किए गए। ये सभी नियम भारत पर मजबूत पकड़ बनाने के लिए पारित किए गए थे। अधिनियम ने वॉइस राय के विशेष अधिकारों में बढ़ोतरी कर दी, उसके मुख्य प्रावधान निम्नलिखित थे–

(1) वायसराय की विधान परिषद में न्यूनतम 6 तथा अधिकतम 12 सदस्यों को सम्मिलित कर परिषद के अधिकारों में वृद्धि कर दी गई। इन सदस्यों में से आधे सदस्य गैर सरकारी होने चाहिए थे तथा वाइसराय उन्हें मनोनीत भी कर सकता था।

(2) 1862 में कैनिंग में पटियाला के महाराजा तथा बनारस के राजा को विधान परिषद पर मनोनीत किया गया।

(3) वायसराय को आपात स्थिति में अध्यादेश जारी करने का विशेष अधिकार भी सौंपा गया।

इस तरह इस अधिनियम से भारतीय लोगों का प्रवेश गवर्नर जनरल की विधायिका में अवश्य हुआ किंतु मनोनीत लोग निर्वाचित की बजाय नियुक्त होते थे और उन्हें गवर्नर जनरल द्वारा ही चुना जाता था। ये लोग भारत के आम जनों के प्रतिनिधि नहीं थे इसलिए इस तरह के अधिनियम से भारतीयों के स्वतंत्र रूप से निर्वाचन द्वारा प्रतिनिधित्व मिलने का मार्ग अभी दूर की बात थी। प्रतियोगिता परीक्षा के बल पर प्रशासनिक सेवाओं में भारतीयों को अवसर देने की बात विक्टोरिया के घोषणा पत्र में की गई थी किंतु 1861 में ही इन नागरिक सेवाओं के लिए अधिकतम आयु की सीमा घटाकर 21 वर्ष कर दी गई। साथ ही ये परीक्षाएं भारत की बजाय लंदन में आयोजित की जाती थीं। इतनी कम

टिप्पणी

आयु में किसी भी भारतीय के लिए विदेश जाकर इस परीक्षा में सफल होना एक दुष्कर कार्य था। इस तरह दिखावे के लिए गवर्नर जनरल की विधायकी एवं प्रशासनिक सेवाओं में भारतीयों के प्रवेश की बात अवश्य कही गई थी किंतु वास्तविकता में इस घोषणा का कोई औचित्य नहीं रह गया था। स्पष्ट है कि अंग्रेज ऐसे किसी भी महत्वपूर्ण पद पर भारतीय व्यक्ति को मनोनीत या आसीन होते हुए नहीं देखना चाहते थे जो कार्यकारी हों। जॉन स्ट्रेची के शब्दों में – "हमें यह बिना छल-कपट के मान लेना चाहिए कि हम वे कार्यकारी पद अपने ही हाथ में रखना चाहते हैं जिन पर देश का वास्तविक नियंत्रण निर्भर है।" अंग्रेजों द्वारा भारत पर नियंत्रण बनाने के लिए निर्माण किए हुए प्रशासनिक विभागों की चर्चा करना आवश्यक है–

(1) सिविल सर्विस : अंग्रेजों ने अपने साम्राज्य पर नियंत्रण बनाने के लिए ब्रिटिश हितैषी नौकरशाहों की एक ऐसी व्यवस्था को कायम किया जिन्हें विपुल अधिकार प्रदान किए गए थे।

क्लाइव ड्यूवी का कहना है, 'अपने चरण काल में वे दुनिया के न सही साम्राज्य के सबसे शक्तिशाली नौकरशाह थे।'

भारत में नागरिक सेवा का जनक लॉर्ड कॉर्नवालिस था। वह 1786 में जब भारत आया तो उसने कंपनी के प्रशासन को भ्रष्टाचार से मुक्त कर स्वच्छ बनाने के लिए प्रयास किए। शीघ्र ही उसे आभास हो गया कि कंपनी के कर्मचारी तब तक प्रामाणिकता से कार्य नहीं करेंगे, जब तक कि उन्हें पर्याप्त वेतन नहीं दिया जाएगा। 1784 के पिट्स इंडिया एक्ट तथा 1793 के चार्टर एक्ट द्वारा इन नौकरशाहों की भर्ती संबंधित विधि तय की गई थी, जिसमें इनकी नियुक्ति आरंभ में किसी प्रतियोगिता परीक्षा द्वारा नहीं की जानी थी। शेखर बंदोपाध्याय ने बर्नार्ड कोहन की गणना को तथ्य बनाकर यह स्पष्ट किया कि – '1840 और 1860 के बीच भारत पर शासन करने वाले सिविल कर्मचारियों का विशाल बहुमत 50 या 60 विस्तारित परिवारों से आया।' आरंभ से ही यह व्यवस्था की गई कि प्रशासन के सारे ऊंचे पदों से किसी भी भारतीय को वंचित रखा जाए भारतीय लोगों की योग्यता के बारे में संदेह जताते हुए चार्ल्स ग्रांट ने कहा है कि - 'वह मनुष्यों की अत्यंत पतित और निकृष्ट नस्ल है जिसमें नैतिक जिम्मेदारी की भावना नाम मात्र रह गई है और जो अपने दुर्गुणों के कारण विपन्नता में धंसी हुई है।'

कार्नवालिस भी इसी दृष्टि से हर भारतीय को भ्रष्ट मानता था। किंतु इस तरह के वक्तव्य जानबूझकर दिए जाते थे क्योंकि असल में तो भारत में ब्रिटिश प्रशासन को ब्रिटेन के हितों के लिए उपयोग करने के लिए यह आवश्यक था। किंतु कुछ समय पश्चात इस बात का एहसास होने लगा कि नियुक्त किए गए अधिकारी एवं कर्मचारियों में पदों की तुलना में योग्यता का अभाव था। इसी के चलते लॉर्ड वेलेजली ने कोलकाता के फोर्ट विलियम कॉलेज में सिविल कर्मचारियों को प्रशिक्षण देने का निर्णय लिया जो शीघ्र ही बंद करना पड़ा क्योंकि 1805 में इंग्लैंड के हटफर्ड में इसका कॉलेज बनाया गया। कॉर्नवालिस के समय में ही राजस्व वसूली के लिए उपयुक्त कलेक्टर के पद का निर्माण किया गया। आरंभ में वे केवल मालगुजारी वसूल करने के लिए ही नियुक्त थे किंतु भारत में अंग्रेजों के साम्राज्य विस्तार के साथ साथ इस पद के अधिकारों का स्वरूप भी व्यापक होता चला गया। 1833 के चार्टर एक्ट द्वारा इसमें प्रतियोगिता परीक्षा का प्रावधान किया गया। भारत में लॉर्ड मेकाले को इस आयोग का अध्यक्ष बनाया गया। उसी की सूचनाओं के आधार पर इन परीक्षाओं का स्वरूप तय हुआ। 1853 में इसमें खुली प्रतियोगिता के

तत्वों को जोड़कर तथा महारानी की घोषणा के उपरांत सारे भारतीयों को भी बिना किसी भेदभाव के इन प्रतियोगिताओं में शामिल होने की बात कही गई किंतु आयु सीमा 23 से 19 वर्ष की होने के कारण यह परीक्षा भारतीयों की पहुंच से दूर रही। यह इंग्लैंड में वर्ष में केवल एक ही बार आयोजित की जाती थी जिससे भारतीयों का इस में सफल होना काफी कठिन बना हुआ था।

साम्राज्य विस्तार के साथ ही प्रशासनिक ढांचे का भी क्रमशः विकास हो रहा था और इस प्रशासन व्यवस्था में अब और अधिक कर्मचारियों की आवश्यकता पैदा होने लगी जिसके कारण प्रशासन में भारतीयों को नियुक्त किया गया किंतु केवल निचले पदों पर क्योंकि सालाना 500 पाउंड से ऊपर के पद केवल अंग्रेज या यूरोपियन व्यक्तियों के लिए ही आरक्षित होते थे। सिविल सेवा के ढांचे में सुधार के विषय में अंग्रेज सरकार से कई बार निवेदन किया गया। 1892 में इस मांग को स्वीकृत कर इसे भारतीय नागरी सेवा (Indian civil service) का नाम दिया गया तथा अब खुली परीक्षाओं द्वारा भारतीय भी आई.सी.एस. में भर्ती हो सकते थे। इन नौकरशाहों ने भारत में ब्रिटिश शासन को न केवल सुदृढ़ आधार दिया बल्कि उसके विरुद्ध होने वाले प्रत्येक षड्यंत्र एवं विद्रोह के दमन में भी अपनी उपयोगिता एवं ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति अपनी निष्ठा भी सिद्ध की। यही कारण थे जिनके चलते राष्ट्रीय आंदोलन एवं उससे संबंधित प्रत्येक नेताओं को इन नौकरशाहों ने अपना विरोधी मान लिया था।

(2) पुलिस संगठन : लॉर्ड कॉर्नवालिस के समय से निर्मित पुलिस संगठन ब्रिटिश प्रशासन की व्यवस्था का एक मुख्य आधारस्तंभ आरंभ से ही बना रहा। बंगाल के स्थानीय प्रशासन में पहले यह अधिकार जमींदारों को दिए गए किंतु इस पूरी व्यवस्था पर ईस्ट इंडिया कंपनी का नियंत्रण होना आवश्यक था। कॉर्नवालिस ने 1793 से इस व्यवस्था का दुरुपयोग कर रहे जमींदारों को इन कार्यों से मुक्त कर दरोगा नामक एक पद का सृजन किया जो स्थानीय थानों का प्रमुख और भारतीय होता था। एक थाने के कार्यक्षेत्र को 30 मील की परिधि निर्धारित की गई। आरंभ में ये पुलिस थाने जिला न्यायाधीश के अंतर्गत आते थे किंतु बाद में इन्हें जिला पुलिस अधीक्षक के साथ ही कलेक्टर के अधीन कर दिया गया। पुलिस प्रशासन में पदों का सोपान क्रम तैयार कर इंस्पेक्टर जनरल को सर्वोच्च अधिकारी के रूप में नियुक्त कर दिया गया तथा पुलिस बल को सिविल सेवा के अधीन ही रखा गया। पुलिस का मुख्य काम था कंपनी के राज्य में अपराधों को कम करना। 1770 के अकाल के बाद बंगाल में अपराध की दर में अत्यधिक वृद्धि हो गई थी। सिलसिलेवार डकैती को रोकने में पुलिस काफी हद तक सफल रही। दरोगा वास्तव में ऐसे स्थानीय क्षेत्रों में या देहातों में तैनात किए जाते जहां पर उनसे पूर्व जमींदारों का नियंत्रण था। ये अपने क्षेत्र के भूस्वामी थे जो स्वतंत्र लठियाल के गिरोह भी पालते थे। ग्रामीण भागों में विभिन्न कारणों से ऐसे जमींदारों में आपस में कई बार संघर्ष भी होता था और यह संघर्ष रोकना दरोगा के लिए लगभग असंभव हो जाता था इसलिए 1795 में एक रेगुलेशन पारित कर कुछ परिवर्तन किए गए तथा इन क्षेत्रों को तहसीलदारों के अधीन रखा गया। इस व्यवस्था को धीरे-धीरे मद्रास तथा उत्तर भारत के विजित क्षेत्रों में भी लागू किया गया किंतु स्थानीय क्षेत्रों में दरोगा एवं भूस्वामियों की सांठगांठ से सामान्य लोगों को काफी दिक्कतों का सामना करना पड़ रहा था जिस कारण पुलिस की निगरानी का कार्यभार कलेक्टर के पास सौंप दिया गया। धीरे-धीरे कलेक्टर के अधिकारों में भी

टिप्पणी

वृद्धि होती जा रही थी राजस्व के साथ मजिस्ट्रेट तथा अब पुलिस के कार्यों के लिए भी उसे ही जवाबदेह माना गया। ब्रिटिश साम्राज्य विश्व के भिन्न-भिन्न देशों में फैला हुआ था। उन उपनिवेशओं के लोगों पर नियंत्रण रखने के लिए स्थानीय पुलिस संगठन में भी इसी प्रकार के प्रयोग किए जाते रहे। 'रॉयल आइरिश कांसटेबुलरी' की व्यवस्था इसी प्रयोग का परिणाम थी। भारत में इसे सर्वप्रथम सिंध में लागू करने के बाद पंजाब, बंबई एवं 1860 तक मद्रास में भी यह व्यवस्था लागू कर दी गई। 1860 में गठित पुलिस आयोग ने एक नई व्यवस्था इसमें जोड़ दी जिसमें दरोगा को अब सब-इंस्पेक्टर माना गया तथा पुलिस संगठन में पदों का एक स्पष्ट सोपान तैयार हुआ। असैन्य बल के रूप में अंग्रेजों द्वारा हाल ही में विजित प्रांतों में इसी व्यवस्था ने 1947 तक के दौरान ब्रिटिश राज के साधन तंत्र के रूप में कार्य किया। पुलिस क्रान्तिकारियों की गतिविधियों पर निगरानी रखने और साथ ही राष्ट्रीय आंदोलन के विभिन्न चरण में उसे दबाने के लिए भी अपनी शक्ति का इस्तेमाल करती रही। भारतीय पुलिस आरंभ से भारतीय लोगों के साथ असंवेदनशील व्यवहार के लिए कुख्यात रही। अपने मिले अधिकारों को उन्होंने निरीह एवं लाचार लोगों पर जोर-जबरदस्ती करने के लिए इस्तेमाल किया। इतिहासकार बिपनचंद्र ने लॉर्ड बैंटिक द्वारा 1832 में कहे गए कथन को उद्धृत किया जिसमें बैंटीक ने पुलिस व्यवस्था के विषय में कहा था, 'गडरिया भेड़िए से बड़ा भुक्कड़ हिंसक पशु है।'

(3) न्यायिक व्यवस्था : 1765 की संधि द्वारा साथ अंग्रेजों का बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा के राजस्व पर नियंत्रण स्थापित हो गया। 1765 से 1772 तक बंगाल पर जमींदारों के हाथों में ही स्थानीय क्षेत्रों की न्यायिक व्यवस्था का नियंत्रण होता था। ये जमींदार सामान्य प्रजा पर तरह-तरह के अन्याय करते तथा अपनी शक्ति को जताते। अपनी शक्ति से उन्हें दमित भी करते रहते थे, जिसकी वजह से इनके चंगुल से आम जनों को मुक्त करना अनिवार्य हो गया। 1772 में शासन प्रणाली अंत के बाद ब्रिटेन की तर्ज पर भारत में वारेन हेस्टिंग्स तथा कॉर्नवालिस के काल से ही नई व्यवस्थाओं का आरंभ किया गया। सर्वप्रथम उन्होंने राजस्व एवं न्यायव्यवस्था को नागरी प्रशासन से पृथक किया तथा कलेक्टर के पद का प्रावधान कर उसे ये अधिकार सौंपे गए। कलेक्टर पद का निर्माण निर्देश राजस्व वसूली के लक्ष्य को ध्यान में रखकर ही किया गया था। यही निर्देश था कि राजस्व को अपने अधीन कर्मचारियों के द्वारा वसूल करें। 1773 के रेगुलेटिंग एक्ट द्वारा भारत में सुप्रीम कोर्ट की स्थापना हुई। एलिजा एम्पे को मुख्य न्यायाधीश बनाया गया। मुख्यत: न्यायालय द्वारा कंपनी के कर्मचारियों के गैरकानूनी कार्यो पर प्रतिबंध लगाने की मंशा थी किंतु इस एक्ट में यह स्पष्ट नहीं था कि किस कानून द्वारा न्यायिक निर्णयों के फैसले लिए जाएंगे क्योंकि इस समय तक भारत में न्यायदान की कसौटी पर हिंदुओं के लिए धर्मशास्त्र तथा मुस्लिमों के लिए शरीयत के कानून ही सर्वोच्च थे। 1776 में वाराणसी स्टिंग्स ने हिंदुओं के लिए एक नई विधि संहिता का निर्माण करवाया वह 'ए कोड ऑफ जेंटू लॉज' (A Code of Gentoo laws) के नाम से प्रसिद्ध है। 1784 में एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल की स्थापना करने वाले विलियम जोंस ने कुछ महत्वपूर्ण भारतीय धर्मग्रंथों का अनुवाद किया तथा हिंदुओं तथा मुसलमानों के विधियों को एकत्रित करने का प्रयास प्रारंभ किया। ये वही विधियां थीं, जो अब तक की नई न्याय प्रणाली का आधार बनी हुई थीं। इनको अनदेखा कर सर्वथा भिन्न कानून संभवत हिंदुओं या मुसलमानों द्वारा स्वीकार्य नहीं किए जाते। आने वाले समय में क्रमिक परिवर्तनों के साथ न्यायालयों की नई संरचना उभरकर सामने आई। आरंभ में न्यायालयों को दीवानी

एवं फौजदारी कहकर ही संबोधित किया गया ताकि लोगों में भ्रम उत्पन्न न हो। नवीन न्यायपालिका की रचना कुछ इस प्रकार थी–

टिप्पणी

दीवानी अदालत

(1) **सदर दीवानी अदालत :** दो हजार तथा उससे अधिक के मामलों के लिए सदर दीवानी अदालत थी जो भारत की सर्वोच्च अदालत मानी गई। गवर्नर जनरल एवं उसकी काउंसिल के सदस्य इसमें न्यायदान का कार्य करते थे।

(2) **प्रांतीय अदालत :** बंगाल में राजधानी कोलकाता, मुर्शिदाबाद, ढाका और पटना में चार प्रांतीय अदालतें स्थापित हुईं। इनमें न्यायाधीशों को सहायता करने हेतु मौलवी तथा पंडित भी होते थे।

(3) **जिला अदालत :** बंगाल में लगभग 26 जिला अदालतें थीं जो सिविल सर्विस से चयनित हुए डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट के अधीन होती थीं।

(4) **रजिस्ट्रार अदालतें :** ये स्थानीय अदालतों के ऊपर की अदालतें थीं, जिन्हें `200 तक के मुकदमे की सुनवाई का अधिकार था और जज के पद पर केवल यूरोपियों को ही नियुक्त किया जाता था।

(5) **स्थानीय अदालत :** ये भारतीय अमीन एवं मुंसिफ की अदालतें कहलाती थीं, इनमें `50 तक के मुकदमों की सुनवाई की जाती थी।

फौजदारी अदालत

(1) **सदर निजामत अदालत :** कोलकाता स्थित यह सर्वोच्च फौजदारी अदालत थी। यहां भी गवर्नर जनरल अपनी काउंसिल के सदस्यों के साथ काम करता था।

(2) **क्षेत्रीय न्यायालय :** कॉर्नवालिस के समय में बंगाल प्रांत को 4 संभागों में विभक्त कर प्रत्येक में इन अदालतों को स्थापित किया गया तथा सिविल सर्विस से चयनित व्यक्ति न्यायाधीश पद पर आसीन होता था।

(3) **स्थानीय न्यायालय :** ये प्राथमिक स्तर की अदालतें होती थीं जो भारतीय जज द्वारा संचालित की जाती थीं।

यद्यपि फौजदारी न्यायालय में न्याय अभियुक्तों के धर्म शास्त्रों के अनुरूप ही किया जाता किंतु इनमें संशोधन कर अंग-भंग जैसी कठोर सजा को टालने का प्रयास अवश्य किया जाता था। इस न्याय व्यवस्था में समय-समय पर परिवर्तन किए गए। इस क्षेत्र में विलियम बेंटिक के काल में 1834 के बाद एक बड़ा परिवर्तन तब आया जब भारत में लॉर्ड मैकाले की अध्यक्षता में एक विधि आयोग (Law Commission) की स्थापना की गई। विधि आयोग ने भारतीय दंड संहिता (Indian Penal Code) का प्रारूप 1837 तक तैयार किया किंतु 1857 के विद्रोह के पश्चात ही उन्हें लागू किया जा सका। 1859 में नागरिक कानून संहिता (Code of Civil Procedure) तथा 1862 में आपराधिक संहिता (Criminal Procedure Code) क्रिमिनल प्रोसीजर कोड को भी लागू किया गया।

अंग्रेजी न्यायव्यवस्था, कानून के शासन (Rule of law) और कानून के समक्ष समानता (Equality before law) के दो मुख्य तत्वों पर आधारित थी जिससे न्यायिक-व्यवस्था को शक्तिशाली तथा केंद्रीकृत करने में आसानी हुई। इन तत्वों को लागू करने के विषय में संदिग्धता शेष रही तथा इसमें लोगों के व्यक्तिगत अधिकार को भी स्पष्टत: परिभाषित

टिप्पणी

नहीं किया गया इसलिए व्यवहार में कुछ और ही वास्तविकता दिखाई देती है। यह सही है कि इससे पूर्व भारत में धर्मशास्त्र सम्मत, समाज में प्रचलित प्रथाएं और जातिगत आधार पर न्यायदान किया जाता था, जिसमें स्पष्ट रूप से अनेक भेदभाव विद्यमान थे। उपर्युक्त दो तत्वों में कुछ तथ्य था तो केवल इतना कि कानून के समक्ष समानता की जो बात कही गई उसमें निश्चित रूप से भारतीय जाति व्यवस्था में ब्राह्मणों से लेकर हर वर्ग को एक ही अपराध के लिए एक समान दंड का प्रावधान अपनाया गया। उसी प्रकार का अपराध करने पर यूरोपियन को अलग सजा का प्रावधान किया गया तथा किसी भी भारतीय जज को एक अपराधी यूरोपियन को सजा सुनाने या दंडित करने का अधिकार नहीं मिला। लॉर्ड रिपन के काल में इल्बर्ट बिल का विवाद इसी को लेकर उत्पन्न हुआ था कि यूरोपियन अपराधियों को भारतीय जज भी सजा सुना सके किंतु भारत के समस्त यूरोपियन अंग्रेजी वर्ग ने गवर्नर जनरल के इस निर्णय का पूरी शक्ति से विरोध किया और साथ ही इसे रद्द भी करवाने में सफल भी हुए। 6 अप्रैल 1919 को जनरल डायर द्वारा जलियांवाला बाग में किए गए नृशंस हत्याकांड के बाद उसे दोषी मानते हुए केवल नौकरी से ही निष्कासित किया गया था जबकि किसी भारतीय को अंग्रेज के ऊपर हाथ उठाने के साहस का दंड अपने प्राणों से चुकाना पड़ता। वास्तविकता में कानून के समक्ष समानता के तत्व का कोई अर्थ ही नहीं बचा था किंतु फिर भी इस तत्व ने किसी सनकी राजा या तानाशाह द्वारा प्रचलित अतर्क, विवेकहीन विधि-विधान को स्पष्ट तौर पर नकार दिया।

अंग्रेजों द्वारा स्थापित नए कानून आम भारतीयों की समझ से परे थे। अब तक की न्याय व्यवस्था का स्थानीय रूप अब अपीलीय हो चुका था जिसके कारण स्थानीय से जिला एवं फिर उसके ऊपर की अदालतों में अपील करने के लिए स्थानीय लोगों को जिला तथा डिवीजन तक की यात्रा करनी पड़ती थी जिससे लोगों का खर्च भी बढ़ चुका था। यदि 50,000 की संपत्ति का मामला कोर्ट में दाखिल करना हो तो 1000 का मुद्रांक शुल्क भरना अनिवार्य था। अंग्रेजी भाषा की अनभिज्ञता और क्लिष्ट कानून लोगों के आकलन से परे थे इसलिए उन्हें परिभाषित करने हेतु इन कानूनों की समझ रखने वाला वकील वर्ग उभर कर सामने आया जो पक्षकार तथा न्याय के बीच मध्यस्थ बन गया। वकील तथा कोर्ट की फीस के कारण न्याय और भी अधिक खर्चीला साबित हुआ। पुलिस एवं न्याय व्यवस्था के तत्व निसंदेह आदर्शवत थे किंतु व्यवहार में न समतामूलक साबित हुए और न ही भारतीयों के हित में। इस प्रकार की व्यवस्थाओं ने अंततः औपनिवेशिक सत्ता को ही सुदृढ़ बनाया।

(4) सैन्य संगठन : आरंभ से ही ईस्ट इंडिया कंपनी की सहायता हेतु सम्राट की शाही सेना उनके साथ होती थी। कंपनी की विस्तारवादी नीति के लिए यह आवश्यक था कि वह एक बड़ी सेना को रखे। यही उनके व्यापार एवं साम्राज्यविस्तार का मुख्य आधारस्तंभ रहा। कंपनी की भारतीय सेना का एक बड़ा हिस्सा भारतीय मूल के सैनिकों से भरा होता किंतु उन्हें यूरोपीय मानदंडों के अनुसार प्रशिक्षित किया जाता था और साथ ही ऊंचे सैनिक पदों पर अनिवार्य रूप से अंग्रेजों को ही नियुक्त किया जाता था।

1857 में कंपनी के कुल 3,11,400 सैनिकों में 2,65,900 भारतीय सिपाही थे जबकि 45,500 के लगभग गोरे सिपाहियों की संख्या थी। इन सिपाहियों में मुख्य रूप से सवर्ण जातियों जैसे ब्राह्मण, राजपूत तथा बिहार के भूमिहार ब्राह्मण जैसी उच्च जातियों के तबकों के ही सिपाहियों को भर्ती किया गया। लॉर्ड वेलेजली की सहायक संधि व्यवस्था (Subsidiary alliance) के बाद कई रजवाड़ों ने ईस्ट इंडिया कंपनी की सेना को

टिप्पणी

अपने राज्यों में स्वयं संरक्षण हेतु रख लिया था। जाहिर है उस संधि द्वारा शामिल होने वाले राज्यों की संख्या जैसे-जैसे बढ़ती चली गई उस अनुपात से अनिवार्यत: सिपाहियों की संख्या में भी वृद्धि करनी थी। इसलिए भारत के भिन्न क्षेत्रों में सैन्य भर्तियां आयोजित की गईं। भारी संख्या में भारतीय भी कंपनी की इस भर्ती में भाग लेने को इच्छुक थे क्योंकि वेतन क्षेत्रीय शासकों की अपेक्षा अधिक होता था। इस वजह से इस सेना में भारतीय मूल के सिपाहियों की संख्या अधिक हो गई। एक गोरे सिपाही के अनुपात में चार भारतीय सिपाही भर्ती होते थे। औसतन 1:4 का अनुपात कुछ अजीब सा जरूर लगता है किंतु यह अंग्रेजों के लिए काफी लाभदायक था। पहली बात तो यह कि ब्रिटेन की अल्प आबादी से समूचे साम्राज्य के लिए भारी संख्या में सिपाही उपलब्ध कराना असंभव था, दूसरे ब्रिटिश सिपाहियों को भारतीयों से अधिक वेतन देना पड़ता था जिससे वे खर्चीले साबित हो रहे थे। भारतीय सिपाहियों के बड़े वर्ग पर अंकुश रखने हेतु उच्च पदों पर ब्रिटिश अफसरों की ही नियुक्तियां की गईं। बिपनचंद्र के मतानुसार, 1914 तक किसी भी भारतीय को सूबेदार से ऊंचे पद पर नियुक्त नहीं किया गया था।

राज्यविस्तार के साथ ही सिपाहियों की बढ़ती संख्या से सैन्यव्यवस्था के प्रबंधन में समस्याएं उत्पन्न होने लगीं। अपने समाज एवं धार्मिक परंपराओं के जतन एव अनुपालन के बीच हो रहे अंग्रेजी हस्तक्षेप के विरुद्ध भारतीय सिपाहियों में असंतोष बढ़ रहा था। सन 1806 में इसकी पहली उग्र प्रतिक्रिया तब देखने को मिली जब मद्रास इन्फेंट्री के सिपाहियों को माथे पर तिलक लगाने से रोका गया। 1820 के दशक में उच्च जातियों की संयुक्त सेना के सामाजिक विशेषाधिकार तथा उनके मौद्रिक लाभों में जब कटौती की जाने लगी तो हिंदी सिपाहियों द्वारा क्रमबद्ध विद्रोहों का आरंभ हो गया, 1840 के दशक के उपरांत इनमें और अधिक वृद्धि हुई।

लॉर्ड डलहौजी अग्रेषित व्यपगत नीति (Doctrine of lapse) एवं राज्य विलय के सिद्धांतों के चलते 1848 से 1856 के मध्य अनेक क्षेत्रीय राज्यों को कंपनी बहादुर ने अपने राज्य में विलीन कर लिया। इससे अब इन क्षेत्रों से भी सिपाहियों की भर्ती की जाने लगी मसलन पंजाब, गढ़वाल या पर्वतीय क्षेत्रों के गुरखा जैसी जातियों के लोग भी सिपाही के रूप में भर्ती किए जाने लगे। 1857 के विद्रोह का आरंभ हिंदी सिपाहियों द्वारा ही हुआ था। बंगाल के बराकपुर छावनी से प्रस्फुटित विद्रोह की ज्वाला ने कुछ ही माह के अंतराल में उत्तर भारत के एक विस्तृत क्षेत्र को चपेट में ले लिया। कुछ समय तक इन क्षेत्रों से कंपनी शासन का समूल उच्चाटन हो चुका था। इस विद्रोह के दमन के लिए पंजाब एवं पर्वतीय क्षेत्रों से भर्ती हुए सैनिक सहायक सिद्ध हुए। विद्रोह को पूरी तरह से नियंत्रित करने के बाद सैन्य संगठन में भारी फेरबदल हुए। पील आयोग के सुझावों के अनुसार अब क्षेत्र, संप्रदाय तथा जातिगत आधार पर सैन्य टुकड़ियों के निर्माण होने लगे। भिन्न-भिन्न संप्रदायों के घोषवाक्य एवं उपासना को प्रोत्साहित किया गया। इसके बाद से हिंदी सिपाहियों को एक ही रेजिमेंट में प्रतिबंधित कर दिया गया। जातिगत आधारों पर पलटन तैयार की गई। यह अंग्रेजों की फूट डालो और राज करो की नीति का एक वास्तविक उदाहरण था। 1858 के पश्चात सेना की भूमिका में एक और महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। रानी विक्टोरिया की घोषणा के बाद भारत में साम्राज्यविस्तार की नीति को विराम देकर बचे हुए रजवाड़ों से संधि कर उन्हें अपना मित्र बना लिया गया। इसलिए अब सेना के शत्रु बदल गए। सन 1885 से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के बाद भारतीय समाज में राष्ट्रवाद की चेतना का अभ्युदय हुआ। लोकमान्य तिलक के समय से

टिप्पणी

स्वराज को लक्ष्य मानते हुए परवर्ती काल में राष्ट्रीय कांग्रेस के नेतृत्व में उठी आंदोलनों की लहर से ब्रिटिश साम्राज्य के अस्तित्व पर प्रश्न चिन्ह लगने लगा इसलिए भारत के राष्ट्रीय नेता तथा राष्ट्रीय आंदोलनों के पक्षधर लोग ही अब सेना के संभावित शत्रुओं के रूप में देखे गए। मूलत: यह आंदोलन शिक्षा विभूषित मध्यम वर्ग के नेताओं के नेतृत्व में हो रहा था। हिंदी समाज के मूल प्रश्न, जनभावनाओं तथा उदार एवं लोकतांत्रिक मूल्यों के तत्वों को ही आंदोलन के उपकरण बनाया गया। आंदोलन के यही शस्त्र और सामान्यजन का समर्थन ही उनकी शक्ति थी किंतु सेना के सशस्त्र दस्ते समय-समय पर इन्हें क्रूरता से कुचलने को तत्पर रहते। कंपनी शासनकाल के आरंभ में भारतीय युवक सेना में शामिल हो जाते थे क्योंकि उस समय एक राष्ट्र के रूप में भारत के राष्ट्रीयत्व की कल्पना का उत्थान होना बाकी था। उस समय के प्रचलित लोक व्यवहार के अनुरूप अच्छे वेतन की लालच से लोग सेना में भर्ती हो जाते थे किंतु राष्ट्रीयता की भावना के अभ्युदय के साथ ही जैसे-जैसे राष्ट्रीय आंदोलन अपना जोर पकड़ता चला गया भारतीय सिपाहियों की हमदर्दी आंदोलनकारियों तथा उनके अगुआ नेताओं के पक्ष में हो रही थी जिससे ब्रिटिश सेना में दरार पड़ने लगी। पुलिस एवं सेना की बदली हुई निष्ठाओं के कारण ब्रिटिश राज की 1947 में भारत से समाप्ति हो गई।

नागरिक स्वतंत्रता विरोधी अधिनियम

लॉर्ड लिटन ने भारतीय लोगों के स्वतंत्र विचारों की भावना का दमन करने के लिए 1878 में देसी भाषा प्रेस अधिनियम तथा भारतीय शस्त्र अधिनियम को पारित करके भारतीय लोगों को निशस्त्र किया । प्रेस एक्ट के आधार पर किसी भी अखबार में लेख छपने से पूर्व उसकी अनुमति ली जानी आवश्यक हो गई। यदि लेख में शासन की आलोचना की गई तो उसे साम्राज्य विरोधी माना जाता तथा बिना किसी चेतावनी के उस प्रेस को जब्त किया जाता था। दूसरी ओर शस्त्र अधिनियम के तहत भारतीयों किसी भी प्रकार का शस्त्र रखने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। इस तरह एक लाइसेंसी व्यवस्था का निर्माण कर बिना लाइसेंस हथियार रखना फौजदारी अपराध घोषित हो गया। स्पष्टत: दोनों अधिनियम समानता विरोधी थे क्योंकि प्रेस एक्ट सिर्फ देसी भाषाओं के अखबारों पर प्रतिबंध लगाने वाला था तथा दूसरी ओर शस्त्र अधिनियम में यूरोपियन बिना लाइसेंस के भी हथियार रख सकते थे जबकि भारतीयों को इसके लिए अपराधी माना गया। इससे अंग्रेजी शासन की मंशा साफ होती है कि उन्हें भारत में स्वतंत्र विचारों के अखबार तथा राष्ट्रवादी भावनाओं की वृद्धि में सहायक किसी भी भारतीय व्यक्ति या संस्था को प्रतिबंधित करना था। लिटन द्वारा लागू की गई नीतियां कानून के समक्ष समानता (Equality Before Law) के सिद्धांत से सर्वथा असंगत थीं 1908 तथा 1910 में भी इस प्रकार के भारतीय प्रेस अधिनियम पारित कर समाचारपत्रों में छपे लेखों को अपराध एवं हत्या का कारण बताकर लोगों को उकसाने के आरोप हैं। प्रेस की जब्ती कर उन्हें बंद करना कानूनी रूप से वैध हो गया। लोकमान्य तिलक को भी इसी अधिनियम के अंतर्गत 1908 से 1914 तक दंडित किया गया था। कुल मिलाकर भारत में उत्पन्न हो रहे स्वतंत्र मूलक विचारों को तथा नागरिक अधिकारों को चारों ओर से सीमित करने के लिए ही ये नीतियां आजमाई जाती थीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रथम विश्व युद्ध के दौरान उपजे भारतीय असंतोष को दमित करने के लिए रोलेट कानून बनाए गए थे, जिनका भारतीयों द्वारा काले कानूनों

के रूप में भर्त्सना कर सामूहिक निषेध किया गया। समय-समय पर राष्ट्रीय आंदोलन को दबाने के लिए इस प्रकार के दमनकारी कानूनों का सहारा लिया जाता रहा।

टिप्पणी

स्थानिक स्वराज्य निकायों का विकास

लॉर्ड लिटन के उपरांत गवर्नर जनरल लॉर्ड रिपन उदारवादी प्रवृत्ति का था। भारतीयों का प्रतिनिधित्व बढ़ाने हेतु स्थानीय स्वराज्य संस्थाओं में उनकी उपस्थिति को निश्चित करने का श्रेय रिपन को दिया जाता है। 1882 के अधिनियम द्वारा पूरे देश में स्थानीय स्वराज्य संस्थाएं विकसित की गईं। उनके अधिकारों और कार्य की व्यापकता को निश्चित किया गया तथा उनके लिए पूंजी का भी प्रबंध किया गया। यद्यपि इन निकायों के चुनाव स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप ढाले गए थे फिर भी विभिन्न स्थानीय निकायों में गैर सरकारी सदस्यों की नियुक्ति के रूप में भारतीय लोगों को नियुक्त किया जाने लगा। इस अधिनियम का एक नकारात्मक पक्ष यह था कि इन स्थानीय निकायों को प्रशासनिक अधिकारियों के नियंत्रण में ही रखा गया। नए कर लगाना या वित्तीय रूप से महत्वपूर्ण किसी भी मामले में आगे बढ़ने से पहले इन अधिकारियों की स्वीकृति को आवश्यक माना गया क्योंकि ऐसा न करने पर स्थानीय निकाय को निरस्त किया जा सकता था। फिर भी लॉर्ड रिपन के काल में एक नई पहल का आरंभ हुआ था जो लॉर्ड कर्जन (1899 से 1905) के काल में पुनः सरकारी हस्तक्षेप के अधीन हो गई, 1899 में कर्जन द्वारा पारित कोलकाता निगम अधिनियम में विभिन्न समितियों से भारतीयों की संख्या घटा कर 75 से 50 कर दी गई, परिणाम स्वरूप भारतीय सदस्य अल्पमत में आ गए। ठीक इसी प्रकार 1904 में पारित भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम (Indian University Act) द्वारा विश्वविद्यालयों की सीनेट समितियों में यूरोपियन सदस्यों के प्रवेश से इस प्रणाली में सरकार का हस्तक्षेप बढ़ गया। 1909 के विकेंद्रीकरण आयोग ने स्थानीय संस्थाओं के सशक्तिकरण को लेकर निम्नलिखित सुझाव दिए थे–

(1) स्थानीय निकायों एवं ग्रामीण क्षेत्र के निकाय मंडल के तीन चौथाई सदस्य निर्वाचित होने चाहिए तथा मतदान की योग्यता को थोड़ा शिथिल करना आवश्यक है।

(2) नगरपालिकाओं के अध्यक्ष निर्वाचित एवं गैर सरकारी व्यक्ति होने चाहिए।

(3) गांव में प्रशासनिक व न्यायिक शक्तियों से युक्त पंचायतों का गठन होना चाहिए और यह समस्त कार्य कलेक्टर की निगरानी में ही होना चाहिए। मोंटेग्यू चेम्सफोर्ड सुधारों द्वारा इस अधिनियम के प्रस्ताव को लागू करने का प्रयास भी किया गया तथा प्रांतीय विधायिका के निर्माण के बाद उन्होंने स्वशासन अधिनियम पारित किए। परंतु इसमें से किसी भी प्रयास से ब्रिटिश सत्ता का वास्तविक विकेंद्रीकरण हुआ ही नहीं क्योंकि भारतीयों को प्रतिनिधित्व देना, ब्रिटिश राज्य के वास्तविक उद्देश्य नहीं थे।

ब्रिटिश पंतप्रधान मैकडोनाल्ड द्वारा 16 अगस्त, 1932 को सांप्रदायिक पंचाट (Communal Award) घोषित किए जाने के उपरांत 1935 के भारत सरकार प्रशासकीय अधिनियम द्वारा संघीय व्यवस्था को लागू कर लिखित संविधान सत्ता का विकेंद्रीकरण तथा केंद्रीय न्यायपालिका की व्यवस्था के माध्यम से संघ राज्य की कल्पना को साकार करने का प्रयास भी किया गया किंतु इसके अंतर्गत प्रांतों को वर्गीकृत कर उनमें तीन प्रकार की इकाइयां निर्मित हुईं–

टिप्पणी

(1) ब्रिटिश सत्ता के अधीन भारतीय प्रांत

(2) देसी रियासतें

(3) चीफ कमिश्नरों के अधीन प्रांत

आने वाले समय में स्वतंत्र भारत को जोड़कर रखने के लिए जो सबसे बड़ी समस्या पैदा हुई वह इन देसी रियासतों की ही थी। इस समय तक भारतीय उपमहाद्वीप के लगभग 40% भाग पर देसी रियासतों के रजवाड़ों का नियंत्रण स्थापित था। संघ में सम्मिलित होना उनके लिए अनिवार्य किया गया। एक स्वीकृति लेख (Instrument of Accession) पर हस्ताक्षर करने के बाद ही उन का विलय संघ में किया जा सकता था। ब्रिटिश भारत के प्रांत या चीफ कमिश्नर के प्रांतों का संघ में शामिल होना अनिवार्य बना हुआ था। अंग्रेजों को भारतीय क्षेत्रों पर प्रभुत्व को और अधिक काल तक कायम रखने के लिए देसी रियासतों की सहायता की ही आवश्यकता थी क्योंकि देशी रियासत के प्रतिनिधि अंग्रेजों के प्रति सदा वफादार रहे जबकि निर्वाचित होकर आ रहे प्रतिनिधि वास्तव में भारतीय जनता के प्रतिनिधि थे जो लोगों की समस्याओं के प्रश्न उपस्थित कर उन पर समाधान ढूंढने का आग्रह रखते थे। रजनी पाम दत्त ने स्पष्ट रूप से कहा था कि अंग्रेजों का केवल एक ही हेतु था जो बहुत स्पष्ट था कि इनके जरिए प्रतिक्रियावादी (सामंतवादी व्यवस्था) या पुरानपंथियों को मजबूत बनाना और उन्हें भारत की केंद्रीय सरकार के मर्म स्थल तक लाना था ताकि ब्रिटिश भारत के साम्राज्यवाद के कमजोर पड़ते जा रहे प्रभुत्व को मजबूत बनाया जा सके। 1935 के भारत सरकार प्रशासकीय अधि नियम द्वारा साकार हुई संघीय योजना में प्रांतों पर केंद्र का अत्यधिक नियंत्रण था किंतु राष्ट्र को अनिवार्य रूप से लगने वाली चरम सत्ता संघ के पास नहीं थी यदि इस विषय में कोई आपातकाल निर्माण हो जाता तो अंतिम निर्णय करने का अधिकार गवर्नर जनरल को दे दिया गया था साथ ही साथ गवर्नर जनरल अपनी इच्छा से किसी भी सर्वोच्च विषय पर कानून बनाने का अधिकार केंद्रीय या प्रांतीय व्यवस्थापिका को दे सकता था। केंद्र स्तर पर गवर्नर जनरल ही सर्वोच्च शक्तिमान पद बना रहा किंतु उसे को नियुक्त करने या अपदस्थ करने का अधिकार ब्रिटिश संसद के पास ही रहा इसलिए इस अधिनियम में न तो स्वराज्य की बात कही गई और न ही स्वतंत्र रूप में केवल निर्वाचन से आए हुए प्रतिनिधियों की विधायिका भी का अस्तित्व भी नहीं रहा। केंद्रीय विधायिकों में भी देसी रियासतों के सदस्य मनोनीत किए गए जो वास्तविक जनता के प्रतिनिधि होने की अपेक्षा ब्रिटिश साम्राज्य के ही निष्ठावान बने रहे और सबसे महत्वपूर्ण बात यह रही की भारतीयों के सर्वोच्च अधिकारी गवर्नर जनरल का शासन एवं प्रशासन अभी ब्रिटिश संसद के ही निर्देशन पर था।

1909 में मोर्ले-मिंटो सुधार अधिनियम से लागू होने से पूर्व 1905 में बंगाल का विभाजन किया जा चुका था तथा फूट डालो और राज करो की नीति को खुलकर इस्तेमाल किया जा रहा था। हिंदू और मुस्लिम 1857 की गदर में संयुक्त रूप से अंग्रेजों के विरुद्ध थे, जिसके कारण कुछ समय तक ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ें हिल चुकी थीं। ऐसा दोबारा न हो इसलिए उद्देश्य पूर्ण रूप से इस विभाजन कारी नीति को हवा दी गई तथा 1909 में सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व प्रणाली द्वारा मुस्लिमों का पृथक निर्वाचन संघ मान्य किया गया। 1919 के मोंटेग्यू-चेम्सफोर्ड शासन अधिनियम से भारत में संघीय ढांचे के रूप में केंद्र तथा प्रांतीय विधायिकाओं की उत्पत्ति जरूर हुई किंतु गवर्नर जनरल ही

टिप्पणी

सर्वोच्च बना रहा। 1935 के भारत सरकार अधिनियम द्वारा भी भारत सचिव के अधिकार क्षेत्र में कुछ कमी कर गवर्नर जनरल का दायित्व बढ़ा दिया गया। प्रांतीय शासन में हस्तक्षेप के सर्वाधिकार उसे प्राप्त हो गए। वह किसी भी प्रांत में निर्वाचित सरकार की विफलता की घोषणा कर वहां गवर्नर शासन लागू कर सकता था जिसमें गवर्नर जनरल के आदेशों के अनुसार ही कार्य होता। इसके अलावा प्रांतीय तथा केंद्रीय पालिकाओं द्वारा पारित किए हुए किसी भी बिल को वह अस्वीकार कर सकता था या उसे पुनर्विचार के लिए लौटा भी सकता था और इससे भी अधिक वह ब्रिटिश सम्राट की स्वीकृति के लिए भी उसे प्रलंबित कर सकता था। 1937 में हुए चुनाव के बाद इन प्रांतों में आई सरकारें तथा उनके मंत्रियों के अधीन विभाग गवर्नर जनरल के ही नियंत्रण में रहे। इससे स्पष्ट होता है कि भारत में राष्ट्र का शासन तंत्र धीरे-धीरे किंतु ब्रिटिशों के हितों के अनुरूप ही बनाया गया। अंग्रेज कभी भी जनकल्याण की भूमिका में नहीं रहे अपितु वे सदा ही शासक की मानसिकता में लिप्त रहे। ब्रिटिश संसद से निर्मित भारतीय शासन के प्रशासनिक संगठन की साम्राज्य के सर्वोपरि हितों को संपोषित करने वाली व्यवस्था ने भारत के गैर भारतीय गवर्नर जनरल को एक निरंकुश तानाशाह बना दिया था। भारत में अंग्रेजों की सत्ता स्थापना से ही आदिवासी, किसान तथा नागरी विद्रोह का प्रारंभ हो चुका था। 19वीं शताब्दी के अंत में स्थापित भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेतृत्व में तथा बीसवीं शताब्दी के आरंभ में अन्य कई दलों की स्थापना से भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को बल मिला। किंतु समय-समय पर इन राष्ट्रीय आंदोलनों के प्रवाह को अंग्रेजों ने कठोर दंडविधान के जरिए कुचल दिया। अंग्रेज अधिकारी इस व्यवस्था को अधिकाधिक निरंकुश बनाते चले गए।

कानून निर्माण की निर्णय प्रक्रिया में तथा उसके पालन करते समय किसी भी भारतीय को कोई अधिकार कभी भी प्राप्त नहीं रहा था। अधिनियमों और घोषणाओं के माध्यम से भारतीय जनता को यह आभास दिलाया गया कि शासन में उनका प्रतिनिधित्व होगा किंतु निर्वाचित किए गए प्रतिनिधियों से ज्यादा शक्ति सदैव गवर्नर जनरल के पास ही रही। वास्तविकता में यह व्यवस्था शासन में भारतीयों के प्रतिनिधित्व का जामा पहने हुए निरंकुश शासनतंत्र ही बनी रही।

महान मुगलों के पतन के साथ ही भारत के भाग्य का भी पतन प्रारंभ हो गया। परवर्ती मुगल शासक इतने सक्षम नहीं थे कि वे अपने पूर्वजों की विरासत को संभाल पाते। अतः उनका साम्राज्य बिखरना शुरू हो गया। इस बिखराव में अब्दाली और नादिरशाह जैसे विदेशी लुटेरों ने भी अहम भूमिका निभाई। अंत में रही-सही कसर अंग्रेजों ने पूरी कर दी। 17वीं शताब्दी के ठीक प्रारंभ में ब्रिटिश व्यापरी कंपनी जो बाद में ईस्ट इंडिया कंपनी के नाम से जानी गई, का गठन हुआ और उसने ब्रिटेन की तात्कालीन महारानी विक्टोरिया से पूर्वी देशों में व्यापार करने की अनुमति प्राप्त कर ली। इसी क्रम में अंग्रेजों ने मुगल बादशाह की अनुमति से सूरत में व्यापारिक कोठी स्थापित की।

यह मुगलों के अवसान का समय था, भारत की अनेक शक्तियां आपस में ही लड़ने में व्यस्त थीं। कोई केंद्रीय सत्ता न होने का फायदा अंग्रेजों ने उठाया और उनका उद्देश्य अब व्यापार न रह कर अपने साम्राज्य का विस्तार हो गया। भारतीय राजाओं की परस्पर वैमन्स्यता का अंग्रेजों ने लाभ उठाया और धीरे-धीरे उन्होंने अपने आपको एक सैन्य शक्ति के रूप में स्थापित कर लिया, जो कि भारत को उपनिवेश बनाने के लिए आवश्यक था।

टिप्पणी

असल में उपनिवेशवाद सीधे तौर पर भारतीय इतिहास से संबंधित नहीं था। यूरोप में औद्योगिक क्रांति के आने से ही यह अफरा-तफरी शुरु हुई थी। बड़े-बड़े उद्योगों, कारखानों, मिलों, आधुनिक मशीनों की स्थापना ने पूरे विश्व के सामाजिक परिदृश्य को बदल दिया था। हर देश अपनी पूंजी का निवेश कर सकता था और उस देश के कच्चे माल का इस्तेमाल कर भारी मुनाफा कमा सकता था। अंग्रेजों ने भी यही नीति भारत के संबंध में अपनाई। शनैः शनैः इन्होंने अपनी धूर्त चालों से पहले तो भारत के उद्योग-धंधों को पंगु बनाया और बाद में उन पर कब्जा कर लिया। भारत को उपनिवेश बनाने के क्रम में उन्होंने भारतीय लोगों को सभ्य बनाने, इनका सर्वांगीण विकास करने, सुशासन देने, सबको समान न्याय देने इत्यादि बहानों का इस्तेमाल किया। हड़प नीति, सहायक संधि, रेल, टेलीग्राफ, प्रेस इत्यादि कुटिल नीतियों का प्रयोग किया।

बीसवीं सदी में काफी बाद तक भारत में ब्रिटिश सरकार का स्वरूप मूलतः निरंकुशवादी था। इसकी व्यवस्था सोपान-रूप में व्यवस्थित अधिकारियों के हाथ में थी जिनके प्रमुख थे वायसराय एवं भारत-सचिव। इस व्यवस्था पर संसद का नियंत्रण अनियमित एवं काफी कुछ सैद्धांतिक ही था। वस्तुतः 1858 के बाद जो बातें सामने आईं उनके परिणामस्वरूप वायसराय एवं भारत-सचिव की व्यक्तिगत भूमिकाएं अधिक महत्वपूर्ण हो गईं। साथ ही, संचार-व्यवस्था में क्रांति के फलस्वरूप दोनों के बीच निकट संबंध भी स्थापित हो सका जिसके प्रतीक जलगर्भीय तार-व्यवस्था एवं स्वेज नहर (1865-69) थे। ईस्ट इंडिया कंपनी के मामले इंग्लैंड में राजनीतिक एवं आर्थिक बहस के मुद्दे रहे थे और चार्टर अधिनियमों को पुनः लाए जाने पर संसद में तीव्र वाद-विवाद उठते रहे थे। 1858 के बाद तो स्थिति यह हो गई थी कि भारतीय वित्तीय वक्तव्यों एवं 'नैतिक और भौतिक प्रगति की रिपोर्टों' को पढ़े जाने के समय संसद का हाउस ऑफ कामर्स खाली हो जाया करता था। अपने संरक्षण संबंधी प्रकायों के कारण कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स अभी भी महत्वपूर्ण बना हुआ था। किंतु लार्ड स्टेनली की अधिनियम द्वारा स्थापित 'काउंसिल ऑफ इंडिया', जिसका गठन भारत-सचिव पर नियंत्रण रखने के लिए किया गया था, कभी अधिक महत्व प्राप्त नहीं कर सकी। इसका कारण यह था कि अधि कांश मामलों में काउंसिल के फैसले रद्द कर दिए जाते थे और वायसराय को 'अति महत्वपूर्ण संदेश' एवं 'गुप्त आज्ञाएं' देकर उसकी अवहेलना कर दी जाती थी। भारत में भी रेल और तार के आगमन से स्थानीय शासनतंत्र कलकत्ता से अधिक निकट संपर्क स्थापित कर सकते थे जबकि कूपलैंड का कहना है कि 1919 के पूर्व ''संघ के विचार का कोई संकेत नहीं मिलता'' (कांस्टीट्यूशनल प्राब्लम)। 1861 के 'दि इंडियन काउंसिल एक्ट' ने भी कार्यकारिणी परिषद पर वायसराय की सत्ता को और अधिक सुदृढ़ किया और एक निगमित कार्यप्रणाली की जगह संपूर्ण विभाग की प्रणाली लागू की। उसी विधेयक द्वारा इंपीरियल एवं स्थानीय विधायक समितियों का विस्तार अथवा गठन हुआ जिनमें कुछ गैर-सरकारी भारतीयों को भी सम्मिलित किया गया था। किंतु ये समितियां मूलतः शोभा के लिए थीं। पूर्णतः मनोनीत संस्थाएं होने के कारण, 1892 में होने वाले सुधारों से पहले तक, इन समितियों को कानूनी रूप से यह अधिकार भी नहीं था कि बजटों पर चर्चा कर सकें या प्रश्न उठा सकें। अतः राजनीतिक संरचना ऐसी थी कि वायसराय एवं भारत-सचिव के हाथों में अधिकारों का केंद्रीकरण हो गया था। अतः उनके व्यक्तिगत दृष्टिकोण एवं राजनीतिक गठजोड़ों पर थोड़ा-बहुत विचार आवश्यक है, भले

टिप्पणी

ही भारत के ब्रिटिशकालीन इतिहास को सीधे-सीधे विभिन्न वायसरायों के कालों में विभाजित करने की प्रथा समाप्त हो गई हो।

वायसरायों की सोच

1885 तक राजनीतिक रूप से जागरूक भारतीय इस बात को निश्चित रूप से समझ चुके थे कि सभी वायसराय एक जैसे नहीं होते, और लिटन एवं रिपन के बीच वे जमीन-आसमान का अंतर मानते थे। इस अंतर को वे सीधे-सीधे ब्रिटिश राजनीति में टोरियों एवं लिबरलों के संघर्ष से जोड़कर देखते थे। 1915 में इंडियन नेशनल इवाल्यूशन का इतिहास लिखते समय नरमदलीय कांग्रेस के एक नेता अंबिकाचरण मजुमदार लिटन के शासनशला में 'घिरते हुए बादलों' की एवं रिपन और डफरिन के शासनकाल में 'बादलों के छंट जाने' एवं 'उषा का प्रकाश फैल जाने' की बात करते हैं। हाल ही के एक अधिक परिष्कृत इतिहासकार ने भी 1869-80 के 'कंजर्वेटिव दुस्साहस' की तुलना 1880-88 के 'लिबरल प्रयोग' से की है। (एस. गोपाल, ब्रिटिश पालिसी इन इंडिया)।

आलंकारिकता को छोड़ दें तो जो महत्वपूर्ण परिवर्तन दिखाई देता है वह है 1880 के दशक के आरंभ में किया गया एक छोटा-सा प्रयास जो टिकाऊ सिद्ध नहीं हुआ। यह प्रयास था भारतीय सहयोगियों के दायरे को राजाओं और जमींदारों से बढ़ाकर इसमें अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त 'मध्यवर्गीय समूहों' को सम्मिलित करना। इस मध्य वर्ग को लिटन ने यह कहकर खारिज कर दिया था– "ये बाबू हैं जिन्हें हमने ही शिक्षित किया है ताकि वे देसी अखबारों में अर्ध-राजद्रोहपूर्ण लेख लिख सकें।" इसके विपरीत रिपन का कहना था– "इस बात की आवश्यकता प्रतिपल बढ़ती जा रही है कि हम पढ़े-लिखे नेटिवों को अपने शासन का मित्र बनाएं, शत्रु नहीं।" (अनिल सील, इमरजेंस ऑफ इंडियन नेशनलिज्म, पृ. 134, 149)। 1883 में इल्बर्ट विधेयक के प्रति एंग्लो-इंडियनों की अप्रत्याशित तीव्र प्रतिक्रिया के कारण यह प्रयोग शीघ्र ही समाप्त हो गया। इसने रिपन को शिक्षित भारतीयों की दृष्टि में एक जगमग शहीद ही बनाया। हालांकि इस धारणा का कोई विशेष औचित्य नहीं था। डफरिन (1884-88), लैंसडाउन (1888-93), एवं एल्गिन (1893-98) के कार्यकालों में भारत के प्रति टोरी एवं लिबरल दृष्टिकोणों का अंतर निरंतर धुंधलाता गया। डफरिन प्रभावहीन ढंग से सबको प्रसन्न करने का प्रयास करता रहा जो उसके लिए हितकर नहीं था। श्वेतों के वाणिज्यिक दबाव में आकर उसने ऊपरी बर्मा का अधिग्रहण किया, बंगाल और अवध के काश्तकारी अधिनियमों में भू-स्वामियों को लाभ पहुंचाने वाले सुधार किए, थोड़े समय के लिए ह्यूम से मित्रता भी की, किंतु फिर जाने के ठीक पूर्व सेंट एंड्रयूज के भोज में कांग्रेस की तीव्र आलोचना करते हुए भाषण भी दिया। अंत में वह किसी को भी प्रसन्न नहीं कर पाया, जैसाकि दिनशा वाचा ने दादाभाई नौरोजी को लिखे एक निजी पत्र में कहा था। दिसंबर 1888 में दिनशा ने तो यहां तक कह दिया कि वे किसी लिटन को बर्दाश्त कर सकते हैं, मगर किसी डफरिन को नहीं (आर.पी. पटवर्धन, सं, दादाभाई नौरोजी करेस्पांडेस, खंड 2, पृ. 137)। भारतीय संदर्भ में ब्रिटेन के दलीय विभाजन कितने अप्रासंगिक हो गए थे, यह इसी से स्पष्ट है कि सैलिसबरी के टोरी मंत्रिमंडल द्वारा नियुक्त लैंसडाउन ने बड़ी तत्परता से डफरिन की इस निजी प्रार्थना को स्वीकार किया कि प्रादेशिक काउंसिलों में चुनाव के लिए भी थोड़ा स्थाना रखा जाए। दोनों ने लगभग एक ही प्रकार से यह तर्क दिया– "इससे कांग्रेस के पास लड़ने के लिए कोई मुद्दा ही नहीं बचेगा।" ग्लैडस्टोन के अंतिम प्रशासन द्वारा नियुक्त वायसराय एल्गिन ने भारतीय सूती कपड़ों पर बराबर की आबकारी लगाकर लंकाशायर को अतिरिक्त

टिप्पणी

सुविधाएं दीं और स्वयं दादाभाई नौरोजी ने 1892 में लार्ड क्रास बिल में एक संशोधन का समर्थन करने से इनकार करके अपने भारतीय प्रशंसकों को बुरी तरह हतोत्साहित किया। इस बिल में स्पष्ट रूप से चुनाव आरंभ करवाने की बात कही गई थी। 1893 में इसकी पुनरावृत्ति तब हुई जब उन्होंने किंबरली एवं लैंसडाउन को आई.सी.एस. की परीक्षाएं साथ-साथ कराने संबंधी हाउस ऑफ कॉमंस के प्रस्ताव की अवहेलना करने दी।

दलीय विभाजनों की अप्रासंगिकता का कुछ संबंध 1880 के दशक के उत्तरार्ध में इंग्लैंड में व्याप्त राजनीतिक अस्पष्टता से भी हो सकता है। इस समय ग्लैडस्टोन के आयरिश होमरूल को लेकर लिबरल विभाजित हो गए थे। बात जो भी रही हो, लिबरल परंपरा सदैव अस्पष्ट रही। इसमें अभिजातवादी नेतृत्व के ह्विग प्रशंसक थे, वृहत्तर जनतंत्र के उग्र पक्षधर थे, लिबरल-साम्राज्यवादी थे जिन्हें उनकी विदेश नीति के कारण कंजर्वेटिवों से अलग करके देखना कठिन था, और साथ ही इसमें 'लिटिल इंग्लैंडर्स' थे जो सच्चे दिल से सैन्य-विस्तार के विरोधी थे (यद्यपि स्वतंत्र व्यापार से होने वाले पर्याप्त लाभों से उनका कोई विरोध नहीं था)। फिर भी राजनीतिक विचारधाराओं से अधिक महत्वपूर्ण थे संपूर्ण औपनिवेशिक स्थिति से उत्पन्न कुछ परिणाम और अब इन्हीं दीर्घकालीन प्रवृत्तियों पर हम विचार करेंगे।

विदेश नीति

ब्रिटिश-भारतीय विदेश नीति में जहां कर्जन के पूर्व लिटन के मुखर साम्राज्यवाद का स्वर नहीं सुनाई पड़ता, वहीं 1860 के दशक में 'अप्रतिम निष्क्रियता' के दिनों की अपेक्षा कुल मिलाकर अधिक आक्रामक दृष्टिकोण ही देखे जाते रहे। यह बात तब अधिक समझ में आती है जब इसे अफगानिस्तान की ओर बढ़ते हुए रूस, हिंदचीन पर पर्शिया और फ्रांस के बढ़ते हुए प्रभाव, एवं तीव्र होती साम्राज्यवादी प्रतिद्वंद्विता के संदर्भ में देखा जाए। विरोधी पक्ष के लिबरलों ने लिटन के अफगानी दुस्साहस की कड़ी निंदा की थी, किंतु रिपन की नीति भी अंततः इससे नितांत भिन्न नहीं थी। अफगानिस्तान के विभाजन की योजना त्याग दी गई थी; साथ ही काबुल में एक ब्रिटिश एजेंट को रखने पर भी अब जोर नहीं दिया जा रहा था। किंतु अब्दुर्रहमान (जिसे अंततः लिटन ने चुना) को अमीर बना रहने दिया गया था और एक रकम देकर विदेश नीति पर उसका नियंत्रण कायम रहने दिया गया था जबकि ब्रिटिश सरकार ने पिशिन एवं सिबी के क्षेत्र अपने पास ही रखे और 1887 में उन्हें ब्रिटिश बलूचिस्तान बना दिया।

डफरिन के समय में रूस ने अफगानिस्तान की सीमावर्ती पंजदह चौकी पर कब्जा कर लिया (मार्च 1885) जिससे अत्यंत तनावपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो गई, किंतु अंत में इस मामले को डेनमार्क के राजा के पास मध्यस्थता के लिए ले जाया गया। जुलाई 1887 में अफगान सीमा से संबंधित एक समझौता हुआ। फिर भी, 1887 से लेकर 1892 की अवधि में जब सैन्यवादी लार्ड राबर्ट्स कमांडर-इन-चीफ था, उत्तर-पश्चिमी सीमा के संबंध में एक अग्रगामी नीति अपनाई गई। इसके फलस्वरूप कबायलियों के विरुद्ध अनेक खर्चीले अभियान किए गए, महत्वपूर्ण स्थानों पर रेलमार्गों का निर्माण कराया गया, 1893 में ड्यूरेंड समझौता लागू किया गया जिसके अनुसार भारत-अफगानिस्तान के बीच एक सीमा-रेखा खींची गई, और (लिबरलों के नैतिक संशय के बावजूद) चितराल का अधिग्रहण कर लिया गया हालांकि चितराल को अंततः ब्रिटिश शासन में ही रखा गया।

टिप्पणी

डफरिन के प्रशासनिक काल की एक महत्वपूर्ण बात यह है कि इसी काल में ब्रिटिश-भारतीय क्षेत्र का अंतिम बड़ा विस्तार हुआ। यह था जनवरी 1886 में ऊपरी बर्मा का ब्रिटिश भारत में विलय। कुछेक राजनीतिक एवं वाणिज्यिक कारणों से नवंबर 1885 में ब्रिटिश सैन्य टुकड़ियों को बर्मा भेजने का निर्णय किया गया। अंग्रेजों को इस बात की आंशका थी कि पड़ोसी हिंदचीन से फ्रांसीसी अपना प्रभाव बर्मा तक फैला सकते थे। यह आशंका विशेष रूप से उस समय बढ़ी जब जनवरी 1885 में राजा थिबो ने एक व्यापार-संधि पर हस्ताक्षर किए और जुलाई में एक फ्रांसीसी कंपनी के साथ रेल-समझौता किया। रंगून में स्थित ब्रिटिश चेंबर ऑफ कॉमर्स भी इस अधिग्रहण के लिए उत्सुक था, विशेषत: तब से जबकि राजा थिबो ने अगस्त 1885 में इमारती लकड़ी का व्यापार करने वाली एक ब्रिटिश कंपनी को धोखाधड़ी के लिए भारी जुर्माना भरने का दंड दिया। रैंडोल्फ चर्चिल ने डफरिन को आश्वस्त किया था कि इंग्लैंड के 'बड़े व्यापारिक हित', विशेषत: मैनचेस्टर भी, इस 'अधिग्रहण का हार्दिक' समर्थन करेंगे। ऊपरी बर्मा अपने-आप में लुभावना तो था ही, इसका महत्व इस कारण और भी बढ़ गया था कि वह यूनान और दक्षिण-पश्चिमी चीन का संभावित प्रवेशद्वार भी था। सैलिसबरी मंत्रिमंडल ने बड़े उत्साहपूर्वक ढंग से डफरिन का समर्थन किया था। ग्लैडस्टोन मंत्रिमंडल, जिसके काल में इस अधिग्रहण को औपचारिक रूप दिया गया, थोड़े नैतिक संशय में पड़ा था, किंतु फिर बड़ी अनिच्छा से इसके लिए सहमत हो गया। यही वह अंतर था जो इस काल में टोरियों और लिबरलों के अंतर को दर्शाता था। शक्तिहीन मांडले सरकार तो लगभग बिना कोई प्रतिरोध किए धराशयी हो गई, किंतु लोकवादी छापामार प्रतिरोध का शमन करने में ब्रिटिश सरकार को पांच साल और 40,000 सैनिक लगाने पड़े।

सैन्य व्यवस्था

इस प्रकार के अभियानों का अर्थ था सेना पर अधिक व्यय। इसमें देश के बाहर भारतीय सेनाओं की नियुक्ति भी जोड़ी जानी चाहिए जिसका भारत मुख्य रूप से भारत के राजकोष को ही उठाना पड़ता था। रिपन के विरोध के बावजूद ग्लैडस्टोन ने 1882 में मिस्र में, 1885-86 में मेहदी आंदोलन के विरुद्ध सूडान और 1990 में चीन में बॉक्सरों के विरुद्ध भारतीय सेना को तैनात किया। पंजदह युद्ध का हौवा दिखाकर भारतीय सेना में 30,000 सैनिकों की वृद्धि की गई। 1881-82 में भारत सरकार के बजट का 41.9 प्रतिशत सैन्य व्यवस्था पर खर्च हुआ था; दस वर्ष पश्चात यह रकम बढ़कर बजट का 45.4 प्रतिशत हो गई। 1904-05 तक, कर्जन के समय में, यह बढ़कर 51.9 प्रतिशत हो गई। वस्तुत: ब्रिटिश सरकार की सैन्य नीति औपनिवेशिक शासन के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए महत्वपूर्ण अंतदृष्टि प्रदान करती है। अंग्रेजों के मन से 1857 की क्रांति की याद अभी मिटी नहीं थी। दिसंबर 1888 में डफरिन ने कहा था– "अंग्रेजों को यह पाठ सदैव याद रखना चाहिए जो उन्होंने तीस साल पहले बड़े भयावह अनुभवों से सीखा था।" 1859 और 1879 के आयोगों ने इस बात पर बल दिया कि सेना में एक-तिहाई गोरे हों (1857 के पूर्व इनकी संख्या 14 प्रतिशत थी) और तोपखाने पर कड़ाई के साथ केवल यूरोपीयों का एकाधिकार रहे। (1900 तक भारतीयों को दी जाने वाली रायफलें भी घटिया दर्जे की होती थीं।) ऐसी नीति, जिसे सर जान स्ट्रेची पूर्ण अलगाव की नीति कहते थे, अपनाई जाए ताकि जाति, धर्म, वर्ण अथवा स्थानीय सहानुभूति के आधार पर किसी भी प्रकार की सामुदायिक भावना की खतरनाक अस्मिता को पनपने से रोका जा सके

टिप्पणी

(इंडिया, पृ. 63)। वास्तव में वुड ने 1862 में 'फूट डालो और राज करो' के सिद्धांत का वर्णन बड़े स्पष्ट शब्दों में किया था– "मैं विभिन्न रेजीमेंटों में भिन्नता एवं प्रतिस्पर्धा की भावना विकसित करना चाहता हूं ताकि आवश्यकता पड़ने पर सिख हिंदुओं पर और गोरखा सिखों और हिंदुओं, दोनों पर ही बिना झिझक गोली चला सकें।" 1879 में सैन्य आयोग ने इस बात को पुनः दोहराया– "एक पर्याप्त यूरोपीय सेना के शानदार संतुलन के बाद आता है देसी के विरुद्ध देसी का संतुलन" (हीरालाल सिंह, प्रॉब्लम एंड पॉलिटिक्स ऑफ दि ब्रिटिश इन इंडिया, 1885-1889, पृ. 140, 142 से उद्धृत)। लार्ड राबर्ट्स ने 1880 के दशक के अंतिम वर्षों में कहा था– 'लड़ाकू जातियां ही अच्छे सिपाही पैदा कर सकती है।' इसका प्रयोग सेना में मुख्यतः सिखों एवं गोरखों की भर्ती का औचित्य सिद्ध करने के लिए किया गया। सिख और गोरखा अपेक्षाकृत सीमांत धार्मिक एवं प्रजातीय समूहों के अंतर्गत आते थे और उन पर राष्ट्रवाद का प्रभाव पड़ने का कम आंशका थी। कमान की प्रजातीय समता अथवा उसके भारतीयकरण का तो कोई प्रश्न ही नहीं था। 1895 में वेतन में थोड़ी वृद्धि होने के पश्चात भी भारतीय सेना का पैदल सिपाही नौ रुपए महीना वेतन पाता था, जबकि अंग्रेज सिपाही को चौबीस रुपए महीना वेतन के साथ अनेक प्रकार के भत्ते भी मिलते थे। कहीं 1926 में जाकर ही सैंडहर्स्ट समिति ने 1952 में 50 प्रतिशत अधिकारी श्रेणी के भारतीयकरण की बात सोची।

राजनीतिक अर्थव्यवस्था

विदेशों में किए जाने वाले अभियानों एवं सैन्य विस्तार का निश्चित अर्थ था वित्तीय बोझ। 1873 के बाद से सोने की तुलना में चांदी के रुपए के अवमूल्यन से भारतीय वित्त-व्यवस्था पर बोझ बहुत बढ़ गया। भारतीय व्यय के बहुत बड़े भाग का भुगतान पाउंड मुद्रा में करना पड़ता था (जैसे ब्रिटिश सैन्य एवं असैन्य अधिकारियों की पेंशनें, भारत-सचिव के प्रतिष्ठान की सारी लागत, भारतीय ऋण पर ब्याज एवं वे सभी अन्य मदें जो तथाकथित घरेलू मदों के अंतर्गत आती थीं)। रुपया, जिसका मूल्य 1872 में 2 शिलिंग था, 1883-94 तक 1 शिलिंग 2 डाइम से थोड़ा ही अधिक का रह गया था। हाल ही में ब्रिटिश 'राज के वित्तीय आधारों की विस्तृत गवेषणा सव्यसाची भट्टाचार्य ने की है और कैंब्रिज इतिहासकारों ने ऐसी वित्तीय समस्याओं, सत्ता के हस्तांतरण सहित प्रशासनिक दबावों एवं राष्ट्रीय आंदोलनों के बीच मे संबंधों को स्पष्ट करने की दिशा में महत्वपूर्ण योगदान किया है। अनिल सील के शब्दों में– "स्थानीय मामलों में राज के और भारी हस्तक्षेप द्वारा प्रशासनिक व्यवस्था को अधिक दृढ़तापूर्वक दबाना आवश्यक था" (लोकेलिटी, प्राविसी एंड नेशन, पृ. 10)। स्पष्ट शब्दों में कहें तो इसका तात्पर्य था कराधान के पुराने रूपों को और फैलाना और नये रूपों की खोज करना- एक ऐसी प्रक्रिया जो अपने आप में अनेक कठिनाइयों से भरी थी क्योंकि सरकार पर विभिन्न दिशाओं से दबाव पड़ रहे थे।

भू-राजस्व अब भी सरकारी आय का अकेला, सबसे बड़ा स्रोत था। स्थाई बंदोबस्त को बढ़ाए जाने की बात, जो कि 'गदर' के तुरंत बाद के वर्षों में आम थी जब वफादार आश्रित भूस्वामियों की खोज की जा रही थी, अब भुला दी गई थी। 1881-82 में भू-राजस्व से होने वाली आय 19.67 करोड़ रुपए थी जो 1901-02 तक बढ़कर 23.99 करोड़ हो गई थी। राजस्व में यह वृद्धि भयंकर अकाल के बावजूद हुई थी और इसने, जैसा कि हम आगे देखेंगे, राष्ट्रवादियों को शिकायत का एक स्थाई और बड़ा कारण

टिप्पणी

प्रदान किया। फिर भी यह अधिकाधिक अनुभव किया जाने लगा था कि भू-कर में अत्यधिक वृद्धि राजनीतिक दृष्टि से खतरनाक है एवं आर्थिक दृष्टि से भी बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं है क्योंकि अंग्रेज कपास, चीनी, पटसन, गेहूं और अन्य कृषि-उत्पादों का निर्यात बढ़ाने के लिए भी उत्सुक थे। वस्तुतः सरकार की कुल आय और भू-राजस्व का अनुपात घटा था (उपरोक्त वर्षों में मात्र राजस्व क्रमशः 46.86 करोड़ एवं 60.79 करोड़ रुपये था)। आयात कर लगाने से बजट बनाना काफी सरल हो जाता और राजनीतिक रूप से जागरूक भारतीय भी इससे प्रसन्न हो जाते किंतु, जैसाकि सर्वविदित है, यहां लंकाशायर के निहित स्वार्थ बारंबार आड़े आते रहे। 1870 के मध्य-दशक से सैलिसबरी द्वारा समर्थित मैनचेस्टर गुट कपास पर लगाए जाने वाले करों का यह कहकर बराबर कड़ा विरोध करता रहा कि बंबई के उद्योग को संरक्षण दिया जा रहा है। लिटन ने 1878-79 में अफगान युद्ध के बावजूद इन करों में कटौती की और रिपन ने 1882 में तो इन्हें समाप्त ही कर दिया। 1890 के दशक में जब अत्यधिक घाटे के कारण इन करों को पुनः लगाना अपरिहार्य हो गया तो 1894 और 1896 में इनके साथ ही भारतीय कपड़े पर भी कुख्यात उत्पादन शुल्क लगा दिया गया। 1860 में जेम्स विल्सन के काल से ही वायसराय की काउंसिल के ब्रिटिश-भारतीय वित्त-सदस्य आयकर लगाने के बारे में विचार कर रहे थे यद्यपि गोरों और प्रभावशाली भारतीयों ने समान रूप से इसका विरोध किया था। पंजदह और बर्मा के अभियानों के बाद 1886 में डफरिन ने इस विचार को एक व्यवस्थित एवं स्थाई रूप प्रदान कर दिया। दो वर्ष पश्चात अत्यंत अवरोही बिक्रीकर में तीव्र वृद्धि कर दी गई।

बेयली के इलाहाबाद एवं वाशब्रुक के दक्षिण भारत संबंधी अध्ययनों में 1880 के दशक के मध्य में कराधान में होने वाली इस आकस्मिक वृद्धि की भूमिका पर विशेष बल दिया गया है। इसके कारण कांग्रेस को उसके मद्रास (1887) एवं इलाहाबाद (1888) अधिवेशनों में अप्रत्याशित रूप से व्यापक समर्थन मिला। वाशब्रुक प्रांतीय स्तर पर दीर्घकालीन प्रवृत्तियों से संबंधित कुछ रोचक तथ्य भी प्रस्तुत करते हैं। 1880 में मद्रास में कुल राजस्व का 75 प्रतिशत भू-राजस्व से प्राप्त होता था जबकि 1920 में यह घटकर 28 प्रतिशत रह गया था। इसके विपरीत शराब से प्राप्त होने वाला उत्पादन शुल्क 1882-83 में मिलने वाले 60 लाख रुपए से बढ़कर 1920 में 5.4 करोड़ रुपए हो गया था। वनों से होने वाली आय में भी वृद्धि हुई थी। इसका तात्पर्य था आदिवासियों एवं गरीब किसानों के चराई एवं ईंधन बटोरने संबंधी परंपरागत अधिकारों में कटौती। कभी-कभार इससे अधिक समृद्ध ग्रामीण हितों पर भी विपरीत प्रभाव पड़ता था। मद्रास में 1880 के दशक में और असम में 1890 के दशक में प्रांतीय संगठन पहले ही वन-कानूनों एवं चराई पर नियंत्रण लगाए जाने का विरोध कर चुके थे और कांग्रेस के आरंभिक अधिवेशनों में बार-बार इस मुद्दे को उठाया गया।

उन्नीसवी सदी में गुंटूर में लोक-प्रशासन से संबंधित एक अध्ययन (गुंटूर डिस्ट्रिक्ट, 1788 टु 1848, ऑक्सफोर्ड, 1965) में फ्राइकेनबर्ग ने दर्शाया है कि किस प्रकार कंपनी के अपेक्षाकृत ढीले-ढाले प्रशासन में मातहत भारतीय कर्मचारी पर्याप्त स्वतंत्र थे और स्थानीय बड़े लोगों से संपर्क बनाए रखने पर उन्हें आर्थिक लाभ भी प्राप्त होते थे। 1858 के पश्चात वित्तीय दबावों के चलते जो स्थितियां बनी उनके फलस्वरूप इस स्वायत्तता में स्वाभाविक रूप से कमी आई। मद्रास के संदर्भ में इस प्रक्रिया का विस्तृत विश्लेषण वाशब्रुक ने किया है। किंतु रोचक बात यह है कि इसको पूर्वी बंगाल के

टिप्पणी

सिलहट क्षेत्र के संदर्भ में बिपिन पाल ने प्रमाणित किया है। पाल ने दर्शाया है कि किस प्रकार इन इलाकों में केंद्रीकृत प्रशासन के अधिकाधिक पैठने के साथ ही जमींदार रूपी 'स्वाभाविक नेताओं' पर नियंत्रण क्रमशः बढ़ता गया। (मेमरीज ऑफ माई लाइफ एंड टाइम्स, पृ. 11-16)।

स्थानीय स्वायत्त शासन एवं काउंसिल सुधार

वित्तीय दबाव एवं प्रशासनिक कसाव राजनीतिक रूप से खतरनाक न हों, इसके लिए आवश्यक था कि इनके साथ-साथ अधिक भारतीय सहयोगियों की तलाश की जाती। जैसाकि अनिल सील का कहना है, ''नामांकन की व्यवस्था, प्रतिनिधित्व और चुनाव, ये सब भारतीयों को साम्राज्यवादी लक्ष्यों की पूर्ति की दिशा में जुटाने के साधन थे'' (लोकेलिटी, प्राविंस एंड नेशन, पृ. 10)। स्थानीय स्वायत्त शासन के विकास में वित्तीय एवं राजनीतिक पक्षों को बड़ी सफाई से गूंथा गया था। वस्तुतः यह प्रक्रिया कंजर्वेटिग मेयो के काल में आरंभ में हुई थी, लिबरल रिपन के काल में नहीं। इसका मुख्य लक्ष्य था- स्थानीय आवश्यकताओं की स्थानीय करों द्वारा पूर्ति करके वित्तीय कठिनाइयों को सुलझाना। किंतु मेयो ने भी अनुभव किया था कि ''हमें इस देश के शासन में अपने-आपसे धीरे-धीरे देसी तत्वों को अधिकाधिक जोड़ना चाहिए।'' दूसरा राजनीतिक पेंच रिपन के मई 1882 के प्रसिद्ध प्रस्ताव में स्पष्टतः उभरकर सामने आया जिसमें स्थानीय निकायों में चुनाव द्वारा बहुमत प्राप्त करने एवं अध्यक्ष चुनने का अधिकार देने का वादा किया गया था। यह ऐसा वादा था जो धीरे-धीरे और अपूर्ण रूप से ही व्यवहार में आ सका क्योंकि अधिकांश प्रांतीय नौकरशाहों ने इसका प्रतिरोध किया। उत्तरदायित्व के हस्तांतरण की इस समस्त प्रक्रिया में वित्तीय पक्ष कितना महत्वपूर्ण रहा था, यह एक बहुत बाद के दृष्टांत से स्पष्ट होता है– 1919-20 में बंगाल में यूनियन बोर्डों की स्थापना के साथ ही चौकीदारी कर में 50 प्रतिशत की वृद्धि कर दी गई। इसके प्रतिक्रियास्वरूप मिदनापुर में एक भारी और सफल राष्ट्रीय प्रतिरोध आंदोलन उठ खड़ा हुआ।

1880 के दशक के अंतिम वर्षों के पश्चात कांग्रेस के उत्थान का तात्पर्य यह था कि उच्च स्तरों पर सहयोग मुख्यतः लेजिस्लेटिव काउंसिल सुधारों की क्रमिक किस्तों के माध्यम से ही प्राप्त किया जा सकता था। उदाहरण के लिए, 1892 के लार्ड क्रॉस के इंडियन काउंसिल एक्ट ने गैर-सरकारी सदस्यों में वृद्धि की थी (16 सदस्यों की इंपीरियल काउंसिल में अब 10 गैर-सरकारी सदस्य होते थे)। यद्यपि इसमें चुनावों की बात स्पष्ट रूप से स्वीकार नहीं की गई थी, लेकिन भारतीय अधिकारी-वर्ग को यह अधिकार दिया गया था कि वे सदस्यों का नामांकन करने में स्थानीय निकायों, विश्वविद्यालयों की सिनेटों, चैबंर्स ऑफ कॉमर्स एवं भू-स्वामियों के संगठनों की राय ले सकें। काउंसिल के सदस्यों ने बजट पर चर्चा करने और प्रश्न करने का अधिकार प्राप्त कर लिया था, यद्यपि उन्हें संशोधन प्रस्तुत करने, बजट पर वोट देने अथवा पूरक मांगें रखने का अधिकार नहीं था।

तथाकथित 'संवैधानिक सुधार' की प्रक्रिया सरकारी नीति के दो अन्य तत्वों से संबद्ध रही- समय-समय पर 'नरमपंथियों को साथ लाना' (यह सूत्र मिंटों का था किंतु इसका प्रयास बहुत पहले आरंभ हो चुका था) एवं 'फूट डालो और राज करो' के उपायों को चतुराईपूर्वक प्रयुक्त करना। रिपन की बड़ी आशाओं के बावजूद स्थानीय स्वायत्त शासन इनमें से पहले लक्ष्य को प्राप्त करने में विशेष सफल नहीं रहा क्योंकि

नगरपालिकाओं और जिला परिषदों को दी गई वास्तविक शक्ति अथवा वित्तीय संसाधन नहीं के बराबर थे। राष्ट्रवादी इन निकायों में सम्मलित हुए, कुछ सीमा तक उनकी संरक्षणात्मक संभावनाओं का प्रयोग किया, किंतु सामान्यत: वे अपनी ऊर्जा को नालियों में सुधार करने तक ही सीमित रखने को तैयार न थे। संभवत: 1892 के सुधारों ने कुछ वर्षों के लिए कांग्रेस के आंदोलन की गति धीमी की क्योंकि अनेक प्रमुख नेता प्रांतीय एवं इंपीरियल काउंसिलों में सम्मिलित हो गए थे (उदाहरण के लिए बंगाल में लालमोहन घोष, डब्ल्यू. सी. बनर्जी और सुरेंद्रनाथ, बंबई में फिरोजशाह मेहता, गोखले, यहां तक कि थोड़े समय के लिए तिलक भी; मेहता के पीछे-पीछे गोखले भी इंपीरियल काउंसिल के सदस्य बने)। 1894 और 1900 के बीच कांग्रेस अधिवेशनों में काउंसिल सुधारों की आम मांग कांग्रेस के कार्यक्रम का मुख्य मुद्दा नहीं रही। किंतु यह स्थिति थोड़े समय ही रही और इन्हीं वर्षों में उग्रवाद के आरंभिक उभार देखे गए। 1904 तक कांग्रेस एकजुट होकर वैधानिक सुधारों की एक और बड़ी किस्त की मांग करने लगी थी।

फूट डालो और शासन करो

अंतत: कहीं अधिक महत्वपूर्ण बात यह थी कि भारतीय अभिजात समूहों के भीतर विभाजनों को प्रोत्साहित किया जा रहा था। इसका मुख्य आधार धार्मिक था, किंतु कभी-कभी यह जातिगत और प्रांतीय भी होता था। इन विभाजनों की जड़ें प्राय: बहुत गहरी होती थीं, और इसमें संदेह नहीं कि इसके लिए अंग्रेजों को प्रत्यक्ष रूप से और सायास उत्तरदायी ठहराने की राष्ट्रवादियों की प्रवृत्ति अतिशयोक्तिपूर्ण थी। किंतु सरकारी नीतियों की बात जाने भी दें तो शिक्षा, प्रशासनिक पदों एवं बाद में राजनीतिक लूट के लिए मौजूद थोड़े से संसाधनों को लेकर होने वाले टकरावों का कारण औपनिवेशिक अल्पविकास ही था। राजनीतिक सुधारों ने ऐसी प्रतिद्वंद्विता को बराबर बढ़ाया और तेज किया और वह हमारे अध्ययन के काल में बराबर बनी रही। हंटर की रचना 'इंडियन मुसलमांस' ने बड़ी तेजी से सरकारी क्षेत्रों में यह कहने और सोचने का चलन कर दिया कि मुसलमान एक 'पिछड़ा हुआ' समुदाय है। 1888 में डफरिन ने मुसलमानों को 'पांच करोड़ लोगों' का एक राष्ट्र बताया जो एक ही धर्म और समान रीति-रिवाजों को मानते थे और जो उन दिनों की एक साझी स्मृति अपने दिलों में संजोए हुए थे जब वे दिल्ली में गद्दीनशीन थे और हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक उन्हीं की हुकूमत चलती थी (क्रॉस के नाम डफरिन का पत्र, 11 नवंबर, 1888)। ऐसी एक नहीं, अनेक धारणाएं थीं जो ऐतिहासिक रूप से मिथ्या थीं, किंतु हमारे विदेशी शासकों के लिए राजनीतिक रूप से उपयोगी थीं। फ्रांसिस रॉबिंसन द्वारा संयुक्त प्रांत के एवं एन. जी. बैरियर द्वारा पंजाब से संबंधित हालिया अध्ययन स्पष्ट दर्शाते हैं कि किस प्रकार म्युनिसपल चुनावों के लागू होते ही इन दोनों प्रांतों में हिंदू-मुसलमान तनाव तीव्र हो गया। 1886 में तो स्थिति यहां तक पहुंच गई कि पंजाब में लायल की सरकार होशियारपुर, लाहौर और मुल्तान शहरों में अलग-अलग चुनाव कराने लगी। इसके मूल में, जैसा कि बैरियर कहते हैं, हो सकता है कि पहले से विद्यमान संघर्ष को कम करने की बात रही हो, फिर भी इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि अलग-अलग निर्वाचक-मंडलों के होने से विभाजित करने वाली रेखाएं दृढ़ ही हुई, क्योंकि इससे अलग-अलग संप्रदाय के नेता केवल अपने ही धर्म के लोगों के पास जाने के लिए प्रोत्साहित ही नहीं, अपितु बाध्य भी हुए। काउंसिल सुधारों के स्तर पर भी मार्च 1893 में लैंसडाउन इस बात पर बल दे रहे थे

टिप्पणी

कि प्रतिनिधित्व का आधार 'संख्या अथवा क्षेत्र न होकर श्रेणी अथवा वर्ग' होना चाहिए। अलग-अलग निर्वाचक-मंडलों की मांग की स्वीकृति भी बहुत बाद की बात न थी। इसमें संदेह नहीं कि एक सीमा के बाहर सांप्रदायिक तनाव भी कानून एवं व्यवस्था की गंभीर समस्या उत्पन्न करता था। तथापि 7 मई 1897 को भारत-सचिव हैमिल्टन द्वारा एल्गिन को लिखा गया पत्र कदाचित इस विषय में अंग्रेजों की आम धारणा का उदाहरण है– "उत्तर-पश्चिम के क्षेत्रों एवं पंजाब में हिंदू-मुसलमानों के बीच बढ़ते हुए संघर्ष की बात सुनकर मुझे दु:ख हुआ। समझ में नहीं आता कि क्या करें। विचारों और कर्म की एकता राजनीतिक रूप से खतरनाक है और विचारों की भिन्नता एवं संघर्ष प्रशासनिक रूप से कष्टकर है। इन दोनों में से दूसरा विकल्प ही कम खतरनाक है यद्यपि इसमें उत्तरदायित्व और चिंता उन्हीं लोगों के सिर पड़ती है जो संघर्ष के स्थान पर उपस्थित रहते हैं।"

अब तक हम ब्रिटिश भारत के राजनीतिक तंत्र पर विचार करते रहे हैं और कैंब्रिज संप्रदाय ने इसी क्षेत्र में सर्वोत्तम कार्य किया है। किंतु यह उनकी अदूरदर्शिता ही है कि वे प्रशासन अथवा राजनीति को अपने-आप में एक लक्ष्य मानते हैं और प्रसन्नतापूर्वक दावा करते हैं, जैसाकि सील ने 1973 के अपने लेख में किया है कि "इस बात से हमारा कोई सरोकार नहीं है कि भारत में विदेशियों के शासन ने देशवासियों को अपने विरुद्ध संगठित होने के लिए उकसाया" (लोकेलिटी, प्राविंस एंड नेशन, पृ 5-6)। दो और आयाम भी कैंब्रिज इतिहासकारों के अधिकांश विश्लेषण में छूट गए हैं जबकि ये राष्ट्रीय आंदोलन एवं आधुनिक भारत के इतिहास, दोनों को समझने के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। ब्रिटिश राज का एक पहलू घोर नस्लवादी था और इसका लक्ष्य अंतत: औपनिवेशिक शोषण को बनाए रखना था।

नस्लवाद

भारत में अंग्रेज स्वामी जाति के होने के प्रति बहुत ही सचेत रहते थे। इस बात को समाज का बड़े-से-बड़ा व्यक्ति भी अपने ही अनुभव से तब जान जाता था जब वह भूल से श्वेतों के लिए आरक्षित रेल के डिब्बे अथवा जहाज में चढ़ता था, या उसे नौकरी या व्यवसाय में काले होने के कारण प्रोन्नति के समय भेदभाव का शिकार होना पड़ता था। इल्बर्ट बिल से उत्पन्न बवंडर श्वेत नस्लवाद की चरम अभिव्यक्ति भले ही रहा हो, किंतु अकेला उदाहरण नहीं था। मिसाल के लिए, 1878 में मद्रास में मुत्तुस्वामी अय्यर को जब उच्च न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त किया गया तो 'मद्रास मेल' (जो श्वेत व्यापारियों का अखबार था) ने यह कहकर इसका विरोध किया कि "देसी अधिकारियों को समान परिस्थितियों में यूरोपीय अधिकारियों के बराबर वेतन नहीं मिलना चाहिए" (आर. सुंदरलिंगम पॉलिटिक्स एंड नेशनल अवेकनिंग इन साउथ इंडिया, 1852-91, पृ. 151-52)। इससे उत्पन्न होने वाले हंगामे के फलस्वरूप राष्ट्रवादी समाचार-पत्र हिंदू की स्थापना हुई। कम भाग्यशाली भारतीयों को लातों और घूंसों के रूप में नस्लवाद की अधिक फूहड़ किस्मों का सामना करना पड़ता था। 'साहब' लोग अपने पंखा-कुलियों को तमीज सिखाते और शिकार के समय प्राय: गोली चलने की 'दुर्घटनाएं' हो जाया करती थीं, जिसका शिकार काला आदमी ही होता था। 1880 और 1900 के बीच गोली चलने की ऐसी कम से कम 81 'दुर्घटनाएं' दर्ज की गईं। श्वेतों के आधिपत्य वाले न्यायालय ऐसी घटनाओं के मामले में हास्यापद रूप से हल्के दंड देते थे। तत्कालीन भारतीय पत्र-पत्रिकाओं एवं निजी पत्रों को देखने से ज्ञात होता है कि राष्ट्रवाद के उद्भव में इन

बातों ने कितनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ऐसी ही घटनाओं की शिकायत करते हुए वाचा ने 30 अक्टूबर 1891 को दादाभाई नौरोजी को लिखा था कि "यूरोपियों द्वारा देसी लोगों की हत्या की घटनाएं बढ़ती ही जा रही हैं। यह पाश्विक कार्य मुख्यत: सैनिक ही करते हैं। (उन्हें) सदा किसी-न-किसी बहाने छोड़ दिया जाता है।" (आर. पी. पटवर्धन, पृ. 265)। असम के चाय-बागानों में कुलियों के साथ कि6या जाने वाला दुर्व्यवहार 1880 के दशक के अंतिम वर्षों में इंडियन एसोसिएशन की गतिविधियों में प्रमुख रूप से उभरा। निस्संदेह भेदभाव और पाश्विकता ऐसे मुद्दे थे जिन पर बड़े-से-बड़ा देसी व्यक्ति भी छोटे-से-छोटे देसी व्यक्ति के साथ एकजुट हो सकता था क्योंकि दोनों ही समान रूप से वंचना एवं अन्याय के शिकार थे।

भारत में जो अंग्रेज राजनीतिज्ञ अधिक मानवीय और दूरदर्शी थे। वे कभी-कभी नस्लवाद की घोर फूहड़ता को सीमित करने का प्रयास भी करते थे और इसी कारण न केवल रिपन, अपितु कर्जन को भी अपने अंग्रेज बंधुओं की नाराजगी उठानी पड़ती थी। कर्जन ने दो कुख्यात मामलों में अंग्रेज सिपाहियों के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्रवाई की। इनमें से एक मामला तो एक बर्मी स्त्री के साथ सामूहिक बलात्कार का था और दूसरे मामले में एक रसोइए की हत्या कर दी गई थी, क्योंकि उसने स्त्रियों की दलाली का कार्य करना अस्वीकार कर दिया था। प्रसंगवश, जो रेजीमेंट इस दूसरे मामले से जुड़ी हुई थी उसे 1903 के दिल्ली दरबार में वीरों-जैसा सम्मान दिया गया। किंतु इस बात पर भी बल दिया जाना चाहिए कि अत्याचारों की बात छोड़ दें तो औपनिवेशिक भारत की आर्थिक एवं राजनीतिक संरचना में एक सीमा तक श्वेत नस्लवाद के तत्व की एक प्रकार्यात्मक एवं आवश्यक भूमिका थी। अंग्रेजों की दृष्टि से सेना एवं प्रशासन के उच्च एवं वरिष्ठ पदों पर भारतीयों को न रखना तर्कसम्मत ही था। अत: आई.सी.एस. की परीक्षाओं को साथ-साथ भारत और इंग्लैंड में करने की मामूली दिखाई देने वाली मांग का भी पचास वर्षों तक कड़ा विरोध होता रहा। रोजबेरी को लिखे गए पत्र में जुलाई 1895 में एल्गिन ने कहा था कि "हम तभी शासन कर सकते हैं जब यह मानकर चलें कि हम राज करने वाली जाति के हैं। सेनाओं में भारतीयों को प्रोत्साहित अवश्य किया जाना चाहिए, किंतु यदि हमें अपना अस्तित्व कायम रखना है तो एक बिंदु ऐसा अवश्य है जहां नियंत्रण हमें अपने ही हाथ में रखना चाहिए।"

अमिय बागची ने हाल ही में दर्शाया है कि नस्लवाद के आर्थिक आयाम तो और भी अधिक निर्णायक थे। किसी भी संभावित भारतीय प्रतिस्पर्धा के विरुद्ध भारत में अंग्रेज व्यापारियों के बीच एकता बनाए रखने में रंग ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। श्वेतों के विभिन्न चैंबर्स ऑफ कॉमर्स, व्यापार समितियों एवं संगठनों की कार्यपद्धित से ज्ञात होता है कि "दूसरों के साथ प्रतिस्पर्धा करते हुए भी यूरोपीय व्यापारी आपस में उचित समझौते एवं पारस्परिक सहयोग करने में बड़ा विश्वास रखते थे" (बागची, प्राइवेट इनवेस्टमेंट इन इंडिया, पृ. 170)। थोड़े-बहुत झगड़ों एवं व्यापार के प्रति कुछ सरकारी अधिकारियों द्वारा तिरस्कार दर्शाए जाने के बावजूद श्वेत व्यापारियों एवं श्वेत अधिकारियों के बीच निजी एवं क्लब-जीवन के असंख्य संबंध होते थे। 1903 में बाराकर में अंग्रेज खदान-मालिकों के समक्ष भाषण करते हुए कर्जन ने सरकार और व्यापारियों के संबंधों का बड़ा सुंदर सार प्रस्तुत किया था– "मेरा काम है प्रशासन करना और आपका दोहन करना; किंतु दोनों एक ही प्रश्न और एक ही कर्तव्य के दो पहलू हैं" (इंडियन नेशनलिज्म एंड अर्ली कांग्रेस,

टिप्पणी

पृ. 37 में जे. आर. मैकलेन द्वारा उद्धृत)। बहुत बाद में, अर्थात 1944 में भारतीय उत्पादकों के एक संघ ने देश के शासकों के साथ सजातीय घनिष्ठता के रहस्यात्मक संबंध की मौन सहानुभूति के कारण उन्हें (यूरोपीय व्यापारियों को) अपने देशी प्रतिद्वंद्वियों से स्पर्धा में मिलने वाले अदृश्य किंतु प्रभावकारी लाभों के बारे में शिकायत की थी (बागची, पृ. 166)।

इस प्रकार नस्लवाद उस बात को सुदृढ़ करने में सहायक हुआ जिसे बागची यूरोपीय व्यापारियों का 'सामूहिक एकाधिकार' कहते हैं और जो विशेष रूप से भारत के पूर्वी क्षेत्र के औद्योगिक एवं व्यापारिक जीवन की खास विशेषता रहा है। अब हम इस आर्थिक शिकंजे के बदलते रूपों एवं परिणामों के अध्ययन की ओर उन्मुख होते हैं।

उपनिवेशवाद के भयंकर परिणाम

दीर्घकालीन औपनिवेशिक शासन अपने पीछे जनता के लिए एक कटु सच्चाई छोड़ गया था। यह सच है कि भारत में ब्रिटिश शासन ने कुछ सकारात्मक परिवर्तन भी किए थे, परंतु ये सारे परिवर्तन मूलत: औपनिवेशिक ढांचे के अंदर ही हुए थे। परिणामस्वरूप सकारात्मक होते हुए भी उन्होंने विकास की बजाय पिछड़ेपन को ही आगे बढ़ाया। ये परिवर्तन खेती, उद्योग, यातायात और वित्त सहित अधिकांश आर्थिक क्षेत्रों के अलावा शिक्षा, कानून और नागरिक अधिकारों के सामाजिक-राजनीतिक क्षेत्रों में भी कमोवेश देखने को मिलते हैं। फिर भी मौलिक रूप से इन सभी परिवर्तनों ने औपनिवेशिक शासन व्यवस्था का सहायक बनकर अंतत: परतंत्र अर्थव्यवस्था और पतनोन्मुख समाज की ही सृष्टि की।

औपनिवेशिक शासन तंत्र ने भारतीय अर्थव्यवस्था में अपने हस्तक्षेप की शुरुआत कृषि के क्षेत्र से आरंभ की। इसने अपने स्वार्थों के लिए भारतीय कृषि व्यवस्था के विकास को बिलकुल अवरुद्ध कर दिया। जैसे-जैसे उपनिवेशवाद की पकड़ मजबूत होती चली गई, वैसे-वैसे देश के ज्यादातर हिस्सों में कृषि कुंठित होती चली गई। धीरे-धीरे प्रति एकड़ उपज की दर अत्यधिक कम हो गई। 1901 और 1941 के बीच प्रति व्यक्ति कृषि उत्पादन में 14 प्रतिशत तक की गिरावट आ गई। इस दौरान प्रति व्यक्ति खाद्यान्न उत्पादन में और भी अधिक गिरावट आई जो 24 प्रतिशत तक चली गई थी।

औपनिवेशिक शासकों ने यहां एक ऐसे कृषक ढांचे (Agrarian Structure) को बढ़ावा दिया, जिस पर जमींदारों, महाजनों, व्यापारियों और सबसे ऊपर उपनिवेशवादी राज्य का वर्चस्व स्थापित था। यह स्थिति कृषि के विकास के लिए किसी तरह उपयुक्त नहीं थी। जमींदारी और रैयतवाड़ी दोनों ही तरह के इलाकों में धीरे-धीरे उपसामंतीकरण, बटाईदारी और अधीनस्थ काश्तकारी की प्रथा और अधिक हावी होती चली गई। 1940 के दशक तक आते-आते देश की 70 प्रतिशत भूमि पर जमींदारों का कब्जा हो चुका था और महाजनों के साथ मिलकर औपनिवेशिक शासन तंत्र पूरे कृषि उत्पाद को आधा से ज्यादा हड़प जाता था।

औपनिवेशिक राज की असली दिलचस्पी लगान वसूल करने में थी और इसलिए उसने कभी खेती के विकास के बारे में सोचा ही नहीं। उसने कृषि की तरक्की के लिए नाम मात्र पैसा ही खर्च किया। रहे जमींदार और महाजन लोग, तो उनकी कोई उपयोगी आर्थिक भूमिका रह ही नहीं गई थी। उनके लिए रैयतों और बटाईदारों से जी भर कर

टिप्पणी

लगान और सूद वसूल करने से ज्यादा फायदे की कोई बात ही नहीं थी। नतीजा, उन्होंने खेतों की पैदावर बढ़ाने के लिए कभी पूंजी निवेश करने की जहमत ही मोल नहीं ली।

कई इलाकों में खेती के व्यावसायीकरण और नए काश्तकारी कानून लागू किए जाने के कारण समृद्ध किसानों का एक नया वर्ग विकसित हुआ था, परंतु उनमें से भी ज्यादातर लोगों ने अपना पैसा खेतों की पैदावर बढ़ाने में खर्च करने के बजाय ज्यादा जमीन खरीद कर जमींदार बन जाना या फिर पैसा सूद पर चढ़ा कर महाजन बनना ज्यादा पसंद किया। परिणामस्वरूप, देश के कुछ छोटे-मोटे हिस्सों को छोड़ कर कहीं भी पूंजीवादी कृषि का विकास नहीं हुआ।

जहां तक छोटे किसानों, बटाईदारों और असामियों का सवाल है, उनके पास तो इतना पैसा था नहीं कि वे बढ़िया बीज, मवेशी, खाद का इस्तेमाल कर सकें या उत्पादन की उन्नत पद्धतियों के बारे में सोच भी सकें। ज्यादातर औपनिवेशिक काल में भूमिहीन किसानों की संख्या लगातार बढ़ती रही। इस प्रकार भूमिहीन खेतिहर मजूदरों की संख्या जहां 1871 में पूरे कृषक आबादी का मात्र 13 प्रतिशत था वहीं 1951 में यह बढ़कर 28 प्रतिशत हो गया। इसके अतिरिक्त खेती पर ज्यादा लोगों पर निर्भर हो जाने तथा बटाईदारी और अधीनस्थ काश्तकारी में वृद्धि के कारण खेतों के टुकड़े छोटे-छोटे और एक-दूसरे से दूर-दूर होते चले गए। जोतों के आकार सिकुड़ जाने के कारण उस पर खेती करना घाटे का सौदा बन गया और किसानों के लिए खेती से अपना खाना जुटाना भी दूभर हो गया।

यह सच है कि सड़कों और रेल के विकास के कारण ग्रामीण उत्पादन का एक बहुत बड़ा हिस्सा शहरी और विश्व बाजार में पहुंचने लगा। इसके कारण कृषि में व्यावसायिक उत्पादन की शुरुआत हुई और भारतीय कृषि विश्व बाजार से जुड़ गई। लेकिन फिर भी खेती के व्यावसायीकरण के फलस्वरूप पूंजीवादी खेती या तकनीकी उन्नति का शुभारंभ नहीं हो पाया। इसका असली परिणाम यह हुआ कि जितना भी सिंचाई के लिए जल और बेहतर जमीन उपलब्ध थी, वह सब अनाज उपजाने के बजाय व्यापारिक फसलों को उगाने में लगा दिया गया।

यह वह जमाना था जब दुनिया के विकसित देशों में खेती का आधुनिकीकरण और उसमें क्रांतिकारी परिवर्तन हो रहा था। परंतु भारतीय खेती के न तो तकनीकी आधार में कोई परिवर्तन आ रहा था, न ही इसके निवेश अथवा उत्पादन आधार में सदियों से इस्तेमाल होने वाले औजार आज भी वैसे ही किसानों द्वारा उपयोग में लाए जा रहे थे। उदाहरण के लिए 1951 में लोहे के हलों की संख्या जहां मात्र 9,30,000 थी वहीं लकड़ी के हलों की संख्या करीब-करीब 3 करोड़ 18 लाख थी। कृत्रिम खादों के उपयोग का तो खैर किसी को पता ही नहीं था, गोबर और हड्डी के खाद का उपयोग भी बहुत कम ही होता था। 1938-39 में बोए गए खेतों के सिर्फ 11 प्रतिशत भाग में ही उन्नत बीज का उपयोग किया जा रहा था और वह भी ज्यादातर गैर-अनाज व्यापारिक फसलों की खेती में ही।

कृषि के लिए प्रशिक्षण पर कभी कोई ध्यान नहीं दिया गया। 1946 तक देश में सिर्फ नौ कृषि महाविद्यालय मौजूद थे जिनमें जमीन के छात्रों की संख्या मात्र 3,110 थी। जमीन समतल करने या बाढ़ नियंत्रण, जल-निकासी, जमीन के खारेपन दूर करने जैसे कार्यों पर शायद ही कभी कोई महत्वपूर्ण खर्च किया गया हो। सिर्फ सिंचाई ही एक ऐसा क्षेत्र था जिसमें कुछ तरक्की हुई थीं इसलिए 1940 के दौरान कुल बोए गए खेतों का 27

टिप्पणी

प्रतिशत सिंचाई के तहत आ चुका था। पर यह भी याद रखना चाहिए कि भारत पहले से ही सिंचित खेती में एक विकसित देश रहा था।

जो बुरा हाल खेती का था वही हाल दस्तकारी का भी था। 19वीं सदी के दौरान भारतीय हस्तकला और शिल्पकला उद्योग का बहुत तेजी से पतन हुआ और इसका कारण था ब्रिटेन से सस्ते औद्योगिक वस्तुओं का आयात। भारत पर मुक्त व्यापार नीति थोपे जाने का भी बहुत खराब असर पड़ा। बर्बाद हुए दस्तकारों को कहीं कोई दूसरा रोजगार नहीं मिल पाया। और आखिरकार इन सब लोगों के पास खेतों पर भीड़ बढ़ाने के अलावा कोई चारा नहीं था। दस्तकारी छोड़कर वे रैयत, बटाईदार और भूमिहीन मजदूर बनने को मजबूर हो गए।

वैसे 19वीं सदी के दूसरे भाग से भारत में भी कुछ आधुनिक उद्योगों का विकास होने लगा था। परंतु रोजगार या उत्पादन की दृष्टि से भारतीय उद्योग विकसित देशों के मुकाबले नगण्य ही था। औद्योगिक विकास एकदम कुंठित था। यह इतना भी नहीं था कि दस्तकारी उद्योग को हुई हानि की भरपाई भी कर सके, उससे ऊपर जाने की बात तो छोड़ दीजिए। भारतीय औद्योगिक विकास 19वीं सदी के दौरान भी यह ज्यादा से ज्यादा चीनी, सीमेंट और कागज उद्योग तक ही पहुंचा पाया। 1907 के बाद इस्पात एवं लौह उद्योग में भी कुछ तरक्की हुई थी। परंतु 1946 तक भी कुछ औद्योगिक मजदूरों का लगभग 30 प्रतिशत और उद्योगों द्वारा सृजित मूल्यों का 55 प्रतिशत सिर्फ कपास और जूट उद्योग में भी सीमित था। ब्रिटिश शासन की समाप्ति के समय कुल राष्ट्रीय आय का मात्र 7.5 प्रतिशत हिस्सा आधुनिक उद्योगों से प्राप्त होता था। बिजली उत्पादन में भी भारत पिछड़ चुका था। इसी तरह आधुनिक बैंकों और बीमा सेवाओं की स्थिति भी कमजोर थी।

भारतीय उद्योगों की असली स्थिति का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि मशीन निर्माण एवं पूंजीगत वस्तुओं से संबंधित उद्योगों की एक तरह से शुरुआत भी इस दौरान नहीं हुई थी। 1950 में भारत ने अपनी आवश्यकता की 90 प्रतिशत मशीनों का आयात किया था। यदि 1950 और 1984 के कुछ आंकड़ों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो भारतीय अर्थव्यवस्था के पिछड़े चरित्र की कुछ झलक मिल सकती है।

1984 के आंकड़े कोष्ठों में दिए गए हैं। 1950 में भारत का इस्पाता उत्पादन 10 लाख टन (69 लाख टन), कोयले का उत्पादन 3 करोड़ 28 लाख टन (15 करोड़ 52 लाख टन), सीमेंट 27 लाख टन (2 करोड़ 99 लाख टन), 30 लाख रुपए मूल्य की मशीन एवं औजार उत्पादन (32 करोड़ 28 लाख), 7 इंजन (200), 99,000 साइकिल (59,44,000), 1 करोड़ 40 लाख बिजली बल्क (31 करोड़ 78 लाख), 33,000 सिलाई मशीन (3,38,000), प्रति व्यक्ति 14 किलोवाट घंटा बिजली का उत्पादन (160 किलोवाट घंटा)। 1950 में बैंक ऑफिस एवं शाखाओं की संख्या 5,072 थी वहीं 1983 में यह संख्या 33,055 तक पहुंच गई। 1950 में 35 करोड़ 70 लाख लोगों में से मात्र 20 लाख 30 हजार लोग आधुनिक उद्योगों में कार्यरत थे।

आर्थिक पिछड़ेपन का एक और मापदंड भारतीय आबादी में ग्रामीण और शहरी जनसंख्या के अनुपात को भी माना जा सकता है। खेती पर बढ़ती निर्भरता के कारण ग्रामीण आबादी तुलनात्मक रूप से बहुत अधिक रही है। 1951 में 82.3 प्रतिशत लोग ग्रामीण क्षेत्रों में रह रहे थे। जबकि 1901 में मात्र 63.7 प्रतिशत लोग खेती पर आश्रित थे। 1941 तक आते-आते यह संख्या 70 प्रतिशत तक पहुंच गई थी। दूसरी तरफ निर्माण एवं उद्योगों

टिप्पणी

में लगे लोगों की संख्या जहां 1901 में 1 करोड़ 3 लाख थी वहीं 1951 तक यह घट कर 88 लाख मात्र रह गई जबकि इस दौरान जनसंख्या में 40 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

1930 के दशक के अंतिम दिनों तक भी औद्योगिक और वित्तीय क्षेत्रों में विदेशी पूंजी का नियंत्रण और वर्चस्व बना हुआ था। इन्हीं लोगों ने विदेश व्यापार तंत्र और यहां तक कि आंतरिक व्यापार का भी वह हिस्सा नियंत्रित कर रखा था जो विदेश व्यापार को सामग्रियों की आपूर्ति करती थी। ज्यादातर कोयला खान, जूट, जहाजरानी, बैंकिंग, बीमा तथा चाय और कॉफी बगान ब्रिटिश कंपनियों के नियंत्रण में थे। इसके अलावा अपने प्रबंधकीय एजेंसियों के माध्यम से ब्रिटिश पूंजीपति कई भारतीय स्वामित्व वाली कंपनियों को भी नियंत्रित करते थे। यह गौर करने की बात है कि विदेशी पूंजी का ज्यादातर हानिकारक प्रभाव, राजसत्ता का एक विदेशी हाथ में होने के कारण ही था।

भारतीय औद्योगिक विकास का एक अन्य नकारात्मक पहलू असमान क्षेत्रीय विकास के रूप में देखा जा सकता है। देश के मात्र कुछ ही क्षेत्रों और शहरों में ही सभी उद्योग सिमटे हुए थे। इससे न केवल विभिन्न क्षेत्रों के बीच आमदनी के स्तर में भारी अंतर पैदा हुआ बल्कि क्षेत्रीय एकता की प्रक्रिया पर भी इसका बुरा असर पड़ा।

इस सबके बावजूद भारतीय अर्थव्यवस्था में चाहे-अनचाहे कुछ महत्वपूर्ण सकारात्मक परिवर्तन भी 1930 और 1940 के दशकों में हुए। आजादी मिलने के बाद इन परिवर्तनों ने आर्थिक विकास के लिए एक आधार का काम किया, अर्थव्यवस्था को कुछ मजबूती दी।

छद्म विकास

यातायात और संचार के साधनों का विकास एक ऐसा ही क्षेत्र था। 1940 के दशक में भारत के पास 65,000 मील पक्की सड़क और करीब 42,000 मील रेलवे लाइन मौजूद थी। सड़क और रेल के माध्यम से न केवल व्यक्तियों और वस्तुओं का तेजी से एक जगह से दूसरी जगह जाना संभव हुआ बल्कि इसने देश को एकता के सूत्र में बांध देने का काम भी किया। परंतु इसके साथ-साथ कोई औद्योगिक क्रांति नहीं हो रही थी इसलिए भारतीय अर्थव्यवस्था सिर्फ एक व्यापारिक क्रांति तक ही समित रह गई और उसने उल्टे उपनिवेशवाद को ही मजबूत किया। वैसे भी, रेलवे लाइनों का विकास मूलतः भारत के अंदरूनी इलाकों से कच्चा माल को बंदरगाहों तक आसानी से पहुंचाने की दृष्टि से ही किया गया था। साथ ही, इसी रास्ते विदेशों से आयायित तैयार वस्तु भी आसानी से भारतीय गांवों तक पहुंचाए जा सकते थे। चूंकि देश के अंदर एक जगह से दूसरी जगह तक आंतरिक व्यापार की दृष्टि से रेलवे का निर्माण ही नहीं किया गया, अतः भारतीय उद्योगों को अपने लिए कच्चा माल मंगाने और तैयार वस्तुओं को बाजार तक पहुंचाने में कोई खास सहायता मिली ही नहीं। यहां तक कि माल भाड़ा भी इस तरह निर्धारित किया गया था कि उससे आयात-निर्यात करने वालों को ही ज्यादा मदद मिले जबकि आंतरिक व्यापार पर अंकुश लगा रहे। इसके अलावा ब्रिटेन और अमेरिका की तरह रेलवे का विकास ने भारत में इस्पात और मशीन उद्योगों को किसी प्रकार प्रोत्साहित नहीं किया। बल्कि भारत में रेलवे निर्माण से असली फायदा ब्रिटिश इस्पात और मशीन उद्योगों को ही हुआ। भारत सरकार ने इस दौरान एक आधुनिक डाक एवं तार व्यवस्था विकसित की परंतु टेलीफोन व्यवस्था आमतौर पर पिछड़ा ही रहा।

टिप्पणी

1947 के पहले भारतीय अर्थव्यवस्था का एक सबसे शक्तिशाली पहलू था भारतीय स्वामित्व में कुछ उपभोक्ता उद्योगों का विकास। भारतीय स्वामित्व वाले उद्योगों का आधार वस्तुतः छोटा-सा ही था फिर भी सूती और जूट वस्त्रों, चीनी, साबुन, कागज और दियासलाई जैसी उपभोक्ता सामग्रियों के उत्पादन में फैला हुआ था। कुछ पूंजीगत वस्तुओं से संबंधित उद्योग जैसे लौह एवं इस्पात उद्योग, सीमेंट, साधारण रासायनिक तत्व, धातुनिर्माण और इंजीनियरिंग आदि का भी विकास होना आरंभ हुआ था परंतु इनका स्तर अभी बहुत नीचा था। 1947 तक भारत के पास विज्ञान और तकनीकों में प्रशिक्षित लोगों का एक छोटा समूह भी मौजूद था, हालांकि तकनीकी शिक्षा के लिए यहां बहुत कम सुविधाएं उपलब्ध थीं। 1939 तक सिर्फ 7 इंजीनियरिंग कॉलेज देश में मौजूद थे जिनमें छात्रों की संख्या 2,217 थी। ज्यादातर उद्योगों में तकनीकी और प्रबंधकीय पदों पर अभारतीय ही आसीन थे।

इन सबके बावजूद 1914 के बाद देशी पूंजीपतियों के एक वर्ग का तेजी से उदय हुआ जिसका अपना स्वतंत्र आर्थिक और वित्तीय आधार था। भारतीय पूंजीपति मुख्यतः विदेशी पूंजी से स्वतंत्र थे। जैसा कि अनेक अन्य उपनिवेशों में देखने को मिलता है, भारतीय पूंजीपति विदेश पूंजी का दलाल या मध्यस्थ नहीं था न ही वह विदेशी नियंत्रित उद्योगों का छोटा हिस्सेदार था। बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि वे विदेशी पूंजीपतियों के मुकाबले कहीं अधिक मेहनती और साहसी थे जिसका नतीजा यह हुआ कि ब्रिटिश और अन्य विदेशी निवेशों के मुकाबले भारतीय पूंजी के तहत किया गया निवेश कई गुनी तेज रफ्तार से बढ़ने लगा। 1945 में द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति तक भारतीय पूंजीपतियों ने बड़े औद्योगिक इकाइयों का लगभग 60 प्रतिशत नियंत्रित कर लिया था। लघु उद्योग तो एक तरह से पूरे तौर पर भारतीय पूंजी पर ही आधारित था। यह महत्वपूर्ण बात है कि बड़े उद्योगों के मुकाबले राष्ट्रीय आय का ज्यादा बड़ा हिस्सा लघु उद्योगों से ही आता था।

1947 तक आते-आते भारतीय पूंजी ने बैंकिंग और बीमा क्षेत्रों में भी भारी प्रगति की। बैंकों के कुल जमा का 64 प्रतिशत भारतीय ज्वाइंट स्टॉक बैकों के पास था। जबकि भारतीय स्वामित्व की बीमा कंपनियों ने 75 प्रतिशत बीमा व्यापार पर नियंत्रण स्थापित कर लिया था। आंतरिक व्यापार का अधिकांश तो भारतीयों के नियंत्रण में था ही, विदेश व्यापार का कुछ भाग भी इसके हाथों में अब आ गया था।

यद्यपि भारतीय अर्थव्यवस्था के इन सकारात्मक पहलुओं को व्यापक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए। पहली बात तो यह कि अब भी भारतीय उद्योग और पूंजीवाद का विकास सीमित और कुंठित था। दूसरी बात, यह सारा परिवर्तन औपनिवेशिक ढांचे के अंदर ही हुआ था। भारत का औद्योगिक विकास औद्योगिक क्रांति के बिना ही हो रहा था। भारतीय अर्थव्यवस्था का अभ्युदय अभी तक नहीं हुआ था। तीसरी बात, जो कुछ भी विकास हुआ था उसका श्रेय उपनिवेशवाद को नहीं दिया जा सकता बल्कि औपनिवेशिक नीतियों के विरुद्ध जाकर यह विकास हुआ। यह विकास उपनिवेशवाद के खिलाफ गहन आर्थिक और राजनीतिक संघर्ष का परिणाम था। विशेषरूप से विश्व अर्थव्यवस्था में ब्रिटेन की गिरती हुई स्थिति, दो विश्व युद्धों की विभीषिका और 1930 के दशक की महान आर्थिक मंदी के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था को तरक्की के लिए कुछ जगह औपनिवेशिक शासन को अपनी इच्छा के विरुद्ध देनी पड़ी। चौथी बात, बिना

औपनिवेशिक शासन का उन्मूलन किए संपूर्ण, निर्बाध और स्वतंत्र आर्थिक विकास संभव ही नहीं था।

टिप्पणी

औपनिवेशिक शासन का अंततः परिणाम यह हुआ कि आम जनता, खास तौर पर किसान और दस्तकार दरिद्र हो गए। आम लोगों की किस्मत में सिर्फ भूख, बीमारी और भयानक गरीबी ही बच गई। आबादी के एक विशाल हिस्से को साल के कई महीनों तक दो जून खाना और कुछ महीने तो एक जून खाना भी रोज नहीं मिल पाता था।

इस भयानक गरीबी का नतीजा आखिरकार एक के बाद एक कई अकालों में देखने को मिलता है। 19वीं सदी के उत्तरार्ध में भारत के सभी भागों में कई बड़े-बड़े अकाल पड़ते रहे। पूरे ब्रिटिश काल में देश के किसी-न-किसी हिस्से में छोटे-छोटे अकाल और अभाव लगातार चलते ही रहे। बड़े अकालों में से एक अंतिम अकाल ने, 1943 में करीब 30 लाख लोगों को अकेले बंगाल में ही मौत के घाट उतार दिया।

भारत के आर्थिक पिछड़ेपन और दरिद्रता के कई अन्य सूचक भी मौजूद थे। जैसे, पूरी 20वीं सदी के दौरान प्रति व्यक्ति आय यदि घटा नहीं तो बिलकुल बढ़ा भी नहीं। 1941-50 के दौरान प्रति हजार व्यक्तियों में मृतकों की संख्या 25 थी। शिशु मृत्यु दर प्रति हजार जन्म में 175 से 190 के बीच रही। 1940 से 1951 के बीच की पैदाइश वाले औसतन भारतीय मात्र 32 वर्षों की जिंदगी की उम्मीद रखते थे। चेचक, प्लेग और हैजा जैसी महामारियों तथा मलेरिया, आंव, डायरिया जैसी बीमारियां प्रत्येक वर्ष लाखों लोगों को मौत के मुंह में ढकेल देती थीं। अकेले मलेरिया ने ही एक चौथाई लोगों को अपनी चपेट में ले रखा था।

स्वास्थ्य सेवाओं का बहुत बुरा हाल था। 1943 में सिर्फ 10 मेडिकल कॉलेज थे जो प्रतिवर्ष 700 डॉक्टर तैयार करते थे। साथ ही 27 मेडिकल स्कूल थे जो 7000 स्वास्थ्य कर्मचारी तैयार करते थे। 1951 में सिर्फ 18,000 कुल डॉक्टर थे जिनमें से अधिकांश शहरों में ही रहते थे। अस्पतालों की संख्या 1,915 थी जिनमें 1,16,731 बिस्तरों की व्यवस्था मौजूद थी। इसके अलावा 6,589 डिसपेंसरी थी जहां 7,072 बिस्तरों की व्यवस्था थी। अधिकांश भारतीय शहरों में सफाई एवं मल निकासी की कोई व्यवस्था नहीं थी और जिन शहरों में ऐसा इंतजाम था, वहीं अधिकतर भारतीयों को इसका कोई फायदा नहीं मिलता था क्योंकि ये सभी सुविधाएं उन्हीं इलाकों में सीमित थीं जहां यूरोपीय और धनी भारतीय लोग रहते थे। गांवों में आधुनिक जल आपूर्ति व्यवस्था का तो किसी ने नाम भी नहीं सुना था, ज्यादातर शहरों में भी इसका अभाव ही था। अधिकांश शहर अभी बिना बिजली के थे, गांवों में बिजली की तो बात ही छोड़ दीजिए।

इस प्रकार औपनिवेशिक राज्य ने आम जनता के लिए कल्याणकारी कार्यों को नजरअंदाज कर अपने फायदे के लिए अर्थव्यवस्था का भरपूर दोहन किया। उपनिवेशवाद ने अपने लाभ के लिए भारतीय अर्थव्यवस्था को विश्व बाजार से जोड़ दिया। यह संबंध मूल रूप से असमानता पर आधारित था। 18वीं सदी के अंतिम दशकों में ही भारतीय अर्थव्यवस्था को पूर्णतया ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के अधीन कर दिया गया। यही अधीनता उपनिवेशवादी संबंध की मुख्य विशेषता थी।

इसके अलावा भारत के ऊपर जबरन एक अंतर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन थोप दिया गया जिसके तहत भारत खाद्य पदार्थ और कच्चा माल तैयार करता रहे और तैयार माल एवं मशीनरी ब्रिटेन एवं अन्य यूरोपीय देशों से खरीदता रहें। भारत के लिए कपास, जूट,

टिप्पणी

तिहलन, खनिज आदि उपजाना और बिस्कुट से लेकर जूता, कार, मशीन, रेलवे इंजन आदि सभी ब्रिटेन के कारखानों से आयात करना नियति बन गया।

यद्यपि उपनिवेशवादी शासन ने भारत में कुछ श्रम प्रधान उद्योगों, जैसे जूट और सूती कपड़ों आदि की स्थापना भी होने दी, फिर भी कुल मिलाकर यह औपनिवेशिक ढांचे के अंदर ही रहा, जिसका आधार एक असमान अंतर्राष्ट्रीय संबंधों पर टिका हुआ था। 1935-39 के दौरान भी भारतीय निर्यात का 68.5 प्रतिशत खाद्य, पेय, तंबाकू और अन्य कच्चा माल से संबंधित था जबकि आयात का 64.4 प्रतिशत उद्योग निर्मित वस्तुओं का होता था।

किसी भी अर्थव्यवस्था का विकास मूल रूप से उसमें होने वाले पूंजी निवेश पर निर्भर करता है। इस दृष्टि से राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में बचत का अनुपात और उसका उपयोग निर्णायक तत्व होता है। परंतु 1914 से 1946 के बीच भारतीय अर्थव्यवस्था में कुल बचत सकल राष्ट्रीय उत्पाद का मात्र 2.75 प्रतिशत था। इसकी तुलना यदि 1971-75 के 12.35 प्रतिशत से की जाए तो साफ पता चल जाता है कि 1946 के पहले बचत का अनुपात कितना कम था। इसके परिणामस्वरूप 1914-46 के दौरान सकल पूंजी निर्माण सकल राष्ट्रीय उत्पाद का मात्र 6.75 प्रतिशत ही हो पाया था जबकि 1971-75 में यह 20.14 प्रतिशत था। उसके ऊपर से पूंजी निर्माण के इस निम्न स्तर में भी उद्योगों का हिस्सा बहुत ही कम था। 1914-46 के दौरान यह सकल राष्ट्रीय उत्पाद का 1.78 प्रतिशत था जबकि 1971-75 में यह 6.33 प्रतिशत देखा जा सकता था।

इतना ही नहीं, भारतीय सामाजिक अधिशेष का एक बहुत बड़ा हिस्सा औपनिवेशिक राज्य द्वारा हड़प कर गलत तरीके से खर्च कर दिया जाता था। इस मामले में देशी जमींदार और महाजन भी कम नहीं थे। यह जोड़ कर देखा गया है कि आजादी मिलने के ठीक पहले किसानों द्वारा लगान और सूद के रूप में अदा की गई रकम 1 अरब 40 करोड़ रुपए प्रतिवर्ष होती थी। 1937 तक कुल ग्रामीण ऋण 18 अरब रुपए तक पहुंच चुका था। एक अन्य हिसाब के अनुसार जमींदारों, महाराजों और अन्य मध्यस्थों द्वारा राष्ट्रीय आय का तकरीबन 20 प्रतिशत तक प्रतिवर्ष हड़प लिया जाता था। उस पर से खास बात यह है कि जमींदारों और महाजनों द्वारा उगाहे गए इस पैसे का बहुत ही छोटा हिस्सा खेती या उद्योगों में फिर से लगाया जाता था। इस धन का अधिकांश अपनी शानो-शौकत एवं ऐयाशी या फिर जमींदारी और सूदखोरी बढ़ाने पर ही खर्च किया जाता था।

इसके अलावा ऊपर से 'निकासी' की समस्या थी। भारत का सामाजिक अधिशेष और वह पैसा जो पूंजी की तरह लगाया जा सकता था, उसका बहुत बड़ा हिस्सा औपनिवेशिक राज्य, उसके अधिकारियों एवं व्यापारियों द्वारा वेतन और आयात-निर्यात के फायदे के रूप में दिखा कर ब्रिटेन भेज दिया जाता था। इसके बदले में भारत को कोई आर्थिक या व्यावसायिक लाभ किसी रूप में प्राप्त नहीं होता था। यह हिसाब लगाया गया है कि कुल राष्ट्रीय आय का 5 से 10 प्रतिशत भाग, एकतरफा यानी भारत को बिना बदले में कुछ दिए, विदेशी शासकों द्वारा प्रतिवर्ष बाहर भेज दिया जाता था। जब वित्तीय संसाधनों और मौजूदा पूंजी की यह हालत हो तो किसी भी देश से तरक्की की क्या उम्मीद की जा सकती है।

उपनिवेशवाद की एक अन्य मूल विशेषता यह थी कि भारत की सभी नीतियां ब्रिटेन में तय की जाती थीं और इसलिए उनमें ब्रिटेन के व्यापारियों और उसकी

टिप्पणी

अर्थव्यवस्था का सबसे पहले ध्यान रखा जाता था। जैसे, भारतीय खेती और उद्योगों को राजकीय संरक्षण प्राप्त नहीं था। आखिरकार खुद ब्रिटेन ने भी अपने पूंजीवादी विकास का आरंभिक चरण राजकीय संरक्षण में ही पूरा किया था। बिना सक्रिय राजकीय समर्थन के कोई देश आज तक विकास नहीं कर पाया है। पर भारत के ऊपर मुक्त व्यापार की नीति लाद दी गई। औपनिवेशिक राज ने भारतीय उद्योगों को वैसा टैरिफ संरक्षण देने से इनकार कर दिया जैसा कि ब्रिटेन, अमरीका और पश्चिमी यूरोप के देश उस समय भी अपने उद्योगों को प्रदान कर रहे थे। इस प्रकार की नीतियों के माध्यम से भारतीय अर्थव्यवस्था को विकसित देशों का अधीनस्थ बना दिया गया था।

राष्ट्रीय आंदोलन के दबाव के कारण 1918 के बाद जाकर, औपनिवेशिक भारत सरकार कुछ उद्योगों को टैरिफ संरक्षण देने के लिए बाध्य हुई। परंतु यह भी बहुत थोड़ा और बेअसर था।

इसके अलावा, 1880 के दशक से ही औपनिवेशिक सरकार मुद्रा नीति को इस तरह संचालित करने लगी थी कि उससे ब्रिटिश उद्योगों को अधिक फायदा हो। यह भी भारतीय उद्योगों की बदहाली का कारण बन गया।

जैसा कि पहले ही दिखाया जा चुका है, भारतीय सामाजिक अधिशेष का बहुत बड़ा भाग औपनिवेशिक शासन द्वारा हड़प लिया जाता था। खेती, उद्योग, सामाजिक कार्यों या राष्ट्रीय हित, जैसे- शिक्षा, सफाई और स्वास्थ्य सेवाओं पर बहुत ही छोटी रकम खर्च की जाती थी।

औपनिवेशिक राज्य अपनी आमदनी का पूरा भाग ब्रिटिश-भारतीय प्रशासन की आवश्यकताओं को पूरी करने में लगा देता था। यह पैसा भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से ब्रिटेन ही चला जाता था। पूरा प्रशासन ब्रिटेन के उद्योग एवं व्यापार के हितों के अनुरूप ही चलता था। राजस्व का सबसे बड़ा भाग सेना तथा उस नागरिक प्रशासन पर खर्च किया जाता था जिसका मुख्य काम राजस्व जमा करना तथा कानून-व्यवस्था को बनाए रखना था। 1890 के बाद से केंद्रीय सरकार की आमदनी का 50 प्रतिशत सैनिक खर्चे में ही लग जाता था। 1947-48 के दौरान भी यह 47 प्रतिशत था।

इतना ही नहीं, भारतीय कर ढांचा भी अत्यधिक असमतापूर्ण था। जहां किसानों पर करों का भारी बोझ लाद दिया गया था, वहीं उच्च आय वर्ग के लोगों, जैसे-अफसरों, जमींदारों और व्यापारियों द्वारा शायद ही कोई कर अदा किया जाता था। प्रत्यक्ष करों का स्तर काफी नीचे था। 1946-47 के दौरान आयकर देने वालों की संख्या मात्र 3,60,000 थी। जबकि गरीबों और किसानों से नमक जैसी चीजों के लिए भी कर लिया जाता था। राष्ट्रीय और कृषक आंदोलनों के दबाव के कारण 20वीं सदी में आकर लगान और नमक कर की दर थोड़ी कम की गई। 1900-1901 तक भी कुल राजस्व का 53 प्रतिशत मालगुजारी और 16 प्रतिशत नमक कर से प्राप्त होता था।

औपनिवेशिक राज की इन शोषणकारी नीतियों का परिणाम प्रति व्यक्ति अवरुद्ध-आय दर एवं आम जनता के निम्नतम जीवन स्तर के रूप में देखने को मिला। जनता की इस भयावह गरीबी और अभाव का कारण जनसंख्या वृद्धि को भी नहीं ठहराया जा सकता है। क्योंकि यह गौर करने की बात है कि 1871 से 1941 के बीच इसकी दर मात्र 0.6 प्रतिशत ही रही है। उपनिवेशवाद अपनी विदाई के समय एक अवरुद्ध औद्योगिक विकास, निम्न उत्पादन दर और अर्ध सांमती कृषि तंत्र पीछे छोड़ कर गया।

टिप्पणी

उदार निरंकुशता

औपनिवेशिक राजसत्ता का चरित्र बिलकुल विरोधाभासपूर्ण था। उसे परिभाषित करने के लिए उदार-निरंकुश की संज्ञा दी जा सकती है। मूल रूप से वह निरंकुशता और तानाशाही पर आधारित था परंतु उसमें उदारवाद के कुछ तत्व भी निहित थे। उदाहरण के लिए, यह कानूनों के आधार पर कार्य करता था एवं इसने कुछ हद तक एक स्वतंत्र न्यायपालिका की व्यवस्था रखी थी। प्रशासन कानून के प्रति जिम्मेदार होकर चलता था और कानून की व्याख्या न्यायालयों से संचालित होती थी, जिसने कुछ हद तक प्रशासन की निरंकुशता और मनमानेपन पर लगाम लगा रखी थी और यह अफसरशाही की मनमानी करतूतों से नागरिकों के सामान्य अधिकारों की भी रक्षा करता था। लेकिन ज्यादातर ये कानून ही दमनकारी और अपूर्ण थे। इसके अलावा इन कानूनों का निर्माण जनवादी तरीके से भारतीय जनता द्वारा नहीं, बल्कि विदेशी शासकों द्वारा मनमाने तरीके से किया गया था। उन्होंने पुलिस और नागरिक अधिकारियों के हाथों में ढेर सारी मनमानी शक्तियां यूं ही छोड़ दी थीं।

प्रशासन और न्यायिक संस्थाओं के बीच भी शक्ति और अधिकार क्षेत्र का पूरा बंटवारा नहीं किया गया था। सिविल सेवा का एक ही सदस्य किसी जिले का प्रशासन भी चलाता था और जिला मजिस्ट्रेट की हैसियत से न्याय आवंटित करने का भी कार्य करता।

फिर भी औपनिवेशिक न्याय प्रणाली कानून के सामने प्रत्येक की समानता की अवधारणा पर आधारित थी जिसमें एक व्यक्ति की जाति, धर्म, वर्ग या सामाजिक हैसियत के आधार पर कोई पक्षपात नहीं किया जाता। हालांकि इस मामले में भी खामियां थीं। जब कभी किसी यूरोपीय के खिलाफ न्याय पाने की कोशिश होती तो न्यायालय का व्यवहार हमेशा पक्षपातपूर्ण होता था। इसके अलावा, व्यावहारिक रूप से कानून के सामने समानता का वादा भी निष्फल रह जाता क्योंकि न्यायालय के काम करने का तौर तरीका इतना महंगा था कि गरीब और अमीर के बीच बहुत बड़ी खाई बन जाती थी।

औपनिवेशिक शासकों ने कुछ मात्रा में नागरिक अधिकारों को बहाल कर रखा था। जैस- प्रेस की आजादी, साधारण-समयों में बोलने और इकट्ठा होने की आजादी आदि को देखा जा सकता है। वैसे जन-आंदोलनों के समय में इन अधिकारों को काफी हद तक छीन लिया जाता था। 1897 के बाद प्रेस और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर ज्यादा हमले होने लगे। फिर भी यह गौर करने की बात है कि नागरिक अधिकारों का हनन भी दमनकारी कानून के माध्यम से किया जाता था, किसी प्रशासन के मनमाने व्यवहार द्वारा नहीं।

औपनिवेशिक राज्य का एक दूसरा विरोधाभासपूर्ण पहलू यह था कि 1858 के बाद उसके द्वारा लगातार थोड़ा बहुत संवैधानिक और आर्थिक रियायत देना जारी रहा हालांकि मूलभूत राजनीतिक शक्ति को उसने हमेशा ही अपने हाथों में समेटे रखा। ब्रिटिश राजनेताओं और प्रशासकों ने भारत में प्रतिनिधिमूलक राजसत्ता स्थापित करने के विचारों का हमेशा विरोध किया। उन्होंने यह दलील दी की भारत के लिए जनवाद बिलकुल उचित नहीं है, भारत पर हमेशा निरंकुश तरीके से शासन किया जाना चाहिए। उनके अनुसार भारत की विशिष्ट सांस्कृतिक और ऐतिहासिक विरासत के कारण यहां सिर्फ विनम्र प्रणाली ही उचित बैठती है।

भारतीय जनता के लगातार दबावों ने उन्हें चुनाव और विधान मंडलों की मांग केंद्र एवं प्रदेश दोनों ही स्तरों पर मानने के लिए बाध्य कर दिया। विदेशी हुकूमत यह मंसूबा बांधे बैठी थी कि इस रास्ते से उसे राष्ट्रीय आंदोलन के कुछ नेताओं को अपने पक्ष में

टिप्पणी

कर लेने में कामयाबी मिल जाएगी और परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आंदोलन कमजोर हो जाएगा। अंग्रेजी राज इस तरह से संवैधानिक ढांचे के माध्यम से राजनीतिक प्रभुत्व बनाए रखना चाहता था। फिर भी 1935 तक विधानमंडल के सदस्यों को कोई खास शक्ति प्राप्त नहीं थी। सर्वोच्च शक्ति अंग्रेजों के हाथ में रही। विधानमंडल की स्वीकृति लिए बिना सरकार कोई भी कदम उठा सकती थी। दरअसल सरकार को जब चाहे, जो चाहे, जैसा चाहे वैसा करने का पूरा अधिकार प्राप्त था। पर विधानमंडल के सदस्य सरकार के असली निरंकुश चेहरे को बहस में बेनकाब कर सकते थे, वे उपनिवेशवादी संवैधानिक सुधारों की कलई खोल सकते थे। इन चुनावों में मताधिकार का दायरा बहुत ही संकीर्ण था। मात्र 3 प्रतिशत भारतीय ही 1919 के बाद वोट डाल सकते थे जबकि 1935 के बाद यह संख्या बढ़ कर 15 प्रतिशत तक ही पहुंच सकी।

फिर भी इन विधानमंडलों ने भारतीयों को चुनावों में प्रत्येक स्तर पर हिस्सा लेने तथा निर्वाचित संस्थाओं में कार्य करने का कुछ अनुभव प्रदान किया। राष्ट्रवादियों ने इन संवैधानिक मंचों का उपयोग जन संघर्षों के साथ ताल-में-ताल मिला कर किया। विधानमंडलों का उपयोग उपनिवेशवादी शासन के उन्मूलन के लिए गहन राजनीतिक एवं विचारधारात्मक अभियानों को संगठित करने के लिए किया।

भारत की एकता पर भी औपनिवेशिक शासन का बहुत विरोधाभासपूर्ण असर पड़ा। औपनिवेशिक शासन ने भारत को ऐसा राजनीतिक और प्रशासनिक एकीकरण किया जैसा पहले कोई नहीं कर पाया था। मुगल प्रशासन को आधार बनाकर इसने समरूप कानून प्रणाली और प्रशासन की स्थापना की जो देश के दूर-दराज के हिस्सों तक फैल गया और एक संयुक्त प्रशासनिक शक्ति का सृजन किया। अंग्रेजों ने एक समरूप शिक्षा पद्धति को पूरे देश में लागू किया जिसने धीरे-धीरे अखिल भारतीय बुद्धिजीवी समुदाय का निर्माण किया। इस समुदाय ने समाज और राजनीति को देखने की समान दृष्टि विकसित की और राष्ट्रीय संदर्भ में अपने चिंतन को स्थापित किया। संयुक्त अर्थव्यवस्था एवं संचार के आधुनिक संसाधनों के साथ-साथ इन सभी कारकों की पृष्ठभूमि में उपनिवेशवाद ने एक राष्ट्र के रूप में भारत की स्थापना के लिए आधार तैयार किया।

अपने स्वार्थ के लिए भारत का एकीकरण उपनिवेशवाद की मजबूरी थी। इसलिए एकीकृत करने के बाद अंग्रेजों ने इसके ठीक विपरीत प्रक्रिया के लिए भी आधार बनाना शुरू कर दिया। अपने ही शासन द्वारा निर्मित भारतीय जनता की एकता से वे डरने लगे। उन्होंने सदाबहार साम्राज्यवादी सिद्धांत- 'फूट डालो राज करो' के तहत भारतीय जनता के एक हिस्से को दूसरे हिस्से से लड़ाना शुरू कर दिया। उन्होंने जाति के विरुद्ध जाति, प्रांत के विरुद्ध प्रांत, वर्ग के विरुद्ध वर्ग, एक-दूसरे के विरुद्ध हिंदू और मुसलमान वर्ग तथा रजवाड़ों और जमींदारों को राष्ट्रीय आंदोलन के विरुद्ध खड़ा करना शुरू किया। उन्होंने भारतीय समाज की हर विभिन्नता और राजनीतिक मतभेदों का उपयोग भारतीय जनता के बीच आपसी दूरी बढ़ाने के लिए किया। इसमें उन्हें अलग-अलग हद तक सफलता मिली और अंततः वे इस देश को छोड़ने से पहले इसे दो टुकड़ों में बांट कर ही गए।

अंग्रेज भारत पर आधुनिक अफसर तंत्र के माध्यम से शासन चलाते थे जिसकी बागडोर उच्च वेतन पाने वाले 'इंडियन सिविल सर्विस' (आई.सी.एस.) के सदस्यों के हाथ में थी। इन सदस्यों की नियुक्ति खुली प्रतियोगिता परीक्षा के आधार पर मेधाविता क्रम से होती थी। मोटे तौर पर, यह अफसरतंत्र कानून से बंधा, कार्यकुशल एवं उच्च स्तर पर ईमानदार था। भारतीय दबावों के तहत विभिन्न सेवाओं में 1918 के बाद धीरे-धीरे देशी

टिप्पणी

लोगों को प्रवेश मिलने लगा। 1947 तक आते-आते आई.सी.एस. के 48 प्रतिशत सदस्य भारतीय हो गए थे। फिर भी असली नियंत्रण और सत्ता अंत-अंत तक ब्रिटिश हाथों में बनी रही। वैसे इन सेवाओं में कार्यरत भारतीय, मुख्यतः अंग्रेजी शासन के एजेंट के रूप में ही कार्य करते थे, फिर भी उच्च प्रशासनिक सेवाओं के सदस्यों ने स्वायत्तता, निष्ठा, कठिन परिश्रम और राजनीतिक निर्देशों के प्रति पूर्ण समर्पण की एक ठोस परपंरा विकसित की। प्रशासन के अखिल भारतीय चरित्र ने भी प्रशासन और देश में एकता की एक भावना का विकास किया। परंतु साथ-ही-साथ नागरिक प्रशासकों ने धीरे-धीरे अपना एक अलग-थलग और निश्चित दायरा बना लिया जिसके सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक दृष्टिकोण काफी दकियानूसी थे।

एक तरफ जहां आई.सी.एस. कमोवेश भ्रष्टाचार से मुक्त था, वहीं प्रशासन के निचले स्तर पर भ्रष्टाचार खूब फल-फूल रहा था। लोक निर्माण और सिंचाई विभाग, राजकीय सेना आपूर्ति और पुलिस आदि विभागों में जहां इसकी संभावना अधिक थी, भ्रष्टाचार अपवाद के बजाय नियम ही था। दूसरे विश्व युद्ध के दौरान सरकारी नियंत्रणों के कारण प्रशासन के अंदर भ्रष्टाचार और कालाबाजारी बहुत तेजी से फैली। इसी समय आयकर और आबकारी कर में भारी बढ़ोत्तरी के कारण करों की चोरी की प्रवृत्ति मजबूत होती चली गई जिसने प्रशासन को भ्रष्ट किया। इस प्रकार एक सामानांतर और भ्रष्ट अर्थव्यवस्था की नींव मजबूत होती चली गई।

अंग्रेजों ने अपने पीछे एक शक्तिशाली परंतु खर्चीला सैन्य बल छोड़ा। भारत में अंग्रेजी राज के लिए यह सबसे महत्वपूर्ण स्तंभ की भूमिका निभा चुका था। अंग्रेजों ने सेना के जीवन और विचारों को आम जनता से खासकर राष्ट्रीय आंदोलन से बिलकुल अलग रखने के लिए हर संभव प्रयास किया था। राष्ट्रवादी अखबार, पत्रिकाओं और अन्य प्रकाशनों को अफसर मेस एवं सैनिकों तक पहुंचने से रोक दिया जाता था। पर इसी का एक दूसरा पहलू यह सामने आया कि सेना के 'अराजनीतिक' होने की परंपरा बन गई और इसलिए नागरिक प्रशासन की तरह ही यह भी राजनीतिक सत्ता का अधीनस्थ बन गई।

अंग्रेजों द्वारा अखिल भारतीय स्तर पर एक समरूप शिक्षा प्रणाली लागू करने का भी अपना फायदा हुआ। अंग्रेजी पर आधारित इस उच्च शिक्षा ने बुद्धिजीवियों का एक ऐसा वर्ग तैयार किया जो समरूप चिंतन के कारण उपनिवेशवाद की समरूप आलोचना तक पहुंच सके। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में इस शिक्षा का उपनिवेशवाद विरोधी तेवर थोड़ा बहुत झलकने लगा था। फिर भी अंग्रेजी आधारित इस शिक्षा के दो सबसे बड़े नकारात्मक परिणाम निकले– पहला तो यह कि इसने शिक्षित और आम लोगों के बीच बहुत बड़ी खाई पैदा कर दी। हालांकि राष्ट्रीय आंदोलन ने इस खाई को कुछ हद तक पाटने में सफलता प्राप्त की। क्योंकि राष्ट्रीय आंदोलन ने अपना नेता और कार्यकर्ता मूलतः इसी शिक्षित बुद्धिजीवी वर्ग से प्राप्त किया, फिर भी स्वंतत्रता के बाद भारत में यह खाई परेशानी का कारण बनी हुई है। दूसरा नकारात्मक परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजी पर जोर डालने के कारण भारतीय भाषाओं का संपूर्ण विकास नहीं हो पाया जिसने जनता में शिक्षा के प्रसार को बाधित किया। इनके अलावा, अंग्रेजी शिक्षा ने मौलिकता को दबा कर ग्रंथों को याद करने की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया।

19वीं सदी के अंतिम दिनों में ही शिक्षा को अर्थव्यवस्था और संस्कृति के विकास का सबसे महत्वपूर्ण पहलू मान लिया गया था। परंतु भारतीय जनता के ज्यादातर हिस्से के पास शिक्षा तक पहुंच का कोई दरवाजा खुला ही नहीं था। 1951 में करीब 84 प्रतिशत

टिप्पणी

लोग निरक्षर थे, खासकर औरतों की 92 प्रतिशत आबादी निरक्षर थी। देश में मात्र 13,590 मिडिल स्कूल और 7,288 हाई स्कूल थे।

इस प्रकार औपनिवेशिक शिक्षा पद्धति की एक सबसे बड़ी कमजोरी जन शिक्षा व्यवस्था का अभाव कहा जा सकता है। वैज्ञानिक और तकनीकी शिक्षा भी काफी पिछड़ी हुई थी। इस प्रकार दो सौ वर्षों के उपनिवेशवादी शोषण ने भारतीय समाज को पिछड़ेपन का पर्याय बना कर छोड़ दिया।

अपनी प्रगति जांचिए

3. 17वीं शताब्दी के ठीक प्रारंभ में किस ब्रिटिश व्यापारी कंपनी का गठन हुआ?
   (क) वेस्ट इंडिया (ख) ईस्ट इंडिया
   (ग) साउथ इंडिया (घ) नॉर्थ इंडिया
4. दो सौ वर्षों के उपनिवेशवादी शोषण ने भारतीय समाज को किसका पर्याय बनाकर छोड़ दिया?
   (क) पिछड़ेपन का (ख) प्रगति का
   (ग) संपन्नता का (घ) तकनीक का

4.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ग)
2. (घ)
3. (ख)
4. (क)

4.5 सारांश

उमर शेख मिर्जा की आकस्मिक मृत्यु के उपरांत बाबर फरगना की गद्दी पर बैठा किंतु तैमूरियों व उजबेगों के विरोध के कारण उसका राज्य उसके हाथों से निकल गया और उसे अपना प्रारंभिक जीवन फरगना, समरकंद, बल्ख, बदख्शां तथा बुखारा व उनके समीपवर्ती प्रदेशों में व्यतीत करना पड़ा। अपनी बाल्यावस्था व शैशवावस्था में वह अनेक जातियों व उनकी संस्कृतियों के संपर्क में आया व उनसे प्रभावित हुआ। इसके अतिरिक्त वह अपने पूर्वजों की परंपराओं व राजनीतिक आदर्शों से भी अत्यधिक प्रभावित हुआ। इस काल में मंगोल तथा तैमूरी अपने शासक को साम्राज्य की धुरी ही नहीं वरन सर्वेसर्वा मानते थे। उनके विचार में वही उनका पूजनीय नेता था। जनश्रुति के अनुसार महान चंगेजखां का आदि पूर्वज सूर्य का पुत्र था अतएव वह वैभव के कारण साधारण व्यक्ति न होकर दैवीय-व्यक्ति बन गया। उसने अपने पौरुष से जिस साम्राज्य की स्थापना की थी, यद्यपि वह साम्राज्य धीरे-धीरे छिन्न-भिन्न हो गया किंतु उसका आतंक व उसके नाम की गरिमा सदियों तक बनी रही। उसके राजनीतिक आदर्श व राज्य सिद्धांत लोगों के हृदय में बसे रहे। उसका विशाल मंगोल साम्राज्य कबायली आधार पर संगठित था। सभी कबायली सरदारों के ऊपर एक शासक होता था जो कि महान खान कहलाता था। महान खान केवल

टिप्पणी

एक राजनीतिक तथा सैनिक नेता होता था। वह पूर्णतः सार्वभौम था तथा उसमें संपूर्ण संप्रभुता निहित थी। इस्लामी कानून या शरियत का इस पर किसी प्रकार का अंकुश न था। उसके राजस्व सिद्धांत से बाबर ने प्रेरणा ग्रहण की। दूसरी ओर बाबर के राजनीतिक विचारों पर तैमूर, जो कि राज के दैवी सिद्धांत में विश्वास करता था का भी प्रभाव पड़ा। तैमूर के विचार में चूंकि इस संसार में एक ही ईश्वर है व उसका सामना कोई भी नहीं कर सकता है अतएव पृथ्वी पर उसका प्रतिनिधि (सम्राट) भी एक ही होना चाहिए। मुसलमान होने के नाते उसने तत्कालीन शासकों की भांति स्वयं को इस्लाम का प्रचारक व पुनरुद्धारक भी कहना प्रारंभ किया व खलीफाओं की भांति अपना नाम खुतबा में भी पढ़वाना प्रारंभ किया। यह सत्य है कि वह उलेमाओं, अमीरों व अधिकारियों का आदर करता था और उनसे समय-समय पर परामर्श लिया करता था। किंतु उसका निर्णय ही अंतिम निर्णय समझा जाता था। इसके अतिरिक्त यद्यपि मंगोल व तैमूरी शासकों की विचारधारा साम्राज्य विभाजन के पक्ष में थी कि महान खान या शासक की मृत्योपरांत साम्राज्य का विभाजन राजकुमारों में होना चाहिए किंतु वे संप्रभुता के विभाजन के बिलकुल विरुद्ध थे। साम्राज्य के विभाजन के उपरांत भी महान खान या तैमूरी शासक की प्रतिष्ठा किसी भी भांति कम न होती थी। इसके अतिरिक्त मंगोल व तैमूरी शासकों के राजत्व सिद्धांत की यह विशेषता भी थी कि वह शासक की शक्ति के साथ ही साथ राजसत्ता की शक्ति में वृद्धि करने में विश्वास करता था। बाबर तैमूरियों के राजत्व सिद्धांतों व राजनीतिक आदर्शों से भी अत्यधिक प्रभावित हुआ।

हुमायूं के पश्चात सभी मुगल शासक जन्म से भारतीय मुगल परिवार में होने के कारण भारतीय वातावरण में ही उनका पालन-पोषण हुआ। वे भारतीय मुगल हो गए उन्होंने सदैव यहां की परंपराओं का ध्यान रखा। वे इस्लाम को रूढ़िवादी परंपराओं व शरियत के नियमों से भलीभांति परिचित थे। वे यह जानते थे कि यहां के बहुधर्मी, बहुजातीय समाज पर शरियत के नियम थोपे नहीं जा सकते। अतएव उनके शासनतंत्र में उलेमाओं द्वारा हस्तक्षेप करने की गुंजाइश ही नहीं रही। चूंकि मुगलसम्राट ही साम्राज्य का केंद्रबिंदु था तथा वास्तविक संप्रभुता उसी में निहित थी अतएव उसकी इच्छा ही कानून थी। साम्राज्य की सभी संस्थाएं व उमरावर्ग इसकी राजशक्ति को दृढ़ करने के लिए कार्य करती थीं। सर्वोपरि होने पर भी वह अपनी नीतियों व आज्ञाओं को कार्यान्वित करने के लिए उमरावर्ग पर ही निर्भर करता था। उमरावर्ग ही मुगल साम्राज्य का शासक वर्ग था। इन्हीं की सहायता व परामर्श से शासन चलता था। उमरावर्ग के बहुधर्मी व बहुजातीय होने के कारण, मुगल सम्राटों का धार्मिक दृष्टिकोण निरंतर व्यापक बना रहा। सभी अमीरों की अधिकांशतः उसके प्रति निष्ठा बनी रही। अमीरों ने कभी भी स्वयं गद्दी हड़पने का प्रयास नहीं किया। जिसके कारण संप्रभुता को निरंतर शक्ति मिलती रही और वह स्थायी हो गई।

अकबर के शासन में समय-समय पर वित्तीय अधिकार दीवान को दिए जाने पर वजीर या वकील के पद की गरिमा कम होती रही। दीवान सर्वोच्च वित्त अधिकारी माना गया। उसे राजनीतिक मामलों में कोई मतलब नहीं रहता था। उसके विपरीत वकील का मतलब सैनिक व प्रशासनिक मामलों में रहते हुए भी उसके पद की गरिमा पूर्व जैसी न रही। क्योंकि उसके अधिकारों का बंटवारा दीवान, मीरबख्शी तथा सद्र के मध्य में हो गया था।

जहांगीर ने सर्वप्रथम शरीफखान को अमीर-अल-उमरा की उपाधि तथा वजीर का पद प्रदान किया। शरीफखान अस्वस्थ हो गया। उसके बद आसफ खां कजवीनी को वजीर नियुक्त किया गया। तदुपरांत शरीफ खां व आसफ खां दोनों ही दक्षिण अभियान पर भेज दिए गए। अपने राज्य काल के पांचवें वर्ष से 21 वें वर्ष उसने आसफ खां को इस पर

टिप्पणी

नियुक्त किया। परंतु राज्यकाल के 22वें वर्ष से लेकर 27 वें वर्ष तक लगभग 3 व्यक्ति इस पद पर रहे।

शाहजहां ने सिंहासनारोहण के उपरांत वजीर का पद आसफ खां को प्रदान किया गया। आसफ खां की मृत्यु के पश्चात यह पद दीर्घकाल तक रिक्त रहा। अपने शासनकाल के अंतिम वर्षों में, उत्तराधिकार के युद्ध प्रारंभ होने से पूर्व उसने मीर जुमला को वजीर नियुक्त किया। औरंगजेब ने अपने शासनकाल में मीर जुमला मुअज्जम खान, जाफर खान असद खान को क्रमशः वजीर नियुक्त किया। उसके शासन काल तक वजीर की प्रतिष्ठा पूर्वतः बनी रही।

18वीं शताब्दी के आरंभ से ही पतनशील मुगल साम्राज्य का विकेंद्रीकरण हो रहा था। प्रांतीय सूबेदार अपने-अपने क्षेत्रों को स्वतंत्र घोषित कर रहे थे तथा साम्राज्य विघटन की इस प्रक्रिया को बादशाह औरंगजेब की मृत्यु के उपरांत और भी गति प्राप्त हो गई। उत्तर पश्चिम में सिख, दिल्ली के पास भरतपुर में जाट, पश्चिम व मध्य भारत में राजपूत तथा दक्कन में मराठों ने एक विशाल राज्यसंघ स्थापित कर लिया था। इस काल के राष्ट्रीय चरित्र की विशेषता देखें तो ऐसा प्रतीत होता है कि इन सारे क्षेत्रीय राज्यों में अपने-अपने क्षेत्रों का विस्तार करने को लेकर होनेवाला संघर्ष एक आम बात थी और ये क्षेत्रीय राज्य निरंतर संघर्ष की एक कड़ी में उलझे हुए थे जिससे एक अराजकता का माहौल संपूर्ण देश में व्याप्त हो चुका था। इन क्षेत्रीय राज्यों में न केवल परस्पर शत्रुता थी बल्कि अंदरूनी रूप से भी ये दरबारी गुटबाजी तथा षड्यंत्रों के शिकार थे। यही वह स्थिति थी जिसमें भारत में 16वीं सदी से व्यापार करने को आई यूरोपियन कंपनियों ने इन गुटबाजियों का लाभ उठाकर भारतीय उपमहाद्वीप की राजनीति में शनैः-शनैः पहले तो हस्तक्षेप किया उसके पश्चात अपना प्रभुत्व जमाना शुरू किया।

महान मुगलों के पतन के साथ ही भारत के भाग्य का भी पतन प्रारंभ हो गया। परवर्ती मुगल शासक इतने सक्षम नहीं थे कि वे अपने पूर्वजों की विरासत को संभाल पाते। अतः उनका साम्राज्य बिखरना शुरू हो गया। इस बिखराव में अब्दाली और नादिरशाह जैसे विदेशी लुटेरों ने भी अहम भूमिका निभाई। अंत में रही-सही कसर अंग्रेजों ने पूरी कर दी। 17वीं शताब्दी के ठीक प्रारंभ में ब्रिटिश व्यापरी कंपनी जो बाद में ईस्ट इंडिया कंपनी के नाम से जानी गई, का गठन हुआ और उसने ब्रिटेन की तात्कालीन महारानी विक्टोरिया से पूर्वी देशों में व्यापार करने की अनुमति प्राप्त कर ली। इसी क्रम में अंग्रेजों ने मुगल बादशाह की अनुमति से सूरत में व्यापारिक कोठी स्थापित की।

यह मुगलों के अवसान का समय था, भारत की अनेक शक्तियां आपस में ही लड़ने में व्यस्त थीं। कोई केंद्रीय सत्ता न होने का फायदा अंग्रेजों ने उठाया और उनका उद्देश्य अब व्यापार न रह कर अपने साम्राज्य का विस्तार हो गया। भारतीय राजाओं की परस्पर वैमन्स्यता का अंग्रेजों ने लाभ उठाया और धीरे-धीरे उन्होंने अपने आपको एक सैन्य शक्ति के रूप में स्थापित कर लिया, जो कि भारत को उपनिवेश बनाने के लिए आवश्यक था।

4.6 मुख्य शब्दावली

- **कबायली** : किसी कबीले में रहने वाला व्यक्ति।
- **नकाब** : मुंह ढकने का कपड़ा, घूंघट।

टिप्पणी

- **तरकश** : तीर रखने का चोंगा, तूणीर।
- **तुल्य** : समान।
- **हदीस** : बात, वर्णन, इतिहास।
- **अमीन** : अमानत रखनेवाला, विश्वसनीय।
- **मनसबदार** : अधिकारी, वृत्ति पानेवाला।

4.7 स्व-मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु-उत्तरीय प्रश्न

1. बाबर ने किस वर्ष काबुल विजित किया था?
2. अकबर ने किन चार श्रेणी के लोगों को अनुदान में भूमि देना प्रारंभ किया था?
3. शाहजहां के शासनकाल में 22 सूबे कौन-कौन से थे?
4. मनसबदारी प्रणाली किसे कहते हैं?
5. मुगल भारत के लोगों के सामाजिक जीवन और आर्थिक अवस्था पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए।

दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न

1. मुगल सम्राटों के राजत्व सिद्धांत की विवेचना कीजिए।
2. मुगल सम्राटों के केंद्रीय प्रशासन के प्रमुख विभागों और उनके कार्यों की व्याख्या कीजिए।
3. मुगलों के प्रांतीय व स्थानीय प्रशासन की समीक्षा कीजिए।
4. औपनिवेशिक राज्य के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालिए।

4.8 सहायक पाठ्य सामग्री

1. श्रेण्य युग (आर. सी. मजूमदार)- मोतीलाल बनारसीदास।
2. प्राचीन भारत का इतिहास (शैलेंद्र सेंगर)- अटलांटिक पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स।
3. प्राचीन भारत का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास (धनपति पांडेय, अशोक अनंत)- मोतीलाल बनारसीदास।
4. पूर्वमध्यकालीन भारत (प्रशांत गौरव)- राजकमल प्रकाशन।
5. अशोक (राधा कुमुद मुखर्जी)- मोतीलाल बनारसीदास।
6. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतहास (ओमप्रकाश प्रसाद, प्रशांत गौरव)- राजकमल प्रकाशन।
7. नंद मौर्य युगीन भारत (के ए नीलकंठ शास्त्री)- मोतीलाल बनारसीदास।

इकाई 5 भारत में राष्ट्र-राज्य का विकास एवं स्वतंत्र भारत में राज्य

संरचना

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 भारत में राष्ट्र-राज्य के विकास की अवस्थाएं
  5.2.1 उपनिवेश शासनकाल से पूर्व भारत
  5.2.2 राष्ट्र निर्माण के लिए आवश्यक तत्व
  5.2.3 भारत में राष्ट्रीयता की भावना का निर्माण
5.3 स्वतंत्र भारत में राज्य
5.4 निरंतरता एवं परिवर्तन
5.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.6 सारांश
5.7 मुख्य शब्दावली
5.8 स्व-मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.9 सहायक पाठ्य सामग्री

5.0 परिचय

भारत राष्ट्र एक ठोस ऐतिहासिक प्रक्रिया की उपज है और इसलिए यह लंबे समय से एक रचना-प्रक्रिया से गुजर रहा है। भारतीय राष्ट्रवाद की जड़ें इसके इतिहास और स्वतंत्रता-संघर्ष के अनुभवों में बहुत गहरी जमी हुई हैं। उपनिवेश-पूर्व भारत ने समान अस्तित्व और समान चेतना के कुछ तत्व पहले ही अर्जित कर लिए थे। व्यापक सांस्कृतिक विभिन्नता के बावजूद, इसकी सभ्यता ने अपने विकास की लंबी दौड़ में एक साझी सांस्कृति विरासत के कुछ चिह्न पुष्पित किए थे। उसने लोगों को एक साथ पिरोया था, उन्हें एक होने का एहसास दिया था, यहां तक कि विभिन्नताओं और मतभेदों को बर्दाश्त करने की प्रवृत्ति को जन्म दिया। जैसा कि कविवर रवींद्रनाथ टैगोर ने कहा है, 'भारत की एकता भावनाओं की एकता है'। राजनीतिक, प्रशासनिक और आर्थिक एकता के तत्व खासतौर पर मुगलों के अधीन विकसित हुए थे। शासकों की राजनीति और क्षेत्र-विजय की आकांक्षा अकसर प्रादेशिक सीमाओं के परे होती थी और उसमें भी ज्यादा महत्वाकांक्षी शासक पूरे उपमहाद्वीप में राज्य विस्तार करने की बात सोचते थे। इसके अलावा यातायात और संचार के पिछड़े साधनों के बावजूद उत्तर मध्यकाल में खासतौर पर बड़ी मात्रा में अखिल भारतीय व्यापार, उत्पादन का विशेषीकरण और ऋण-तंत्र विकसित हुआ। हजारों वर्षों के दौरान एक अस्पष्ट-सा ही सही, पर भारतीयता का एहसास पैदा हुआ।

यह सर्वविदित है कि सर्वोपरि राष्ट्रीय आंदोलन ने ही वह केंद्रीय भूमिका निभाई थी जिसने भारतीयों को राजनीतिक और भावनात्मक रूप से जोड़ कर उन्हें एक राष्ट्र तथा राज्यों का स्वरूप दे दिया था। उन्हें 'एक समान राजनीतिक पहचान और निष्ठा के ढांचे में'

टिप्पणी

एकीकृत कर दिया था। आंदोलन के दौरान राष्ट्र व राज्यों के निर्माण की ऐतिहासिक प्रक्रिया ने एक लंबी छलांग भरी और एक सचेत एवं खास स्वरूप धारण कर लिया।

प्रस्तुत इकाई में भारत में राष्ट्र-राज्य के विकास के अलावा स्वतंत्र भारत में राज्यों की निरंतरता एवं परिवर्तनों का भी विस्तृत अध्ययन किया गया है।

5.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप-

- भारत में राष्ट्र-राज्य के विकास की अवस्थाओं को समझ पाएंगे;
- राष्ट्र निर्माण के लिए आवश्यक तत्वों के बारे में जान पाएंगे;
- स्वतंत्र भारत में राज्यों की दशा से परिचित हो पाएंगे;
- भारत में राज्यों की निरंतरता तथा परिवर्तनों की जानकारी ग्रहण कर पाएंगे।

5.2 भारत में राष्ट्र-राज्य के विकास की अवस्थाएं

वर्तमान विश्व में आज 195 सार्वभौम राष्ट्रों का अस्तित्व संयुक्त राष्ट्र संघ ने मान्य किया है। इनमें से अधिकांश उपनिवेशवाद के अंत के उपरांत स्वतंत्र रूप में अस्तित्व में आए। एशिया, अफ्रीका, ऑस्ट्रेलिया और अमेरिका महाद्वीप के अनेक राष्ट्र ऐसे थे, जिनमें पूर्व काल में किसी न किसी यूरोपीय राष्ट्र का उपनिवेश स्थापित रहा था। दूसरी कोटि में वे राष्ट्र आते हैं, जो यूरोप के पुनर्जागरण (Renaissance) काल के दौरान निर्मित हुई राष्ट्र-राज्य की संकल्पना के चलते काफी पहले से अस्तित्व में आ चुके थे। राष्ट्र-राज्य में दो अलग शब्द हैं– पहला राष्ट्र और दूसरा राज्य। समान भाषा, संस्कृति, जाति, धर्म एवं वंश के लोग जिनकी समान धारणाएं और साझा परंपराएं हों, यह लोकसमूह किसी भौगोलिक क्षेत्र की सीमाओं को सुनिश्चित मानकर उसे स्वदेश मानता हो उसे राष्ट्र की संज्ञा दी जाती है। राज्य जिसे स्टेट कहा जाता है अपनी जन्मभूमि की सुनिश्चित सीमा के भीतर के राष्ट्र के लोगों द्वारा निर्मित एक सार्वभौम सत्ता है। यह एक ऐसी सत्ता होती है जो राष्ट्र के अस्तित्व के लिए अनिवार्य मानी जाती है। बेंडिक्ट एंडरसन ने राष्ट्र को एक कल्पित समाज की इमेजिन्ड कम्युनिटी (Imagined Community) की संज्ञा दी है। यदि इस परिभाषा को ध्यान में रखें तो कहना अनुचित न होगा कि किसी भी राष्ट्र-राज्य की दो मूलभूत जरूरतें हैं। एक है राष्ट्र दूसरा है राज्य। एक ही वंश विचार परंपराओं से आपस में जुड़े लोगों के समूह को एक ऐसी सर्वोच्च सत्ता के अधीन होना चाहिए कि जो राष्ट्र की संप्रभुता (Sovereignty) को कायम रख सके, उसे राज्य कहा जाता है। आज की भाषा में हम लोग इसे सरकार (Government) के रूप में जानते हैं। यह अधिसत्ता उस राष्ट्र द्वारा निर्मित संविधान (Constitution) के अनुसार कानून का निर्माण कर अपनी सीमांकित सीमाओं की रक्षा का दायित्व निभाती है। राष्ट्र-राज्य के अंतर्गत आने वाले लोगों या समूह को एक अलग पहचान मिलती है, जैसे– भारतीय, ब्रिटिश, रशियन या अमेरिकन। इन राष्ट्रों में नागरिकों द्वारा निर्मित संविधान है। उसके द्वारा निर्मित कानून और शासन-व्यवस्था से उस राष्ट्र-राज्य का

टिप्पणी

संचालन होता है। यह सर्वोच्च सत्ता धर्म परंपराओं तथा निश्चित की गई भौगोलिक सीमाओं को जोड़े रखती है तथा एक शासक के रूप में समान राजनीतिक भूमिका, शिक्षा नीति और राष्ट्रीय पर्व निश्चित करती है।

भारत में विभिन्न धर्मों एवं जातीय समूहों के लोग रहते हैं, किंतु 15 अगस्त या 26 जनवरी जैसे विशेष दिवस हमारे राष्ट्रीय सम्मान के अवसर होते हैं, जो इस देश के प्रत्येक व्यक्ति द्वारा साझा रूप में मनाए जाते हैं। भारत में राष्ट्र-राज्य के विकास की अवस्थाओं को निम्न शीर्षकों के अंतर्गत समझा जा सकता है।

5.2.1 उपनिवेश शासनकाल से पूर्व भारत

यदि राष्ट्र-राज्य एक आधुनिक कल्पना है तो क्या इससे पहले विश्व में इसका अस्तित्व था या नहीं था..? यदि था तो उसका रूप क्या था? उपनिवेश शासनकाल से पूर्व भारत में इसकी क्या अवस्थाएं रही हैं, इस पर संक्षेप में एक दृष्टि डालना अनिवार्य है। यदि हम सिंधु सभ्यता को एक राजनीतिक इकाई मानें तो इस सभ्यता के उत्खनित स्थलों से प्राप्त अवशेषों के आधार पर स्पष्ट होता है कि इस सभ्यता में नागरिकों की सांस्कृतिक एवं धार्मिक परंपराएं तथा शासनप्रणाली और आर्थिक जीवन में भी कई साझा तत्व विद्यमान थे। ऋग्वेदकालीन भारतीय उपमहाद्वीप को आर्यावर्त, ब्रह्मर्षि प्रदेश या भारतवर्ष जैसी संज्ञा से जाना जाता था। यह एक या दो गण या जन का क्षेत्र होता था, जिसे इस तरह की संज्ञा दी जाती थी। कालांतर में इन्हीं से जनपदों एवं महाजनपदों का निर्माण होता चला गया, जिन्हें हम मगध के साम्राज्य के रूप में देखते हैं। मौर्य शासकों के अधिपत्य में समूचे महाद्वीप को विशाल प्रशासनिक संगठन के राजकीय नियंत्रण के अधीन लाया गया। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में राज्य के शीर्ष 7 अंगों का उल्लेख किया है– राजा, अमात्य, कोष, दुर्ग, सेना, मित्र व शत्रु। इसे राज्य निर्माण का सप्तांग सिद्धांत (Saptanga Theory of State) कहा जाता है।

सम्राट अशोक ने समूचे भारतवर्ष में साम्राज्य की सीमाओं एवं महत्वपूर्ण मार्गों पर अंकित अपने अनेक अभिलेखों से मौर्य साम्राज्य की राजनीति तथा अपनी प्रशासनिक नीति के आधार को स्पष्ट किया और साम्राज्य की प्रजा द्वारा उसका अनुपालन करने के आदेश जारी किए। अफगानिस्तान तथा पाकिस्तान के कुछ सीमावर्ती क्षेत्रों के अभिलेख ग्रीक या खरोष्ठी लिपि में अंकित हैं। शेष भारत में भाषा एवं लिपि की आंचलिक भिन्नताओं को छोड़कर अशोक के अभिलेख ब्राह्मी लिपि में ही अंकित किए गए हैं। उसने अपनी प्रजा से कुछ समान सांस्कृतिक तत्वों के अनुपालन की आशा व्यक्त की तथा साम्राज्य में भिन्न-भिन्न जन-समूहों के बीच सामंजस्य निर्मित करने के हेतु सामान भाषा-लिपि का प्रयोग कर अपने शासन को स्थापित किया था। अनेक आधुनिक इतिहासकार अशोक के इन प्रयासों को राष्ट्र निर्माण के तत्व मानते हैं। मौर्य साम्राज्य के पश्चात इतनी बड़ी राजनीतिक इकाई की स्थापना इस पूरे महाद्वीप में देखने को नहीं मिलती। गुप्त एवं हर्ष के समय राजनीतिक एकता कुछ सीमा तक जरूर निर्मित हुई किंतु मौर्य साम्राज्य के भौगोलिक क्षेत्र के अनुपात में ये राज्य काफी छोटे क्षेत्रों तक ही सीमित रहे।

मध्यकालीन भारतीय उपमहाद्वीप कई छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। ये राजतंत्रीय प्रणाली के राज्य थे जो अपनी सीमाओं को बढ़ाने हेतु निरंतर संघर्षरत रहते थे। मुगलों के

टिप्पणी

अधीन उपमहाद्वीप के विस्तीर्ण क्षेत्र को राजनीतिक एकता में बांधने का प्रयास हुआ किंतु 18 वीं सदी के आरंभ से ही इस उपमहाद्वीप में अनेक छोटे-छोटे क्षेत्रीय राज्यों का अभ्युदय होने लगा, जैसे– मराठा, राजपूत, सिक्ख और मुगल राज्य के अवशेषों से निर्मित उनके सूबेदारों के स्वतंत्र राज्य। इनमें आपस में निरंतर संघर्ष चलता रहा और उसी का लाभ उठाकर अंग्रेजों ने अपने राजनीतिक वर्चस्व को सर्वोच्चता से भारत पर स्थापित किया।

19वीं शताब्दी के अंत से ही भारत में राष्ट्र की चेतना (National Consciousness) का अभ्युदय देखा जा सकता है. आधुनिक अर्थों में राष्ट्र की परिभाषा क्या है? इसके लिए हमें कुछ व्याख्याओं पर विचार करना अनिवार्य होगा। 14वीं-15वीं शताब्दी में यूरोप के वैचारिक क्षेत्र में जो मूलभूत परिवर्तन आरंभ हुए उन्हें पुनर्जागरण (Renaissance) कहा गया। थॉमस हॉब्स, जॉन लॉक, डिडारो, रूसो, वॉल्टियर एवं मांटेस्क्यू जैसे दार्शनिक इन विचारों के प्रवर्तक थे। इनके विचार ही इस पुनर्जागरण आंदोलन का आधार थे। इस आंदोलन ने यूरोप के साथ पूरे विश्व में एक धर्मनिरपेक्ष तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता से संपृक्त व्यवस्था को आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया। श्रद्धा एवं अंधविश्वासों के विरोध के साथ ही धर्मसत्ता और राज्यसत्ता को भी मार्टिन लूथर किंग के नेतृत्व में खड़े इस आंदोलन ने प्रबल आह्वान दिया। व्यक्ति की प्रतिष्ठा के साथ ही स्वतंत्रता, समता एवं बंधुत्व के तत्व महान आदर्श के रूप में स्थापित हुए। इनके साथ विवेक आधारित तर्क, वैज्ञानिक जिज्ञासा, पंथनिरपेक्षता, मानवता इत्यादि मूल्य आधुनिकता का आधार माने गए। परिणामस्वरूप राज्य व्यवस्थाओं में मूलभूत परिवर्तन के चलते लोकतंत्र और साथ ही आधुनिक अर्थों में राष्ट्र-राज्य की संकल्पना का विकास होना संभव हो पाया। इसलिए राष्ट्र की कल्पना में व्यक्ति एवं राज्य, दोनों तत्व निहित होने आवश्यक हैं, किंतु इन तत्वों के अलावा यूरोप में भाषा, संप्रदाय, वंश तथा सामान परंपराओं को संस्कृतिक एकता का अंग मानकर ही राष्ट्र निर्माण के अनेक आंदोलनों ने जन्म लिया।

5.2.2 राष्ट्र निर्माण के लिए आवश्यक तत्व

राष्ट्र एक सामूहिक जनइच्छा का अविष्कार है। एक राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति इतिहास में भी एक-दूसरे से बंधा होता है तथा वर्तमान काल में इन्हीं ऐतिहासिक धरोहरों से मिली विरासत के साथ ही जीता है। उसी प्रकार वह अन्य व्यक्तियों के साथ वंश के जैविक तथा भाषा, धर्म एवं परंपरा के सांस्कृतिक बंधनों के साथ जुड़ा हुआ होता है। इस तरह की एकता की भावना ही राष्ट्र को जन्म देती है। इस तरह की अस्मिता को समाजचिंतकों के विचारों द्वारा बल मिला। सुधारकों द्वारा आरंभ किए गए आंदोलन से राष्ट्र में सामूहिक चेतना द्वारा राष्ट्रीय जागृति और पुनर्जागरण (Awakening and Reawakening) का प्रयास किया गया। राष्ट्रीय आंदोलन के केंद्र में भाषा, समान साहित्य, इतिहास एवं मातृभूमि जैसे महत्वपूर्ण तत्वों को आधार के रूप में उपयोग किया गया। मिरोस्लान हॉक ने राष्ट्र निर्माण हेतु तीन तत्वों को आवश्यक माना है- समान इतिहास, भाषा और समान सांस्कृतिक विशेषता वाले (धर्म, जाति) जनसमूह। राष्ट्र निर्माण के लिए आवश्यक मुख्य तत्व अग्रलिखित हैं–

1. भौगोलिक प्रदेश

विशिष्ट सीमा के भीतर का भौगोलिक क्षेत्र राष्ट्र के अस्तित्व के लिए अनिवार्य है, क्योंकि राष्ट्र की व्याख्या ही भूभाग से जुड़ी हुई है। वीर सावरकर ने भारत की सीमाओं के बारे विचार रखकर, सिंधु से असिंधू तक के भूप्रदेश को भारतभूमि का विस्तार मानते हुए उसे पुण्यभूमि एवं पित्तृभूमि के रूप में प्रकट किया। प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत में राजतंत्र प्रणाली थी। प्रत्येक राजवंश अपने राज्य का विस्तार करने के लिए पड़ोसी राज्यों से निरंतर युद्ध करते रहते थे, जिससे सीमाएं बदलती रहती थीं, किंतु वर्तमान काल में सीमा निर्धारण के कारण राष्ट्र की पहचान बनती है।

2. अस्मिता की चेतना

केवल भौगोलिक क्षेत्र ही राष्ट्र के अस्तित्व लिए अनिवार्य नहीं है। उसके साथ राष्ट्रीय चेतना का उदय भी आवश्यक माना गया। इसे राष्ट्रवाद भी कहा गया है। विशिष्ट भौगोलिक क्षेत्र के लोगों में कुछ साझा तत्वों के कारण उत्पन्न हुई एकत्व की भावना से ही राष्ट्र का अस्तित्व साकार होता है। उदाहरणस्वरूप 1776 में अमेरिका के 13 उपनिवेशों ने संगठित होकर स्वतंत्र राष्ट्र का निर्माण कर लिया था। 1869 और 1870 में इसी अस्मिता ने इटली एवं जर्मनी का एकीकरण साकार कर उन्हें राष्ट्र के रूप में स्थापित किया।

3. भाषा

भाषा का तत्व राष्ट्र निर्माण में अत्यंत महत्वपूर्ण माना गया है, क्योंकि राष्ट्र-राज्य की कल्पना से यूरोप में इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, इटली, पोलैंड जैसे राष्ट्र भाषाई आधार पर ही अस्तित्व में आए थे, किंतु केवल भाषाई तत्व राष्ट्र निर्माण में महत्वपूर्ण नहीं हैं। यदि ऐसा होता तो आज समूचे विश्व में लगभग 6000 भाषाएं बोली जातीं, किंतु विभिन्न भाषा के लोगों के पृथक-पृथक राष्ट्र नहीं हैं। भारत में अनेक बोलीभाषाओं का अस्तित्व है, किंतु हिंदी के महत्व को नहीं नकारा जा सकता। नेताजी सुभाषचंद्र बोस ने एक बार कहा था, 'देश के सबसे बड़े भूभाग में बोली जाने वाली हिंदी भाषा वास्तव में राष्ट्रीय भाषा की अधिकारिणी है।' इसी प्रकार भारतेंदु हरिश्चंद्र ने 'हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान' का नारा दिया था जिसमें भाषा, धर्म तथा भौगोलिकता का तत्व निहित था। भाषा जिस तरह राष्ट्र निर्माण का आधार बनती है, उसी तरह विभाजन का आधार भी हो सकती है। पाकिस्तान के बांग्ला भाषी मुसलमानों ने बांग्लादेश के रूप में अपने स्वतंत्र राष्ट्र का सपना भाषाई आधार पर ही साकार किया था।

4. जाति और वंश

भाषाओं की तरह विश्व में अनेक जातियों के राष्ट्र हैं। हर जाति या वंश के समूह की अपनी भाषा, आचार-विचार, जीवन शैली पृथक दिखाई देती है। रक्तसंबंधों तथा नस्लीय भिन्नता के चलते अलगाव की भावना भी प्रबल होती है। किसी जनसमूह का वंश ही उसकी पहचान को स्थापित करता है, जैसे अफ्रीका के अश्वेत वर्ण के लोग विश्व के किसी भी राष्ट्र में जाएं, उन्हें नीग्रो जैसी नस्लीय टिप्पणियों का सामना करना पड़ता है। यहूदी समुदाय के लोग लगभग 2000 साल तक बिना राष्ट्र के समूचे विश्व में फैले हुए

टिप्पणी

थे, किंतु उन्होंने अपने मस्तिष्क से जिओन की कल्पना को कभी ओझल नहीं होने दिया और इसराइल के रूप में एक स्वतंत्र राष्ट्र का स्वप्न साकार किया। वर्तमान काल में ऐसे अनेक राष्ट्र हैं, जहां अनेक जातियों के लोग एक राष्ट्र के रूप में रहते हैं। भारत जैसे विशाल देश में अनेक जातियों के समूहों का अस्तित्व है। इसके विपरीत स्विट्जरलैंड जैसे छोटे राष्ट्र में भी अनेक जाति समूह के लोग स्विस नागरिक के रूप में अपनी पहचान संजोए हुए हैं।

5. धर्म और संस्कृति

परंपरा, कर्मकांड, मिथक, दर्शनशास्त्र, भाषा, इतिहास, त्योहार, जीवनशैली की एक विशेष विचारधारा जिसे अंग्रेजी में 'वे ऑफ लाइफ' कहा जाता है, इन सभी का समावेश संस्कृति शब्द में किया जाता है। समुदाय विशेष की विभिन्न कलाएं, कानून और साहित्य भी एक ही संस्कृति के अभिन्न अंग माने जाते हैं। सांस्कृतिक तत्वों के साथ इतिहास से आए नायक और उनके इर्द-गिर्द बुने हुए इतिहास के मिथकों से आधुनिक यूरोप में ऑस्ट्रियन साम्राज्य के अंतर्गत जर्मन संस्कृति से संबंधित राइनसंघ के छोटे-छोटे राज्यों में साझा संस्कृति की ऐसी समझ निर्मित हुई कि उन्होंने प्रशिया के नेतृत्व में 1870 में जर्मनी का एकीकरण साध्य किया। जर्मनी और इटली के एकीकरण के उपरांत विश्व में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की कल्पना को बल मिला।

उपर्युक्त तत्वों की पड़ताल करें तो प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या वास्तव में केवल यही तत्व राष्ट्रनिर्माण का आधार हो सकते हैं? यदि धर्म और संस्कृति के पक्ष से देखें तो क्रिश्चियन धर्म में क्रिश्चियनडम नामक एक संकल्पना है जिसमें सारे ईसाई एक ही माने जाते हैं फिर भी साइयों के अनेक रास्ते हैं। इसी प्रकार इस्लाम में भी उम्मा (इस्लाम पर श्रद्धा रखने वाला वैश्विक समुदाय) की कल्पना से इस्लाम एकीकरण की बात की जाती रही है। यह सब भ्रातुभाव से संबंधित कल्पना है, इसलिए कुछ इतिहासकारों के अनुसार राष्ट्र-राज्य की कल्पना का इस्लाम में कोई स्थान नहीं है। एक धर्म के समूह भी एक राष्ट्र का निर्माण नहीं कर सकते।

वास्तविकता में आज हम देखते हैं कि वर्तमान में ईसाई तथा इस्लाम अनुयायियों के अनेक राष्ट्र विश्व में मौजूद हैं, इसलिए एक ही धर्म या संस्कृति को राष्ट्र के लिए आवश्यक मानना असंगत लगता है। पंडित नेहरू ने हिंदू-मुसलिम की साझा संस्कृति को ही भारत की विरासत माना है।

उपर्युक्त तत्वों में से किसी एक तत्व के कारण राष्ट्र का निर्माण होना असंभव है जैसे केवल भाषा ही मुख्य तत्व नहीं हो सकती, क्योंकि विश्व में अनेक ऐसे राष्ट्र हैं जहां पर विभिन्न भाषाएं बोलने वाले अनेक समूह किसी एक ही राष्ट्र के नागरिक कहलाते हैं। स्विट्जरलैंड, अमेरिका, भारत जैसे विशाल देशों में विभिन्न भाषाई समूह एक ही राष्ट्र के अंतर्गत दिखाई देते हैं। प्राचीन काल में छोटे से क्षेत्र में एक ही जाति या वंश के लोग रहते थे जो रक्तसंबंधी होते थे। किंतु आज के दौर में एक ही जाति के चीन, जापान या कोरिया जैसे राष्ट्रों को छोड़कर शेष राष्ट्रों में एक जाति समूह से उत्पन्न राष्ट्र दिखाई नहीं देते, इसलिए केवल किसी एक तत्व से राष्ट्र के आधार का

टिप्पणी

निर्माण नहीं किया जा सकता। अनेक तत्वों के एकत्रीकरण और साझा प्रयासों से ही किसी राष्ट्र का निर्माण होता है तथा स्वतंत्र राष्ट्र के लिए सार्वभौम सत्ता या राज्य का अंग भी अनिवार्य है।

राष्ट्र की कुछ मुख्य परिभाषाएं

राष्ट्र की संकल्पना को साकार करने के लिए यह आवश्यक है कि वहां के लोगों में एक प्रकार का सामाजिक अनुबंध हो, उससे जनित एकात्मता की भावना से राष्ट्र का अस्तित्व वास्तविकता में साकार हो पाता है और राष्ट्र के नागरिकों द्वारा निर्मित नियमन शक्ति या दंडशक्ति का विधान उसे सार्वभौम राज्य का रूप प्रदान करता है। राष्ट्र एवं राज्य की एकरूपता से ही राष्ट्र-राज्य का जन्म होता है।

आज के परिवेश में नेशन को राष्ट्र कहा जाता है, किंतु लैटिन भाषा में इस शब्द का अर्थ रक्त संबंधी या एक ही कुल के लोग के रूप में निहित होता था। राष्ट्र की कल्पना से संबंधित कुछ प्रमुख व्याख्याएं निम्नलिखित हैं–

1. फ्रेंच प्राच्यवादी एर्नेस्ट रेनन ने कहा था– 'Nation is a daily Plebiscite', जिसका अर्थ है– 'राष्ट्र दैनंदिन रूप में लिया जाने वाला एक जनमत संग्रह है।' रेनन के अनुसार– 'जनसमूह में एकत्रित रहने की भावना कायम रहनी चाहिए।' इस अभिप्राय से वे राष्ट्र को आध्यात्मिक आयाम भी प्रदान करते हैं।
2. प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व स्टालिन ने राष्ट्र की व्याख्या करते हुए कहा था– 'A Nation is a historically evolved stable community based on a common language territory economic life and psychological makeup manifested in a community of culture.' स्टालिन ने राष्ट्र की आवश्यकता को समझ कर ही व्यावहारिकता के अनुसार उसे परिभाषित करने का प्रयास किया था। इस व्याख्या में उसने भौगोलिकता, भाषा, आर्थिक जीवन तथा राष्ट्र के रूप में एक समान मानसिक अवधारणा को आवश्यक माना है।
3. प्रसिद्ध अमेरिकी विचारक बेंडिक्ट एंडरसन ने राष्ट्र की कल्पना को परिभाषित करते हुए कहा था– 'It is an imagined political community and imagined as both inherently limited and sovereign.' यानी राष्ट्र एक कल्पित राजनीतिक समाज है जो विरासत से सीमित एवं सार्वभौम है। एंडरसन ने इस व्याख्या द्वारा माना है कि– 'प्रत्येक नागरिक का एक-दूसरे से परिचय तथा साथ रहने की इच्छा ही राष्ट्रीय चेतना को बल प्रदान करती है, इस चेतना के अभाव में किसी भी राष्ट्र का निर्माण संभव नहीं।'
4. ब्रिटिश समाजशास्त्री एंथोनी गिड्डेंस राष्ट्र को एक संवैधानिक रूप से मान्यता प्राप्त, बाहरी या अंदरूनी हिंसा को नियंत्रित रखने वाली प्रशासकीय संस्था और विशिष्ट सीमा के भीतर के भूप्रदेश के संसाधानों पर स्वामित्व जताने वाली संस्था के रूप में देखते हैं।
5. महात्मा फुले ने एक ही वाक्य में कहा है कि– 'राष्ट्र और राष्ट्रवाद के लिए केवल एक ही जरूरत है और वह है एकत्व की भावना (Feeling of oneness)।'

टिप्पणी

इन व्याख्याओं के विश्लेषण से कुछ प्रमुख तत्व उभर कर सामने आते हैं, जैसे– वंश, जाति, भाषा, भूमि, सामूहिक इच्छा आदि। किंतु यही वे तत्व हैं जो आज कई राष्ट्रों में अलगाव को न्योता देने वाले तत्व भी बने हुए हैं, इसलिए राष्ट्र से संबंधित इन तत्वों के दोनों पक्षों का विश्लेषण अनिवार्य है।

राष्ट्र भौगोलिक एकता वाले एक निश्चित सीमा के भीतर रहनेवाले समान वंश के समूह हैं, जिनकी अपनी संयुक्त परंपरा का इतिहास है। संस्कृति की एकरूपता राष्ट्र के लिए आवश्यक है, किंतु यह दृष्टिकोण संकीर्ण सा प्रतीत होता है क्योंकि वर्तमान काल में संचार एवं यातायात के साधानों के चलते विभिन्न देशों के लोग रोजगार की तलाश में दूसरे देश में जाकर वहां के नागरिक कहलाते हैं। आज के दौर में वांशिक शुद्धता को किसी राष्ट्र के आधार का मुख्य तत्व मानना भी सर्वथा असंगत होगा क्योंकि आधुनिक विश्व में भारत, अमेरिका, चीन, ब्रिटेन, फ्रांस जैसे देशों में अनेक नस्लों के लोग एक ही राष्ट्रीय नागरिकता के अंतर्गत आते हैं। भूमंडलीकरण के दौर में भी नस्लीय पक्षपात कुछ हद तक कायम जरूर है, पर इसे दरकिनार कर अंतरजातीय विवाह के अनेक उदाहरण आज भी देखने को मिलते हैं इसलिए किसी जाति या किसी वंश को राष्ट्र का मूलतत्व मानना असंगत एवं अतार्किक भी है।

एंथोनी गिड्डेंस और बैंडिट एंडरसन ने अपनी व्याख्या में राष्ट्र को परिभाषित करते हुए राष्ट्र में एक सर्वोच्च संवैधानिक अधिसत्ता को राष्ट्र का मूल आधार माना है। दरअसल राष्ट्र एक मानसिक अवधारणा है और उसे विभाजित करना असंभव है, उदाहरणस्वरूप द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरांत जर्मनी को पूर्व एवं पश्चिम राष्ट्रों में बांट दिया गया था किंतु 3 अक्टूबर, 1990 को वे पुनः एकीकरण से एक राष्ट्र के रूप में अस्तित्व में आ गए। इसी प्रकार इजराइल से पूर्व यहूदियों का भी कोई राष्ट्र दुनिया में देखने को नहीं मिलता, किंतु विश्व में फैले हुए समस्त यहूदियों के मस्तिष्क में उनके एक अपने जिओन की कल्पना कायम रही। यद्यपि उनके किसी राजनीतिक संगठन का अस्तित्व नहीं था, किंतु फिर भी यहूदियों के जियोन की कल्पना से प्रणीत जिओनवाद (Zionism) ने 14 मई, 1948 को यहूदियों के एक स्वतंत्र राष्ट्र की कल्पना को साकार कर दिया।

केवल भाषा एवं समान परंपराओं जैसे सांस्कृतिक तत्वों की एकता से ही राष्ट्र का निर्माण होता है। ऐसा मानना पहले और आज भी सर्वथा असंगत है कि विश्व में ऐसे कई राष्ट्र हैं जिनमें धार्मिक संप्रदाय, रीति-रिवाज, भाषा आदि में अत्यधिक भिन्नता होने के बावजूद विभिन्न लोग एक राष्ट्र के रूप में खड़े दिखाई देते हैं। भारत का उदाहरण लें तो भारत में लगभग 08 ऐसी भाषाएं हैं जिन्हें राजभाषा का दर्जा प्राप्त है। भारत एक बहुभाषी, बहुधार्मिक, बहुजातीय राष्ट्र के रूप पिछले 70 वर्षों से अपने अस्तित्व को कायम रखकर प्रगति के मार्ग पर अग्रसर है। रूस, स्विट्जरलैंड जैसे यूरोपीय देशों में भी अनेक भाषा के लोग तथा विभिन्न संप्रदाय के लोग एक राष्ट्र के रूप में शांति से रहते हैं। उपर्युक्त व्याख्यान में यही सारे तत्व हैं जो किसी राष्ट्र के अस्तित्व का मूलाधार माने गए हैं, किंतु केवल वही तत्व राष्ट्र को साकार कर सकते हैं यह कथन अनुचित प्रतीत होता है। अंग्रेज राजनीतिज्ञ अर्नेस्ट बार्कर का कथन है कि राष्ट्र एक निश्चित भूमि पर रहने वाले ऐसे लोगों

टिप्पणी

का समूह है जो आपसी सौहार्द्र एवं स्नेह तथा परस्पर एकत्रित रहकर विकास करने की भावना को सम्मान देने वाले तत्व हैं, जो राष्ट्र के सृजन में योगदान देते हैं।

5.2.3 भारत में राष्ट्रीयता की भावना का निर्माण

18वीं तथा 19वीं सदी में भारत की राजनीतिक स्थिति का लाभ उठाकर अंग्रेजों ने समूचे उपमहाद्वीप के विशाल भूभाग पर अपना नियंत्रण जमा लिया था। ब्रिटिश साम्राज्य के प्रशासनिक संगठन एवं अंग्रेजी भाषा की शिक्षा नीति के कारण अनेक धर्म, भिन्न भाषाई समूह, पूर्वोत्तर के सीमांत प्रदेशों के भिन्न मातृभाषी लोगों में राष्ट्रीयता की भावना पनपने लगी। अंग्रेजी ने एक संपर्क भाषा का काम किया जिससे इन प्रादेशिक क्षेत्रों के शिक्षित लोग एक-दूसरे के समीप आए। इस नवशिक्षित वर्ग ने अंग्रेजी को आपसी व्यवहार, विचार-विमर्श एवं राजनीतिक चिंतन की भाषा बनाया। बंगाल, पंजाब, मद्रास और उत्तर भारत के हिंदी भाषी क्षेत्रों के कई नेता भारत के राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़े। आरंभिक राष्ट्रवादियों के ही प्रयासों द्वारा भारत में एक राष्ट्र की अवधारणा तथा राष्ट्रीयता की भावना का जन्म हुआ।

ब्रिटिश तत्ववेत्ता अर्नेस्ट गेलनर का कथन है– "पूंजीवाद ही राष्ट्र का जनक है, क्योंकि पूंजीवाद के विकास एवं संचार साधानों की उन्नति से ही आधुनिक काल में राष्ट्रों की निर्मिति हुई है।"

पूंजीवादी ब्रिटेन के औपनिवेशिक राज्य के रूप में भारतीय उपमहाद्वीप में अंग्रेजों ने एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया। इससे पूर्व भारत के इतने बड़े भूभाग पर एक ही प्रशासकीय व्यवस्था एवं राजभाषा का व्यवहार तथा एक ही भाषा में शिक्षा की नीति भी प्रचलित नहीं थी। यही वे तत्व थे जिनसे विभिन्न भारतीय प्रदेशों में नवशिक्षित मध्यमवर्ग प्रमुख रूप से उभरा था। यही वह बुद्धिजीवी वर्ग था जिसने भारत में राष्ट्र की चेतना को न केवल आरंभ किया, बल्कि उसके प्रसार हेतु कार्यरत भी रहे। उपनिवेश काल के दौरान अंग्रेजों द्वारा निर्धारित की हुई सीमाओं के भीतर के क्षेत्र को ही भारतीय लोग राष्ट्र के रूप में देखते थे, किंतु क्या उससे पूर्व भारत का एक राष्ट्र के रूप में अस्तित्व नहीं था? और यदि था तो उसका स्वरूप कैसा था? राष्ट्र-राज्य की कल्पना मूलतः यूरोप से आई थी। इस आधुनिक कल्पना से पूर्व भारतीय समाज में राष्ट्र की कल्पना भिन्न रूपों में विद्यमान रही है। अनेकता में एकता प्राचीनकाल से भारतीयों की विशेषता रही है। भारतीय संस्कृति में कुछ साझा तत्व ऐसे थे जो भारतीयों को एक राष्ट्र के रूप में प्राचीन काल से बांधे हुए थे, लेकिन उसे आधुनिक राष्ट्र-राज्य के रूप में नहीं स्वीकारा जा सकता। यह सही है कि आधुनिक राष्ट्र-राज्य की कल्पना इससे पूर्व भारत समेत विश्व के अन्य देशों में भी नहीं थी, इसलिए विश्व के अन्य देशों की तरह भारत में भी मध्ययुग में रजवाड़े आपसी संघर्ष में लिप्त रहे, एक संघ बनाकर उन्होंने विदेशी आक्रमणों का कभी सामना नहीं किया। अंग्रेजों के अधीन भारत में पश्चिम से आई राष्ट्र की कल्पना को 1885 में स्थापित अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की अगुवाई में भारतीय राष्ट्रवाद का आरंभ बिंदु माना जाता है।

भारतीय उपमहाद्वीप के समस्त संसाधानों पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित करने के लिए अंग्रेजों द्वारा 1772 के रेगुलेटिंग एक्ट से भारत में अधिनियम जारी करने का सिलसिला

टिप्पणी

आरंभ हुआ। 1784, 1792, 1813, 1833, 1853 तथा 1858 में घोषित विक्टोरिया के घोषणापत्र तक तथा उसके पश्चात 1891, 1909, 1919, 1935 तक के अधिनियमों से समूचे उपमहाद्वीप में समान प्रशासकीय व्यवस्था का सूत्रपात हुआ। परिणामस्वरूप भारत में राष्ट्र की चेतना का अभ्युदय हुआ। 1858 के उपरांत ब्रिटिश पार्लमेंट के सीध नियंत्रण द्वारा भारत में भारत मंत्री तथा वायसराय जैसे पदों का निर्माण किया गया तथा राजस्व, न्याय, पुलिस, सेना एवं नागरिक प्रशासन के समस्त विषयों को इनके अधीन कर दिया गया।

भारत के विभिन्न भाषाई क्षेत्र समान शासनव्यवस्था के अंतर्गत आ गए। औपनिवेशिक शोषण नीति के कारण भारत के सभी क्षेत्रों में शोषण के विरुद्ध उत्पन्न विरोध ने विदेशी शासनव्यवस्था के विरुद्ध एकजुट होने को प्रेरित किया। यह वही समय था जब 19वीं शताब्दी के अंत से भारत में समाज एवं धार्मिक सुधार आंदोलनों का शृंखलाबद्ध आरंभ हुआ। इन आंदोलनों के परिणामस्वरूप भारतीय राष्ट्रवाद की पृष्ठभूमि निर्मित हुई। अंग्रेजों की नीति के विरुद्ध आरंभ से ही निरंतर विद्रोह भी होते रहे, किंतु वे सीमित क्षेत्रों में किसी समूह विशेष द्वारा किए गए थे। राष्ट्रीय चेतना के अभाव के कारण अन्य क्षेत्रवासी इन विद्रोहों में राष्ट्रीयता के मूल्यों से अपरिचित थे। यही तत्व 18वीं सदी के उत्तरार्ध में भारत की राजनीतिक व्यवस्था में विद्यमान थे, क्योंकि उस समय बंगाल या पंजाब में होने वाले राजकीय संघर्षों से भारत के अन्य क्षेत्रों के रजवाड़ों का कोई लेना-देना नहीं था। इस तरह के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि उस समय भारत में राष्ट्रीयता की भावना का जन्म नहीं हुआ था। ब्रिटिश साम्राज्य की प्रबल शासनव्यवस्था से उपमहाद्वीप प्रशासन के समान सूत्र में पिरोया गया। इससे परोक्ष रूप में भारतीयों में एकता के भाव उत्पन्न हुए। आंग्ल शिक्षा विभूषित नवशिक्षित वर्ग के सुधारकों ने 1885 में राष्ट्रीय कांग्रेस का गठन किया। इसी दल के नेतृत्व में 1947 तक भारत का राष्ट्रीय आंदोलन जारी रहा। आरंभिक राष्ट्रवादियों द्वारा भारत में राष्ट्रीय चेतना की जागृति कर उसे प्रसारित करने की विभिन्न पद्धतियां अपनाई गईं। भारतीय लोगों को एकता के सूत्र में पिरोने के लिए कांग्रेस द्वारा भारत के विभिन्न नगरों में अधि वेशनों का आयोजन किया गया। सुरेंद्रनाथ बनर्जी द्वारा लिखित पुस्तक, 'अ नेशन इन मेकिंग' का शीर्षक राष्ट्र निर्माण के लक्ष्य की प्रासंगिकता को जताने के लिए काफी है। राष्ट्रीय कांग्रेस के आरंभिक नेताओं द्वारा निर्मित की गई राष्ट्रीय चेतना के परिणामस्वरूप बीसवीं शताब्दी में ब्रिटिश शासन के अनेक स्वेच्छाचारी निर्णयों के विरुद्ध समूचे भारत में प्रतिक्रिया तीव्रता से व्यक्त होती रही। उदाहरणस्वरूप 1905 में कर्जन द्वारा किए गए बंगाल विभाजन से उपजे बंग-भंग आंदोलन, या 1919 के अमृतसर के जलियांवाला बाग हत्याकांड से आक्रोशित भारतीयों का रोष उग्र रूप में व्यक्त हुआ। स्पष्टत: भारतीय जनमत में एकत्व की भावना का संचार हो चुका था। इसी तत्व ने आगामी काल में भारत को एक राष्ट्र के रूप में स्वतंत्रता प्राप्ति हेतु आंदोलन के पथ पर अग्रेषित किया।

अपनी प्रगति जांचिए

1. कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में राज्य के कितने शीर्ष अंगों का उल्लेख किया है?

   (क) 5 (ख) 6

   (ग) 7 (घ) 8

2. 'देश के सबसे बड़े भूभाग में बोली जाने वाली हिंदी भाषा वास्तव में राष्ट्रीय भाषा की अधिकारिणी है।'– यह किसने कहा था?

   (क) इंदिरा गांधी ने (ख) सुभाषचंद्र बोस ने

   (ग) भगतसिंह ने (घ) चंद्रशेखर आजाद ने

5.3 स्वतंत्र भारत में राज्य

स्वतंत्रता के समय गठित संविधान सभा द्वारा स्वतंत्र भारत के रूप में भारत के संविधान का प्रारूप तैयार किया गया तथा 1950 से उसे लागू कर एक सार्वभौम राष्ट्र के रूप में भारत का निर्माण हुआ। उस समय भारतीय नेताओं एवं राज्यों के समक्ष कई चुनौतियां थीं, क्योंकि भारत ने एक ऐसी शासन व्यवस्था के प्रारूप को अपनाया था जो पश्चिम से उपजे मूल्यों पर आधारित थी। भारतीय जनमानस में राष्ट्र के उन तत्वों को स्थापित करना तथा अनेक धर्म, संस्कृति, संप्रदाय, भाषा, वंश, जातियों के विभिन्न लोगों को एक राष्ट्र व राज्यों के रूप में विकसित करना सबसे बड़ी चुनौती थी।

राष्ट्रीय संस्कृति का निर्माण

भारत आरंभ से विभिन्न धर्मों, संस्कृतियों तथा जातियों की शरणस्थली रहा है। यहां की भूमि ने सभी को समान रूप से संजोया तथा उनके विचारों को अपनाया इसलिए अनेकता में एकता की भावना को स्थापित कर एक साझा राष्ट्रीय संस्कृति का निर्माण करना आवश्यक था। इसके विकास हेतु समान राष्ट्रीय भाषा व राष्ट्रीय त्योहार आवश्यक थे। 15 अगस्त और 26 जनवरी राष्ट्रीय त्योहारों के रूप में मनाए जाते हैं। इन राष्ट्रीय पर्वों के दौरान पूरे देश में राष्ट्रीय ध्वज को सम्मान देना, सामूहिक राष्ट्रगान से एकता की भावना को बल देना तथा देश में सभी छोटे-छोटे समूहों की संस्कृति को प्रोत्साहित कर उनसे एक साझा राष्ट्रीय संस्कृति का निर्माण करना अनिवार्य है।

विभिन्न भाषाएं

भारतीय संविधान में 08 भाषाओं को संविधानिक दर्जा दिया हुआ है। स्पष्टत: स्वतंत्रता के समय से ही राज्य द्वारा सभी भाषाओं का सम्मान करने के प्रयास किए गए। इन 8 भाषाओं के अलावा भारत में अनेक बोली भाषाएं (Vernacular) थीं। उन भाषाओं में साहित्य सृजन भी हुआ। स्वाधीनता आंदोलन के समय ग्रामीण भारत के लोगों को राष्ट्र चेतना से जोड़ने के लिए राष्ट्रवादियों द्वारा देशी भाषाओं में समाचार पत्र प्रकाशित किए गए। स्वतंत्रता के पश्चात स्थानीय भाषाओं के साथ ही राष्ट्रीय भाषा के रूप में हिंदी के विकास के लिए भारत सरकार द्वारा समय-समय पर विशेष प्रयास किए जाते रहे हैं।

टिप्पणी

संप्रदायों में सामंजस्य स्थापित करना

भारत में अनेक संप्रदाय एवं विभिन्न जातियों के समूह हैं। भारत के कुछ क्षेत्र विकास की धाराओं में आरंभ से सहभागी थे, किंतु कुछ दूरदराज के क्षेत्र मुख्यधारा से अछूते ही बने रहे। ये दूरदराज के क्षेत्र अभी तक राष्ट्रीय प्रवाह की पहुंच से दूर थे। उन तक पहुंचना आवश्यक था ताकि उनमें अलगाव की भावना न पनपे। उन्हें उचित सम्मान देकर राष्ट्रीय धारा में लाना आवश्यक था। समस्त जातियों में समन्वय की भावना का निर्माण कर एकात्मता को बढ़ावा देना राष्ट्र की अखंडता के लिए अनिवार्य पूर्वदशा है। भारत सरकार द्वारा इस दिशा में निरंतर प्रयास किए जाते रहे हैं।

धर्मनिरपेक्षता

'सुधारक', पत्र में गोपाल गणेश आगरकर ने धर्मकल्पना से संबंधित मंतव्य व्यक्त किया था कि, "धर्म जिस तरह मनुष्यों में सामंजस्य निर्माण करता है उसी प्रकार विभिन्न धर्मों के लोगों में शत्रुता की भावना भी निर्माण करता है। वह एक ही समय सामंजस्य और कलह का कारण होता है इसलिए राज्य को धार्मिक कल्पनाओं से उपजी भावनाओं की बजाय तर्क और विवेक से काम लेना चाहिए।" धर्म व्यक्ति का निजी मामला है अत: उसमें राज्य को किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। साथ ही राज्य का झुकाव किसी विशेष धर्म की ओर नहीं होना चाहिए। किसी धर्म विशेष को संरक्षण देने की बजाय राज्य सभी धर्मों के प्रति एक समान नीति का अनुपालन करें, क्योंकि भारत में अनेक धर्म संप्रदाय के लोग रहते हैं। लोगों पर अन्य धर्मों के विश्वास थोपना कलह का कारण हो सकता है इसलिए सभी को अपने धर्म का पालन करने की पूर्ण स्वतंत्रता देना राज्य का दायित्व है।

भौगोलिक एकता स्थापित करना

भौगोलिक एकता राष्ट्र निर्माण के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। भौगोलिक एकता के बिना मुख्य भूमि से कटे हुए और पर्वतीय क्षेत्रों के लोगों को राष्ट्रीय धारा से जोड़ना कठिन है। ऐसे क्षेत्रों को यातायात एवं संचार के साधनों से जोड़कर आवागमन की कठिनाइयों को दूर करना तथा उन्हें देश के विकसित नगरों या भागों से जोड़ना अखंडित राष्ट्र निर्माण के लक्ष्य को पूर्ण करने के लिए आवश्यक है।

संघीय ढांचा

भारत में स्वतंत्रता के समय अनेक राज्य थे। संविधान ने राज्यों को स्थानीय मामलों में पर्याप्त अधिकार प्रदान कर केंद्र की सत्ता को सर्वोपरिता से स्थापित करने लिए देश के संघीय ढांचे का प्रारूप स्वीकार किया है। इस तरह की रचना में अलग-अलग राज्यों को स्थानीय क्षेत्र के विकास का दायित्व सौंप दिया गया। संघीय ढांचे ने राज्यों को पर्याप्त स्वतंत्रता प्रदान की है।

आर्थिक प्रणाली

भारतीय संविधान के उद्देशिका में समाजवाद शब्द को शामिल किया गया। स्वतंत्रता के समय आर्थिक विषमता एवं असमान संपत्ति स्थिति से धनी एवं निर्धनों की स्थिति में अत्यधिक अंतर था। पूंजीवादी ब्रिटेन के चंगुल से स्वतंत्र होने के पश्चात समस्त भारतीय लोगों को समान आर्थिक अवसर देने हेतु राष्ट्र के रूप में भारतीय गणराज्य कटिबद्ध था।

टिप्पणी

सभी लोगों का देश के संसाधनों पर समान अधिकार होना चाहिए तथा पूंजीपतियों द्वारा श्रमिकों का शोषण न हो इसलिए सजग रहना जरूरी था। आर्थिक प्रणाली कोई भी हो किंतु वह बिना भेदभाव के समान अवसर देने वाली हो।

जातियों के संदर्भ में उचित भूमिका

वर्तमान काल में हमारे देश में 4000 से अधिक विभिन्न जातियां हैं जो जन्म से निर्धारित की जाती हैं। सजातीय विवाह (Endogamy) जाति व्यवस्था के प्रधान लक्षण माने जाते हैं। भारत में अनेक जाति समूह एक समान आर्थिक स्तर पर दिखाई पड़ते हैं। ये समूह इतिहास काल में हुए शोषण के कारण विकास की दौड़ में काफी पीछे रह गए। राज्य का यह उत्तरदायित्व है कि वह पिछड़ी जातियों को समान अवसर देकर उनका आर्थिक स्तर ऊंचा उठाए तथा अगड़ी एवं पिछड़ी जातियों में सामंजस्यपूर्ण स्थिति बनाए। स्वतंत्रतापूर्व काल तक भारत के जनमानस में छुआछूत की पैठ कई शताब्दियों से चली आ रही थी। यदि भारत एक राष्ट्र के रूप में प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर देने के लिए कटिबद्ध है तो अनिवार्यत: किसी भी जाति विशेष के व्यक्ति के साथ पक्षपातपूर्ण व्यवहार समाप्त कर छुआछूत जैसी अमानवीय प्रथाओं को प्रतिबंधित करना राज्य का प्रथम उद्देश्य था। इस दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाते हुए संविधान के द्वारा अस्पृश्यता की प्रथा को समाप्त करके इस तरह के भेदभाव को प्रोत्साहित करने वाले लोगों के लिए कठोर दंडविधान का प्रावधान किया गया है। पिछड़ी जाति एवं कबीले के लोगों को आरक्षण के आधार पर विकास की धारा में सम्मिलित करने की दिशा में प्रयास किया गया है। एकता, अखंडता एवं संप्रभुता के लिए समस्त संसाधनों को पूरी क्षमता से उपयोग में लाना आवश्यक है। जातिगत और सांप्रदायिक भेदभाव विद्यमान रहे तो राष्ट्रीय विकास में रुकावटें उत्पन्न हो सकती थीं, अत: एक राष्ट्र के रूप में भारत सरकार ने इस दिशा में पक्षपात रहित रवैया अपनाकर राज्यों के निर्माण पर बल दिया।

स्वतंत्रता के समय तक भारतीय समाज पश्चिम से उठे आधुनिक अर्थों के लोकतंत्रात्मक मूल्यों से अवगत नहीं था। ब्रिटिश शासन के तले भारत में जो व्यवस्था चलाई गई उसमें लोककल्याण का कोई तत्व कभी भी विद्यमान नहीं रहा था इसलिए कहने को उसमें भारतीय लोगों के प्रतिनिधियों की सहभागिता अवश्य दिखाई देती थी किंतु कुछ अपवादों को छोड़कर शेष सदस्य भारतीय लोगों के सच्चे प्रतिनिधि कभी नहीं रहे क्योंकि वे निर्वाचन की वजह से नियुक्त किए हुए होते तथा सदा गवर्नर जनरल के पक्ष में ही अपनी राय व्यक्त करते थे। गवर्नर जनरल के अधीन शक्ति संपन्न प्रशासकीय वर्ग ने व्यवस्थाओं के माध्यम से सदा ही दमनकारी नीति का पालन किया। ऐसे में ब्रिटिश शासन व्यवस्था का स्वरूप भारतीयों को कभी अपना नहीं लगा। ब्रिटेन के राजनीतिक दलों ने सदा ही भारतीय लोगों के हितों एवं विचारों की उपेक्षा ही की थी। विंस्टन चर्चिल ने ब्रिटेन के प्रधानमंत्री पद पर निर्वाचित होने के पश्चात कहा था कि वे भारत को स्वतंत्रता प्रदान कर ब्रिटिश साम्राज्य के विखंडन का भागीदार नहीं बनना चाहते। यदि ब्रिटिश भारत से चले गए तो उनके द्वारा भारत में निर्मित सारी लोकतांत्रिक प्रणालियां, न्यायपालिका, स्वास्थ्य सेवा तथा समस्त तंत्र नष्ट हो जाएंगे और हिंदुस्तान पुन: मध्य युग में लौट जाएगा। संक्षेप में चर्चिल का कथन था कि यदि अंग्रेज भारत से चले गए तो भारत में रक्तपात

टिप्पणी

और अराजकता का दौर आरंभ हो जाएगा। गवर्नर काउंसिल के एक सदस्य सर जॉन स्ट्रैची ने भी एक बार इसी प्रकार कहा था– "अतीत में भारतीय राष्ट्र नाम की कोई राजनीतिक इकाई कभी नहीं रही और निकट भविष्य में ऐसा होने की संभावना भी नहीं है।" इसी प्रकार गोरे लोगों का बोझ (White man's burden) सिद्धांत के प्रणेता रूडयार्ड किपलींग का मंतव्य था– "भारतीय लोग शासन करने में अयोग्य हैं।" नस्ली श्रेष्ठता एवं साम्राज्यवादी विचारधारा के कारण इस तरह के कथन स्वतंत्रता पूर्व कई अन्य अंग्रेजी विचारक भी व्यक्त करते थे। उनके कथनों का आधार भी उन्हें दिखाई देता था। भारतीय संस्कृति, धर्म, भाषा, जाति, सामाजिक भेदभाव, अंधश्रद्धा, कुरीतियां, क्षेत्रवाद एवं राष्ट्रीय चेतना के तत्व से अपरिचित समाज होने के कारण ही सतही तौर पर इस तरह के वक्तव्य दिए जाते थे।

स्वतंत्रता के 70 वर्ष उपरांत भी भारत न केवल अपने अस्तित्व को बनाए रहा अपितु विश्व में एक शक्ति के तौर पर उभरने का प्रयास भी कर रहा है। विश्व की एक नई शक्ति के रूप में उभर रहे राष्ट्र के रूप में भारतीय गणराज्य के अस्तित्व का श्रेय आरंभिक राष्ट्रवादी नेताओं की नीति को दिया जाना चाहिए। समानता के तत्व पर आस्था तथा भारतीय समाज की बुराइयों का सामना उन्होंने राजनीतिक कौशल से किया था।

द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरांत उपनिवेशओं के अंत (Decolonization) की प्रक्रिया तेज हो गई। वुड्रो विल्सन ने अपने आत्मनिर्णय के सिद्धांत (Self & determination) को व्यक्त करते समय कहा था– 'जनता की इच्छा का सम्मान करके ही विश्व में शांति की स्थापना संभव है और इसीलिए जनता के अधिकारों को मान्यता प्रदान करनी चाहिए।' उसी के आधार पर कई राष्ट्र अपनी स्वतंत्रता पाने के इच्छुक थे। अफ्रीका समेत कई देश जो पराधीन थे, वे भारत के स्वाधीनता आंदोलन को आशा भरी नजरों से निहार रहे थे। उन्हें विश्वास था कि जिन सिद्धांतों एवं मूल्यों की राजनीति के पथ पर चलते हुए भारत स्वाधीनता के बहुत निकट पहुंच चुका है, वही तत्व उनके राष्ट्र को स्वतंत्र कराएंगे। 1946 में ब्रिटिश प्रधानमंत्री मि. एटली ने घोषणा की कि वे किसी भी स्थिति में अगस्त 1947 से पूर्व भारत से निकल जाएंगे। सत्ता के हस्तांतरण की यह प्रक्रिया आरंभ होने के पश्चात भारत की नई राज्यव्यवस्था का स्वरूप किस तरह का हो? इसके विषय में राष्ट्रीय कांग्रेस सहित तत्कालीन भारत के अन्य दलों के अगुआ नेता राष्ट्र के रूप में भारत के संविधान की अनिवार्यता के लिए सहमत हो गए।

जुलाई 1946 में कैबिनेट मिशन की सूचना के अनुसार घटना समिति के सदस्यों का निर्वाचन कर सदस्यों की घटना समिति को निश्चित कर किया गया, जिसमें ब्रिटिश भारत के 292, संस्थानों के 93 तथा चीफ कमिश्नर प्रांत के 4 प्रतिनिधियों का समावेश कर 389 सदस्यों की समिति निर्मित की गई। भारतीय संविधान का निर्माण 1946 से 1949 के बीच किया गया। उस समय भारत से औपनिवेशिक शासन का अंत होकर सत्ता का हस्तांतरण होने की प्रक्रिया शुरू थी। 1946 में लॉर्ड वेवेल ने भारतीयों को अपना संविधान बनाने की अनुमति दे दी। संविधान सभा की पहली बैठक 9 दिसंबर, 1946 को हुई। उस सभा में ब्रिटिश भारत के प्रांतों से चुनकर आए सदस्यों के अलावा भारत के रजवाड़ों के सदस्य भी उपस्थित थे। सभा में अधिकांश सदस्य कांग्रेस पार्टी के थे।

विभिन्न राजनीतिक दलों के 389 सदस्यों की इस सभा में इंग्लैंड तथा अन्य देशों के कानूनी समझ वाले अनेक नेता चर्चा हेतु शामिल हुए। पं. जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभभाई पटेल, डॉ. राजेंद्र प्रसाद, कन्हैयालाल मुंशी, डॉ. राधाकृष्णन, डॉ. बी.आर. अंबेडकर में से समिति के अध्यक्ष रूप में डॉ. राजेंद्र प्रसाद की नियुक्ति हुई। भारतीय संविधान का प्रारूप डॉ. बी. आर. अंबेडकर की अध्यक्षता में गठित मसौदा समिति को सौंपा गया। संविधान सभा के समक्ष नवनिर्मित भारतीय गणराज्य की अनेक समस्याएं थीं, उन्हें ध्यान में रखकर संविधान द्वारा एक ऐसी राज्य व्यवस्था का प्रारूप तैयार करना अनिवार्य था, जिससे भविष्य में एक राष्ट्र के रूप में भारत की अखंडता एवं संपूर्ण संप्रभुता के लिए बाधा उत्पन्न न हो।

उस समय देश के विभाजन के साथ-साथ पाकिस्तान से विस्थापित लाखों शरणार्थियों की समस्या के अलावा अन्य प्रमुख समस्याएं थीं– लगभग 600 रजवाड़ों को भारत में सम्मिलित करना, मौजूदा भारतीय अर्थव्यवस्था को गति प्रदान करना, सामाजिक क्षेत्र में व्याप्त भेदभाव एवं छुआछूत जैसी अमानवीय प्रथाएं प्रतिबंधित करना, महिलाओं की स्थिति को सम्मानजनक बनाना और हिंदू-मुसलिम समुदायों में सौहार्द्र निर्माण करना। इन समस्याओं का निराकरण करने के लिए एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण आवश्यक माना गया, जिससे सभी भारतीयों के मन में अपने राष्ट्र के प्रति लगाव की भावना का संचार हो।

संविधान सभा में पंडित नेहरू के प्रथम भाषण द्वारा संविधान की उद्देशिका का प्रस्ताव रखा गया। इसके द्वारा भारत को स्वतंत्र संप्रभु गणराज्य घोषित कर सभी नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक एवं राजकीय अवसर की समानता, कानून के समक्ष समानता, अभिव्यक्ति विचार, धर्म, आस्था, विश्वास, रोजगार का आश्वासन तथा संगठन स्थापित करने की स्वतंत्रता प्रदान करने तथा इसके लिए उचित प्रयास करने की बात कही गई।

अपनी प्रगति जांचिए

3. भारत के संविधान को कब लागू किया गया था?

   (क) 1950 में (ख) 1947 में

   (ग) 1948 में (घ) 1949 में

4. भारत में 15 अगस्त और 26 जनवरी किन रूपों में मनाए जाते हैं?

   (क) धार्मिक त्योहारों के रूप में (ख) क्षेत्रीय उत्सवों रूप में

   (ग) अंतर्राष्ट्रीय मेलों के रूप में (घ) राष्ट्रीय त्योहारों के रूप में

5.4 निरंतरता एवं परिवर्तन

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के काल से ही राष्ट्रीय कांग्रेस ने सभी भारतीयों को समान रूप से एक राष्ट्र का प्रतिनिधि माना था। कांग्रेस की नीतियों के चलते भारत में एक पंथनिरपेक्ष तथा सौहार्दपूर्ण राजनीतिक दर्शन निर्माण हुआ जिसमें महात्मा गांधी के आदर्शों के साथ पंडित नेहरू की दूरदृष्टि भरे तत्व भी थे।

टिप्पणी

औपनिवेशिक शासन के अंत के पश्चात स्वाभाविक रूप में भारत की शासनव्यवस्था पर ब्रिटेन के लोकतंत्र की छाप पड़नी अनिवार्य थी। भारत ने ब्रिटेन के संसदीय लोकतंत्र के ढांचे के आधार पर भारत में एक नए राष्ट्रीय समाज के निर्माण का उद्देश्य तय किया। यूरोप के अन्य देशों में पुनर्जागरणकाल के दौरान निर्मित व्यक्तिवादी मूल्य, धर्मनिरपेक्षता, कल्याणकारी राज्य की कल्पना एवं समाजवादी आर्थिक व्यवस्था की नीति को भी अपनाया गया। समाजवाद के माध्यम से लोकतंत्र में अवसर की समानता प्रदान कर योजनाबद्ध तरीके से भारत की बड़ी आबादी की गरीबी तथा उसमें व्याप्त बेरोजगारी जैसी महत्वपूर्ण समस्याओं का समाधान करना ही आरंभिक उद्देश्य माने गए। संविधान सभा द्वारा 3 वर्ष के कठिन परिश्रम से संविधान तैयार किया गया। 395 धाराओं और 8 अनुच्छेदों के साथ भारतीय संविधान दुनिया का सबसे बड़ा लिखित संविधान है। 26 जनवरी, 1950 से यह लागू किया गया। भारत के संविधान में कई देशों के मूल्यों का समावेश किया गया। राष्ट्र को एक कल्याणकारी राज्य के रूप में स्वीकारा गया। रूस के आर्थिक समाजवाद की कल्पना, स्विट्जरलैंड के कैबिनेट मंत्रियों के प्रत्यक्ष जनता द्वारा किए जाने वाले निर्वाचन के तत्वों तथा अमेरिका के संघीय ढांचे के प्रारूप को स्वीकारा गया। इन सभी तत्वों के सम्मिश्रण से भारत के संविधान द्वारा निर्मित राज्यव्यवस्था का ढांचा तैयार हुआ है।

संसद और प्रांतीय विधानसभाओं के निचले सदन लोकसभा एवं विधानसभा के सदस्यों का चुनाव सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार के आधार पर कराने का निर्णय लिया गया। प्रांतीय विधायिकाओं में वरिष्ठ सदन के रूप में विधानपरिषद की निर्मिति की गई किंतु ऐसे राज्य भारत में 5 से अधिक नहीं है। राज्यसंस्था की यह रचना औपनिवेशिक शासन के संस्थागत ढांचे एवं भारत के राजनीतिक जीवन में विद्यमान राज्य के परंपरागत तत्वों के सम्मिश्रण द्वारा की गई। संसदीय व्यवस्था के रूप में इंग्लैंड की प्रतियोगी राजनीतिक दलीय व्यवस्था, निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा नियंत्रित शासन तथा कार्यपालिका द्वारा पारित नियमों के अमल हेतु सेना, पुलिस, अर्धसैनिक बल, नागरी प्रशासन का निर्माण कर प्रत्येक व्यक्ति एवं संगठन के हितों की रक्षा करना तथा संवैधानिक सीमाओं के दायरे में रहकर शासनव्यवस्था का संचालन करना आवश्यक था। राज्य का स्वरूप केवल संस्थाओं के निर्माण से निर्धारित नहीं किया जाता बल्कि उन संस्थाओं के प्रभावी कार्यान्वयन से सुनिश्चित होता है। यह सुनिश्चित करना आवश्यक था कि इन संस्थाओं में निहित सत्ता की शक्ति का प्रयोग तथा उसका निर्वहन भारतीय लोगों के लिए किस तरह से किया जाए? इसके लिए भारत की राज्यव्यवस्था में विद्यमान इन संस्थाओं के स्वरूप में समय-समय पर हुए परिवर्तनों का विश्लेषण करना आवश्यक है–

संसद

भारतीय संघात्मक विधानों में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिकाओं की स्थापना कर संसद को सर्वोच्च कार्यपालिका के रूप में मान्य किया गया। लोकतंत्र में विधि का राज्य होता है, जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि उसके निर्माता होते हैं। संघ राज्य के लिए विधिनिर्माण करने का अधिकार संसद को प्राप्त है। अंग्रेजी शासन के हाउस ऑफ कॉमन्स तथा हाउस ऑफ लॉर्ड्स की तर्ज पर भारत में राष्ट्रपति, लोकसभा व राज्यसभा को तीन प्रमुख घटकों के रूप में स्वीकारा गया। भारतीय संविधान में संघ राज की कल्पना को

स्वीकार कर केंद्र एवं राज्य शासन को पृथक अधिकार प्रदान किए गए किंतु संघराज्य संविधान लिखित होने के कारण उसके मूल प्रारूप में परिवर्तन करने का संसद को कोई अधिकार नहीं है। संविधान के पांचवें भाग में अनुच्छेद 122 के अनुसार भारतीय संसद का प्रावधान किया गया है। लोकसभा में लोक निर्वाचित प्रतिनिधियों तथा राज्यसभा में श्रेष्ठ पद प्राप्त संघ राज्य के घटकराज्य और केंद्रशासित प्रदेश के प्रतिनिधियों का प्रतिनिधित्व है। संविधान के अनुच्छेद 19 से 92 द्वारा राज्यसभा की रचना और उसके स्वरूप का प्रावधान सुनिश्चित किया गया है। भारत के विधि निर्माण और सरकारी नीतियों के क्रियान्वयन से जनता के प्रति सरकार को उत्तरदायी बनाने तथा प्रशासकीय कार्यों के संपादन का निरीक्षण करने जैसे कार्य संसद में किए जाते हैं। संसद के पहले सदस्य राष्ट्रीय आंदोलन के वरिष्ठ नेता थे, जिन्हें भारत एवं पश्चिम के मूल्यों का पर्याप्त अनुभव था। इन सदस्यों में वकील भी थे जो कानूनी प्रक्रिया की भाषा की समझ तथा तर्कसंगत विवाद की क्षमता रखते थे।

स्वतंत्रता के आरंभिक वर्षों में भारतीय संसद सार्वजनिक उत्तरदायित्व के उच्च मापदंडों को स्थापित कर प्रभावशाली भूमिका निभाने में सफल रही। संसद की गरिमा को बनाये रखने तथा स्वस्थ संसदीय परंपराओं का निर्माण कर उनकी शक्ति एवं क्षमता में बढ़ोतरी से कार्यपालिका के अधिकारों में निरंतर वृद्धि हुई है। किंतु पिछले कुछ दशकों में संसद के कार्य की अवधि में कमी आई है तथा वाद-विवाद का स्तर भी गिरा है। प्रधानमंत्रीपद का कद बढ़कर अधिनायकवादी प्रवृत्ति उत्पन्न हुई है। अध्यादेशों की बढ़ती संख्या तथा संसद के सभापति, उप-सभापति जैसे गौरवान्वित पदों पर विभूषित व्यक्तियों के दलगत चरित्र उभर कर सामने आने से समस्याएं बढ़ रही हैं। राष्ट्र के समक्ष उपस्थित महत्वपूर्ण विषयों पर चर्चाओं की जगह जनरंजन की राजनीति से जुड़े भावना प्रधान विषय उपस्थित कर संसद का समय व्यर्थ में गंवाए जाने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। संसदीय परंपराओं में राष्ट्रपति, राज्यसभा एवं लोकसभा में आपसी समन्वय होना अनिवार्य है किंतु कुछ दशकों से यह परंपरा बाधित हो रही है। राष्ट्रपति एवं राज्यसभा के पास लोकसभा द्वारा पारित अधिनियमों पर मान्यता जताने से अधिक कोई अधिकार नहीं रहे। प्रधानमंत्री को मंत्रिमंडल से ज्यादा सर्वोच्च अधिकार प्राप्त होते जा रहे हैं जिसके कारण संसदीय परंपराओं में बाधा उत्पन्न हो रही है। इसलिए संसदीय प्रणाली में सुधार की आवश्यकता है।

दलीय प्रणाली का स्वरूप

लोकतंत्र में राजनीतिक दलों का रहना अपरिहार्य है। स्वस्थ लोकतंत्र के लिए उनका अस्तित्व आवश्यक है। उन्हें शासन का महत्वपूर्ण अंग माना जाता है। एकदलीय प्रणाली में व्यक्ति द्वारा सत्ता को अपने अधीन कर तानाशाह बनने का भय होता है। चीन, क्यूबा, युगोस्लाविया व पूर्व सोवियत संघ के उदाहरण हमारे सम्मुख हैं, इसीलिए स्वस्थ लोकतंत्र हेतु बहुदलीय प्रणाली को ही आवश्यक माना गया है। मुनरो का कथन है कि लोकतंत्रात्मक शासन दलगत शासन का ही दूसरा नाम है। वर्तमान विश्व में कुछ अपवादों को छोड़कर शेष समस्त देशों में ऐसी कोई स्वतंत्र सरकार नहीं है जहां राजनीतिक दलों का अस्तित्व न हो। भारतीय लोकतंत्र में बहुदलीय प्रणाली को स्वीकारा गया है। राजनीतिक दल लोकमत के निर्माण तथा अभिव्यक्ति के सर्वोत्तम प्रतिनिधि माने जाते हैं।

टिप्पणी

प्रोफेसर लास्की की शब्दों में, 'राजनीतिक दल देश में अधिनायकवाद से हमारी रक्षा करने में सर्वश्रेष्ठ कवच हैं।' एडमंड वर्क का कहना है कि राजनीतिक दल ऐसे लोगों का समूह है जो किसी विशेष सिद्धांतों पर सहमत हो कर संयुक्त प्रयासों द्वारा संवैधानिक रूप में जनहित को आगे बढ़ाने के लिए संगठित रहते हैं। 1977 तक भारत में एक ही पक्ष का शासन दिखाई देता था। सरकार यदि क्रमशः किसी एक ही दल की आसीन होती रही तो इसे स्वस्थ लोकतंत्र नहीं माना जा सकता। भारत में यह परंपरा 1977 के बाद खंडित हुई और संसद में अनेक दलों द्वारा निर्मित गठबंधन सरकार कार्यरत रही। 1979 से 2009 तक के 30 वर्षों के शासनकाल में भारत में गठबंधन सरकारों का अस्तित्व निरंतर बना रहा। इन सरकारों द्वारा जनता के हितों की बजाय अपने-अपने दल के हितों की राजनीति करने से सरकार की कार्यपद्धति पर विपरीत प्रभाव पड़ा। कार्यपालिका की विफलता से शासन में नौकरशाही का हस्तक्षेप बढ़ता चला गया। दलों द्वारा अपनी विचारधाराओं के अनुरूप ही कार्य करने के प्रयासों में लगे होने से उनमें समन्वय स्थापित करना कठिन हो जाता है। विश्वनाथ प्रताप सिंह, चंद्रशेखर, इंद्रकुमार गुजराल, एच.डी. देवगौड़ा, अटलबिहारी बाजपेई और मनमोहन सिंह द्वारा स्थापित सरकारें गठबंधन की रही हैं। भारत में अनेक राजनीतिक दल हैं लेकिन राष्ट्रीय कांग्रेस और भारतीय जनता पार्टी व कमुनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया को छोड़कर शेष दल क्षेत्रीय ही बने रहे। इसलिए आज 70 वर्षों के पश्चात भी भारतीय लोकतंत्र में दो से अधिक दल प्रभावशाली नहीं हो पाए। क्षेत्रीय दलों की संकीर्ण निष्ठाएं उन्हें राष्ट्रीय रूप में स्वीकार्य नहीं बना सकतीं फिर भी बहुदलीय व्यवस्था ने भारतीय समाज में लोकतांत्रिक आधार को और अधिक व्यापक करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाहन किया है।

विपक्ष की भूमिका

संसदीय लोकतंत्र में जागरूक, सिद्धांतवादी तथा जनता के प्रति उत्तरदायित्वों को समझकर चलने वाला विपक्ष अत्यंत आवश्यक है। विपक्ष सरकार के अहितकारी निर्णयों पर अंकुश रखता है तथा जनता को सरकारी नीतियों के प्रति सचेत भी करता है। नेहरू युग (1950-1964) की समाप्ति तक संसद द्वारा जनभावनाओं को राजनीतिक स्वार्थ से अधिक सम्मान मिलता रहा तथा सरकार द्वारा सदन में प्रस्तुत किए गए प्रस्तावों में विपक्ष के सुझावों का सम्मान किया जाता था परंतु अब मतभेद के स्थान पर राजनीतिक स्वार्थ अधिक प्रभावी होने लगे तथा संसदीय चर्चाओं का स्तर भी गिरा है। क्षेत्रवाद की प्रवृत्ति उभरने से क्षेत्रीय दलों को और अधिक बल मिलता चला गया। अधिकांश दलों में अधिनायकवादी प्रवृत्तियां भी उभरी हैं। विश्वनाथ प्रतापसिंह की सरकार के पश्चात अनेक राजनीतिक दलों के सदस्यों की निष्ठाएं सिद्धांतों की बजाय स्वार्थपूर्ति से संबंधित हो गईं जिससे अवसरवादी राजनीति का चलन बढ़ गया। निरंतर दलबदल ने विपक्षी दलों की शक्ति को कमजोर किया तथा राजनीतिक अस्थायित्व को भी जन्म दिया। 1985 में इसकी रोकथाम हेतु 52वें संविधान संशोधन द्वारा दलबदल पर प्रतिबंध लगाया गया। लेकिन उसके बाद के वर्षों में कई सदस्य एक गुट के रूप में किसी पार्टी से अलग निर्दलीय गुट बनाकर सत्ता प्राप्ति के लिए राजनीतिक भ्रष्टाचार का कारण बनाने लगे हैं। इस प्रवृत्ति को नियंत्रित करने के लिए 2003 में एक कठोर कानून पारित किया गया, फिर भी इस अवसरवादी प्रवृत्ति को अभी तक रोका नहीं जा सका है। जनता की भावनाओं का सम्मान

करना प्रत्येक नेता एवं दल कि लिए आवश्यक है, किंतु स्वार्थवश कई नेताओं द्वारा जनमतों की उपेक्षा करने के अनेक उदाहरण आज भी देखे जा सकते हैं। इस कारण भारत के छोटे दलों पर से जनता का विश्वास उठ रहा है। विपक्षी दलों के शक्तिक्षय का केवल यही एकमात्र कारण नहीं है। उनके द्वारा जनता के हितों को समक्ष रखकर योजनाबद्ध कार्यक्रमों तथा कुशल नेतृत्व का अभाव भी उनकी विफलता का कारण है। वर्तमान में अनेक दलों के अस्तित्व के बावजूद भारत का राजनीतिक द्वंद्व केवल कांग्रेस और भारतीय जनता पार्टी के बीच ही शेष है।

मंत्रिमंडल

जनता द्वारा निर्वाचित दल द्वारा प्रधानमंत्री पद के साथ ही मंत्रिमंडल का गठन भी किया जाता है। मंत्रिमंडल के सदस्यों से यह आशा की जाती वे अपने पदों की गरिमा और गोपनीयता को कायम रखें साथ ही सामूहिक उत्तरदायित्व का तत्व इस प्रणाली में निहित होता है। भारत में कुछ माननीय व्यक्तियों को छोड़कर काफी कम ऐसे व्यक्ति रहे, जिन्होंने मंत्रियों के रूप में स्वतंत्र तथा सराहनीय कार्य किया हो। आरंभ से ही राष्ट्रीय राजनीति प्रधानमंत्रीपद के व्यक्तित्व के इर्द-गिर्द ही घूमती रही। इस कारणवश मंत्रियों के स्वतंत्रता से कार्य करने में अवरोध उत्पन्न होते रहते हैं।

न्यायपालिका

ब्रिटिश सरकार ने 1861 में एक अधिनियम पारित कर भारत में बंबई, कलकत्ता, मद्रास, लाहौर, इलाहाबाद और पटना में उच्च न्यायालयों की स्थापना की थी। यदि किसी को उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध अपील करनी होती तो उसे इंग्लैंड के प्रिव्ही काउंसिल जाना पड़ता। 1935 के भारत सरकार प्रशासकीय अधिनियम से फेडरल कोर्ट ऑफ इंडिया की स्थापना की गई। स्वतंत्रता के पश्चात 1950 में भारतीय संविधान के अंतर्गत फेडरल कोर्ट ऑफ इंडिया के स्थान पर सुप्रीम कोर्ट की स्थापना की गई।

भारतीय संघराज्य में न्यायपालिका एकात्म स्वरूप की है। सर्वोच्च न्यायालय तथा उसके अधीन प्रांतीय स्तर पर उच्च न्यायालयों तथा कनिष्ठ स्तर के न्यायालयों की एक शृंखला तैयार की गई है। भारतीय संविधान के पांचवें और छठवें विभाग के अनुच्छेद 124, 146 तथा 214 से 237 में न्यायदान व्यवस्था का प्रावधान किया गया है। संवैधानिक दायरे के भीतर राज्यव्यवस्था में संसद को कानून निर्माण करने का अधिकार प्राप्त है। किंतु केंद्र और राज्य के संबंध निश्चित करने तथा नागरिकों के संविधान प्रदत्त अधिकारों की सुरक्षा को सुनिश्चित करने का कार्यभार भी न्यायपालिका को ही सौंपा गया।

सत्ता संतुलन के तत्व का अनुपालन करते हुए संविधान निर्माताओं ने भारतीय संघ राज्य में न्यायपालिका को पृथक दर्जा दिया है। हालांकि सर्वोच्च न्यायाधीश की नियुक्ति राष्ट्रपति करते हैं किंतु संसद महाभियोग प्रक्रिया द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश को अपदस्थ किया जा सकता है। इस वजह से कार्यपालिका और न्यायपालिका में सत्ता के संतुलन के तत्व को सुनिश्चित किया गया है। संघीय प्रणाली में निष्पक्ष न्यायपालिका एक अनिवार्य अंग है। 1973 में तत्कालीन न्यायमूर्ति श्री सीकरी ने स्पष्ट तौर पर कहा था कि संसद को संविधान के मूल प्रारूप में बदलाव लाने का कोई अधिकार नहीं है। उनकी यह भूमिका उस समय काफी चर्चित रही। संवैधानिक कानूनों की सुस्पष्ट व्याख्या करने,

केंद्र और राज्य के बीच समन्वय स्थापित कर संघराज्य ढांचे को कायम रखने तथा सार्वजनिक क्षेत्र से संबंधित गंभीर और जटिल कानूनी मुद्दों पर राष्ट्रपति को परामर्श देने का कार्य भी सर्वोच्च न्यायालय समय-समय पर करता रहता है।

टिप्पणी

केंद्रीय कार्यपालिका की स्वेच्छाचारी नीति व नागरिकों के मौलिक अधिकारों की सुरक्षा के संबंध में विगत 70 वर्षों में सर्वोच्च न्यायालय के अधीन न्यायव्यवस्था ने भारत में प्रशंसनीय कार्य किया है। वर्तमान समय में सर्वोच्च न्यायालय तथा कार्यपालिका के बीच न्यायिक सर्वोच्चता को लेकर काफी गहरे मतभेद उत्पन्न हुए हैं। 1985 से 2009 तक की सरकारों के कार्यकाल के दौरान कई आर्थिक घोटाले हुए। इन घोटालों में न केवल बड़े उद्योगपति अपितु केंद्रीय सरकार के कैबिनेट मंत्री तथा नौकरशाही के कई वरिष्ठ अधिकारी भी लिप्त पाए गए। इन आर्थिक घोटालों से अर्थव्यवस्था पर विपरीत प्रभाव पड़ते हैं। इस क्षेत्र में न्यायालय ने काफी सक्रियता से अपनी भूमिका का निर्वहन किया है।

वयस्क मताधिकार

मताधिकार आधारित चुनावी प्रक्रिया को लोकतंत्र का आधारस्तंभ माना जाता है। इस प्रक्रिया का आरंभ अंग्रेजों के शासन काल से ही हो चुका था। स्वतंत्रता के पश्चात भारतीय नागरिकों को बिना किसी भेदभाव के ये अधिकार प्राप्त हो गए। लोकतंत्र में जनता की सहभागिता अनिवार्य है। उसके द्वारा निर्वाचित किए हुए प्रतिनिधियों से ही सरकार अस्तित्व में आती है। संसद में लोकसभा तथा राज्य विधायिकाओं में विधानसभा के सदनों के सदस्य प्रत्यक्ष चुनाव द्वारा निर्वाचित किए जाते हैं। चुनाव के निरीक्षण, निर्देशन एवं नियंत्रण की शक्तियां चुनाव आयोग को दी गई हैं। देश में निष्पक्ष एवं स्वतंत्र चुनाव का दायित्व चुनाव आयोग को सौंपा गया है। मतदाता सूची तैयार करने, दलों को चुनाव चिह्न प्रदान करने तथा चुनाव व्यवस्था का प्रबंधन एवं नियमन करने के समस्त अधिकार चुनाव आयोग को प्रदान किए गए हैं। टी. एन. शेषन के काल में चुनाव आयोग की शक्तियों से भारतीय भली-भांति परिचित हुए। निर्वाचन के समय तक शांति एवं व्यवस्था को कायम रखने के लिए संपूर्ण प्रशासन चुनाव आयोग के निर्देशन में ही कार्यरत रहता है। 1972 में संसद की एक संयुक्त समिति ने कुछ मुख्य सुझाव दिए थे, उनमें बहुसदस्यीय निर्वाचन आयोग की स्थापना को लेकर एक महत्वपूर्ण सुझाव दिया गया था। 1975 में 8 राजनीतिक दलों ने तत्कालीन प्रधानमंत्री को एक ज्ञापन सौंपकर 3 सदस्यीय चुनाव आयोग की समिति गठित करने का आग्रह किया था।

पिछले 30 वर्षों से चुनाव आयोग ने काफी सक्रियता से अपने अधिकारों का प्रयोग किया है। चुनाव प्रक्रिया के दौरान धन, बाहुबल तथा हिंसा की आशंका कुछ राज्यों में सदा बनी रहती है। इसलिए एक आदर्श आचारसंहिता का निर्माण कर उम्मीदवार तथा मतदाताओं को उनका पालन करने के लिए बाध्य करना आयोग के अधिकारों का ही हिस्सा है। चुनाव में धन की बढ़ती भूमिका और राजनीतिक दल के उम्मीदवारों की आय-व्यय की जांच करने का अधिकार चुनाव आयोग को ही है।

नौकरशाही

नौकरशाही का आरंभ औपनिवेशिक शासन से हुआ है। अंग्रेजों के काल में आईसीएस की प्रतियोगी परीक्षाओं के द्वारा नियुक्त अधिकारियों के अधीन पूरे जिले का प्रशासनिक ढांचा

होता था। आरंभ से ही ब्रिटिश अधिकारियों ने भारतीय जनकल्याण के हितों के बजाय ब्रिटेन के आर्थिक हितों का ध्यान रखा। इसके चलते उन्होंने प्रशासन को ब्रिटिश संसद प्रदत्त शक्ति से संचालित कर भारतीय व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक पहलू को अपने नियंत्रण में ले लिया था। स्वतंत्रता के पश्चात आईसीएस परीक्षाएं आईएएस कहलाने लगीं तथा संघ लोकसेवा आयोग और राज्य लोकसेवा आयोग के द्वारा आयोजित प्रतियोगी परीक्षाओं के माध्यम से अधिकारियों के चयन की प्रक्रिया को शुरू किया गया। कार्यपालिका द्वारा पारित अधिनियम को अमल में लाने का कार्य नौकरशाही के माध्यम से किया जाता है। नौकरशाहों से यह आशा की जाती है कि वे संवैधानिक आदर्शों के प्रति प्रतिबद्ध हों किंतु वास्तविकता में यदि वे राजनीतिक दल एवं राजनेता के निष्ठावान हुए तो उनसे जनता का हित असाध्य होगा। भारतीय प्रशासन में सेवारत रहे कई वरिष्ठ अधिकारी अवकाश प्राप्ति के बाद राजनीतिक दलों से जुड़े। उदाहरणस्वरूप भारत के पूर्व वित्तमंत्री यशवंत सिन्हा 1960 बैच के आईएएस अधिकारी रह चुके हैं। तमिलनाडु की वी.एस. चंद्रलेखा 1971 के बैच की आईएएस अधिकारी रह चुकी थीं। वे 1992 में त्यागपत्र देकर जनता पार्टी में शामिल हो गईं। वर्तमान समय में वे भारतीय जनता पार्टी के सुब्रमण्यम स्वामी की काफी करीबी मानी जाती हैं। ऐसे अनेक उदाहरण अन्य राज्यों से भी दिए जा सकते हैं। इन अधिकारियों की निष्ठा आरंभ से ही उच्च वर्ग से जुड़ी होती है, जिसके कारण निष्पक्ष रूप से प्रशासनिक कार्य करना कठिन हो जाता है। कुछ समाजशास्त्रियों ने इसका कारण बताते हुए स्पष्ट किया है कि भारत की प्रशासनिक सेवाओं के अधिकांश अधिकारी मुख्यत: शहरी भागों से चयनित होते हैं। वे ग्रामीण जनता की समस्याओं से पूरी तरह अनभिज्ञ होते हैं। वे मुख्य रूप से अभिजात वर्गों से संबंधित होते हैं। इन पदों पर चयनित उम्मीदवारों के प्रशिक्षण में वे सामान्य जनता की बजाय उच्च वर्ग से अधिक जल्दी जुड़ जाते हैं। ऐसी स्थिति में सामान्य जनता के हितों का संवर्धन होना असंभव हो जाता है। किंतु अब सामान्य वर्गों के विद्यार्थी भी कठोर परिश्रम द्वारा इन सेवाओं में वरीयता प्राप्त करते हैं तथा वर्तमान में ऐसे कई अधिकारी हैं जो संविधान के आदर्शों के अनुसार ही अपने अधिकारों का प्रयोग करते हैं। यही अधिकारी नीति निर्माण, उसके क्रियान्वयन और बजट निर्माण जैसे महत्वपूर्ण विषयों पर सलाहकार की भूमिका में सहभागी होते हैं।

संघीय ढांचा

भारत में संघराज्य की प्रणाली को स्वीकार किया गया है। कार्यों के संचालन हेतु प्रांतों का निर्माण किया गया है। संविधान द्वारा संघराज्य एवं घटक राज्यों में तीन सूचियों के अंतर्गत अधिकारों का बंटवारा किया गया है। केंद्र सूची में 97, राज्यसूची में 66 तथा समवर्ती सूची में 47 विषयों का बंटवारा किया गया है। वर्तमान में राष्ट्र में तेलंगाना को मिलाकर 29 घटक राज्य और 6 केंद्र शासित प्रदेश संघ राज्य का हिस्सा बने हुए हैं। दिल्ली को राजधानी का दर्जा प्राप्त है। इस प्रकार के क्षेत्रीय बंटवारे से तथा अधिकारों के विभाजन से केंद्र एवं राज्यों में एक प्रकार का समन्वय स्थापित होता है। अधिकारों के आवंटन के कारण दोनों सरकारों में संघर्ष निर्माण नहीं होता। यदि समवर्ती सूची के किसी विषय पर मतभेद उत्पन्न हो जाए तो उसमें केंद्र का मत सर्वोपरि है। इस प्रकार से संघराज्य शासनप्रणाली में केंद्र को अधिक अधिकार प्रदान किए गए हैं। संघीय ढांचे की प्रणाली

टिप्पणी

भारत ने अमेरिका से ली है। इसमें भारतीय संघ राज्य के प्रमुख के रूप में राष्ट्रपति संवैधानिक प्रमुख माने जाते हैं। घटक राज्यों के राज्यपाल उन्हीं के निर्देशन में कार्यरत रहते हैं किंतु भारतीय राष्ट्रपति अमेरिका की तरह वास्तविक शासनप्रमुख नहीं हैं। भारत में प्रधानमंत्री एवं मंत्रिमंडल ही वास्तव में शासनप्रमुख माने जाते हैं। भारत के राष्ट्रपति फ्रांस के राष्ट्रपति की तरह ही नामधारी हैं। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 52 से 58 के बीच राष्ट्रपति पद का प्रावधान किया गया है। अब तक भारत में राष्ट्रपति पद को 14 माननीय व्यक्तियों ने विभूषित किया है। यदि किसी राज्य में अराजकता की परिस्थिति निर्मित हो जाए तो संविधान के अनुच्छेद 356 के तहत उस राज्य का नियंत्रण राष्ट्रपति के हाथों में आ जाता है। 1951 में सर्वप्रथम पंजाब में इस प्रकार का राष्ट्रपति शासन लागू किया गया था। 1994 में कर्नाटक की सरकार को बर्खास्त कर वहां राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया था। राष्ट्र के हित एवं लोकतंत्र के विकास की दृष्टि से राष्ट्रपति को अपने विवेक के अनुसार निर्णय लेना होता है।

समाचारपत्र एवं जनसंचार माध्यम

स्वतंत्रता आंदोलन के समय से भारत में राजनीतिक जागरूकता बढ़ाने हेतु तथा लोगों में राष्ट्रवादी भावनाओं का प्रचार करने के लिए राष्ट्रवादी नेताओं ने समाचारपत्रों का चतुराई से उपयोग किया। किसी भी उदार लोकतंत्र की मजबूती के लिए प्रेस की स्वतंत्र एवं निष्पक्ष भूमिका का होना अनिवार्य है। संविधान ने प्रेस एवं नागरिकों की स्वतंत्रता को अनुच्छेद 19 (1) द्वारा मान्यता प्रदान की है। जनमत से उपजे प्रश्नों को उठाना और सरकार की गलत नीतियों को उजागर कर निष्पक्ष रूप से जनता के सम्मुख रखने का कार्य समाचारपत्रों का है। इन उत्तरदायित्वों के महत्व के आधार पर ही प्रेस (Media) को लोकतंत्र का चतुर्थ स्तंभ भी कहा गया है। स्वतंत्र भारत में आपातकाल (1975 से 77)की अल्पावधि को छोड़कर प्रेस पर कभी कोई प्रतिबंध नहीं लगाए गए हैं– सेंसरशिप के माध्यम से आपातकाल में तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने उसे सरकारी नियंत्रण के अधीन ले लिया था। मूलत: प्रेस से निष्पक्ष बातों की अपेक्षा हर व्यक्ति को होती है। भारत के प्रेस ने इस भूमिका का एक सीमा तक निर्वाहन भी किया है। राजीव गांधी तथा पी. वी. नरसिंह राव के काल के बोफोर्स समेत अन्य घोटालों को उजागर करने का कार्य करके एक्सप्रेस समूह ने अपनी निष्पक्षता का परिचय दिया था। वर्तमान में यदि हम देखें तो अनेक राजनीतिक दलों ने अपने मुखपत्र के रूप में समाचारपत्र जारी किए हैं। उनके माध्यम से केवल अपने दल की प्रशंसा ही की जाती है तथा विपक्ष पर लक्ष्य साधा जाता है। निष्पक्ष समाचारपत्रों की अनिवार्यता हमारे लोकतंत्र के सामने एक चुनौती बनी हुई है।

सेना एवं पुलिस

देश की रक्षा व शांति की बहाली करने का कार्य सेना व पुलिस बलों को सौंपा गया है। औपनिवेशिक काल में ये दल राज्य की दमनकारी शक्ति का प्रतीक थे परंतु स्वतंत्रता के पश्चात भारत सरकार के प्रयासों से इनमें न केवल परिवर्तन किए गए बल्कि इनका विस्तार भी किया गया। भारतीय सेना विश्व की बड़ी सेनाओं में से एक मानी जाती है। भारतीय पुलिस प्रशासन में भी काफी वृद्धि की गई है। नागरिकों के संविधान प्रदत्त मौलिक अधिकारों की रक्षा करने तथा राष्ट्र में शांति बहाली करने के लिए सेना और

पुलिस बल अनिवार्य हैं, इसलिए यह आवश्यक है कि इन दोनों दलों की छवि पक्षपात रहित हो।

भारत में सेना एवं पुलिस पर समय-समय पर बर्बरता, भ्रष्टाचार एवं पक्षपात के आरोप लगते रहे हैं। सत्तारूढ़ दल तथा स्थानीय राजनीति की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए न्यायिक पक्ष को नजरअंदाज करते हुए नेताओं द्वारा पुलिस प्रशासन में हस्तक्षेप करने की प्रवृत्ति को बल मिला है। इस प्रकार के निरंतर राजनीतिक हस्तक्षेप से पुलिस दल की प्रभावोत्पादकता में कमी आई है। शीर्षपद को प्राप्त करने के लिए अधिकारी राजनीतिक दलों की चाटुकारिता में लगे रहते हैं, ऐसे में उनसे निष्पक्ष प्रशासन की आशा कैसे की जाए?

भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका

मानवतावादी दृष्टिकोण एवं सामाजिक चेतना के चलते भारत में जाति निरपेक्ष समाज बनाने की दिशा में शासन की ओर से पर्याप्त प्रयास किए गए। अंतरजातीय विवाह को शासन की ओर से प्रोत्साहित करने का कार्य किया गया है किंतु आज भी भारत के अनेक क्षेत्रों में फैली हुई जाति पंचायतों का प्रभाव स्पष्ट रूप से राजनीति पर पड़ता दिखाई देता है। हेराल्ड गोल्ड के अनुसार, 'राजनीति का आधार होने की बजाय जाति उस को प्रभावित करने वाला एक तत्व है।'

विख्यात समाजशास्त्री प्रोफेसर एम एन श्रीनिवासन ने प्रभावी जातियों की संकल्पना स्पष्ट की है। उनका मानना है, 'संख्या की दृष्टि से बड़ी-बड़ी जातियां जिला और राज्य तथा स्थानीय स्तर पर राजनीतिक दबाव वाले गुट बन गई हैं।' भारतीय राज्य व्यवस्था के निर्धारक तत्वों में जाति सबसे प्रमुख भूमिका अदा करती है। उत्तर से दक्षिण तक विभिन्न क्षेत्रों की प्रभावी जातियां ही दरअसल वहां की मौजूदा सरकार निर्वाचित कर उन्हें अपने नियंत्रण में भी रखती हैं। राजनीतिक दलों द्वारा चुनाव के समय अपना उम्मीदवार घोषित करने की प्रक्रियाओं में क्षेत्र विशेष की जाति बहुलता को अवश्य ध्यान में रखा जाता है। राजनीति में जाति के महत्व को कम नहीं आंका जा सकता। भारतीय राज्यव्यवस्था में जातियां ही शक्ति का पुंज हैं, उनके असर को अनदेखा नहीं किया जा सकता।

धर्म और सांप्रदायिकता

भारत में हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, जैन, बौद्ध, पारसी तथा अन्य धर्मों के अनुयाई विद्यमान हैं। भारतीय संविधान में यद्यपि प्रत्येक धर्म को सम्मान दिया गया है तथापि राज्य का कोई धर्म नहीं होता। एक धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना की कटिबद्धता को संविधान की उद्देशिका में सम्मिलित किया गया है। धर्मनिरपेक्षता का अर्थ धर्म विरोधी नहीं होता है। प्रत्येक नागरिक को मौलिक अधिकारों के अंतर्गत अपने धर्म का पालन करने की स्वतंत्रता एवं उपासना का अधिकार प्राप्त है। देश के विभाजन के समय भड़के दंगों के कारण हिंदू एवं मुस्लिम समुदायों के बीच संबंधों में आई कटुता को कम करने के लिए राष्ट्रवादी नेताओं ने भारत में पश्चिम के धर्मनिरपेक्ष मूल्यों के प्रारूप को अपनाकर भाईचारा स्थापित करने के लिए जनता को सदैव प्रेरित किया। धार्मिक आधार पर समाज के ध्रुवीकरण (Polarization)का एक पक्ष भारतीय राजनीतिक चरित्र के रूप में उभर कर सामने आया है। यद्यपि शासन का कोई धर्म नहीं है किंतु वर्तमान समय में धर्म ही राजनीति के केंद्रबिंदु के रूप में प्रकट हो रहा है। भारत में सांप्रदायिक इतिहास की

विचारधाराओं के लेखन में मध्ययुग के अनेक मुस्लिम शासकों के काल को हिंदुओं पर हुए अत्याचार के काल के रूप में दर्शाया गया है। रामशरण शर्मा, हरबंस मुखिया तथा अन्य विख्यात इतिहासकारों ने इस सांप्रदायिक इतिहास की बजाय प्रमाणों के आधार पर प्रतिबिंबित तर्कसंगत इतिहास को वस्तुनिष्ठ रूप में लिखने का यत्न किया है। भारतीय राजनीति में सांप्रदायिकता का तत्व काफी गहरी जड़ें जमा चुका है। समुदाय विशेष के किसी शासक या कुछ व्यक्तियों के अनुचित कार्यों की वजह से संपूर्ण समाज को दोषी मानना सर्वथा असंगत है। जब 31 अक्टूबर, 1984 को प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी की हत्या हुई तो हत्यारों के धर्म को ध्यान में रखकर दिल्ली में भड़की हिंसा ने पूरे सिक्ख समुदाय के लोगों को लक्ष्य किया। बाबरी मस्जिद के पतन के उपरांत भड़के दंगों ने हिंदू –मुस्लिम समुदाय के बीच बढ़ती खाई को और बढ़ा दिया। राजनीतिक लाभ के चलते धर्म एवं समुदायों में उत्पन्न सौहार्द की भावना को समाप्त कर धर्म विशेष के लोगों का ध्रुवीकरण करना वर्तमान भारतीय राजनीति का चिंताजनक पहलू है।

मिश्रित अर्थव्यवस्था का तत्व

भारत ने समाजवादी आर्थिक ढांचे को अर्थव्यवस्था का मुख्य तत्व माना है, किंतु व्यवहार में मिश्रित अर्थव्यवस्था के प्रारूप को अपनाया है। इस मिश्रित अर्थव्यवस्था के नियोजन में केंद्र की भूमिका आरंभ से ही प्रमुख रही है। योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था द्वारा आर्थिक विकास के ढांचे को मजबूत करने के लिए 15 मार्च, 1950 को योजना आयोग की स्थापना (Planning Commission) की गई। उसके 12 सुझावों के आधार पर 1951 से 1956 तक प्रथम पंचवर्षीय योजना लागू की गई। इसका प्रमुख उद्देश्य उस समय की देश की आर्थिक विषमता को समाप्त कर समस्त वर्गों के संतुलित आर्थिक विकास की प्रक्रिया को आरंभ करना था।

राष्ट्रीय आंदोलन के समय भारतीय पूंजीपतियों के वर्ग ने न केवल उसे समर्थन दिया बल्कि आर्थिक सहायता भी प्रदान करते रहे, इसीलिए सार्वजनिक क्षेत्र में भूमि सुधार, बैंकों के राष्ट्रीयकरण जैसे तत्वों के साथ ही उत्पादन पर निजी पूंजीपतियों का स्वामित्व भी मान्य किया गया। इस प्रकार की मिश्रित अर्थव्यवस्था में श्रमिक वर्ग, जमींदार, पूंजीपति तथा आमजनों के समन्वय एवं सद्भाव की भावना को स्थान दिया गया।

आज निजी निगम क्षेत्र में देश की अधिकांश संपत्ति पर देश के 70 से 75 औद्योगिक घरानों का प्रभुत्व प्रस्थापित है जिसके कारण आर्थिक शक्ति का संकेंद्रण लगातार बढ़ता ही जा रहा है। राज्य की ओर से इस पर नियंत्रण करने दिशा में ठोस प्रयास का अभाव है। अर्थव्यवस्था पर राज्य की सर्वोच्चता का तत्व समाप्त होता नजर आ रहा है।

यद्यपि भारत ने संघीय ढांचे को स्वीकारा है फिर भी आर्थिक नियोजन से संबंधित राज्यों की तुलना में केंद्र के पास वित्तीय संसाधनों पर संपूर्ण नियंत्रण होने के कारण तथा कई राज्यों के मुख्यमंत्रियों को दिल्ली से मनोनीत किए जाने की वजह से अधिकतर राज्य केंद्र के निर्देश पर ही काम करने को बाध्य हो जाते हैं। इससे राज्यों की स्वायत्तता का कोई अर्थ शेष नहीं रहा। भारत में बहुदलीय पद्धति का अस्तित्व है। आज निर्वाचन आयोग के पास 50 के लगभग राजनीतिक दल पंजीकृत हैं, किंतु कुछ क्षेत्रीय राज्यों के

प्रभुत्वशाली राजनीतिक दलों को छोड़कर राष्ट्रीय मंच पर केवल कांग्रेस, भारतीय जनता पार्टी और कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया के बीच ही राजकीय द्वंद्व दिखाई देता है। क्षेत्रीय दल 1989 से 2009 तक के बीच की राजनीति का केंद्रबिंदु बने रहे। यह काल गठबंधन सरकारों का था, जिसमें अनेक राजनीतिक दल कांग्रेस या भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व में स्थापित सरकारों में अवसरवादियों के रूप में शामिल होते रहे। इस प्रकार की गठजोड़ की राजनीति के चलते लोकतांत्रिक मर्यादाओं का हनन हुआ है। सत्ताप्राप्ति की होड़ में विपक्ष द्वारा सत्ताधारी पक्ष के किसी भी निर्णय का केवल विरोध करने की राजनीति के कारण संसद की चर्चाओं में संवाद का स्तर भी गिर चुका है। गठबंधन सरकार के दौर से उभरी राजनीतिक अस्थिरता के कारण नेताओं में भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिला है और नौकरशाही में पदलोलुपता की प्रवृत्ति का उदय हुआ है। इस होड़ ने संविधान के नैतिक पक्ष को पूरी तरह से अनदेखा कर दिया है। अल्पमत हासिल दलों द्वारा समस्त राजनीतिक तत्वों को अनदेखा कर बने बेमेल गठबंधन की सरकारें सत्तारूढ़ होती दिखाई देना भारतीय लोकतंत्र के लिए अत्यंत ही चिंताजनक है।

भारतीय राजनीति में अनेक प्रकार के दबाव समूह क्रियाशील हैं। जाति के साथ संप्रदाय, क्षेत्रीय भाषा व धर्म के तत्व राजनीति को अलग-अलग परिवेश में प्रभावित करते जा रहे हैं। राज्यों की राजनीति में विभिन्न दलों के किंतु किसी समान जाति के विधायकों द्वारा सिंडिकेट बनाना लोकतंत्र के ढांचे के लिए चिंताजनक है। गुटबंदी (Factionalism) की राजनीति से कोई भी दल नहीं बचा है। नेहरू युग की समाप्ति के पश्चात सरकारी राजनीतिक संस्थाओं के अवमूल्यन की प्रक्रिया भी तेज हुई है। अयोग्य व्यक्तियों को सिर्फ इसलिए पदों पर बैठाया जाता है क्योंकि वे सत्ताधारी राजनीतिक दलों से अपनी निष्ठा बनाकर रखते हैं। उनसे निष्पक्षता की आशा रखना व्यर्थ है। यदि कोई प्रामाणिक अधिकारी संस्थाओं को मिली स्वतंत्रता का इस्तेमाल करता है तो उस पर राजनीतिक दबाव बनाकर अवरोध उत्पन्न करने का प्रयास किया जाता है। राजनीति में अपराधीकरण के चलते अनेक अपराधी बाहुबल एवं धनबल के आधार पर संसद एवं विधानसभाओं में जा बैठे हैं। उनसे लोककल्याण से संबंधित किसी विषय पर गंभीर विवेचन की अपेक्षा करना ही व्यर्थ है। राजनीति में बढ़ता वंशवाद भी मौजूदा राजनीति का एक अत्यंतिक चिंताजनक पहलू है। कश्मीर से तमिलनाडु तक तथा राजस्थान से बिहार तक के क्षेत्रों में विभिन्न दलों से संबंधित अनेक ऐसे परिवार हैं जिनकी तीसरी पीढ़ी राजनीतिक पदों का लाभ उठाने के लिए लालायित है। इस वंशवाद के कारण लोकतंत्र में समान अवसर के तत्व निरर्थक बन चुके हैं।

अधिनायकवादी प्रवृत्ति के समर्थन से अनेक दुष्परिणाम सामने आ रहे हैं। डॉ. बी आर अंबेडकर ने जॉन स्टूअर्ट मिल का हवाला देते हुए कहा था– 'किसी महान व्यक्ति के चरणों में अपनी स्वाधीनता का समर्पण नहीं करना। किसी ऐसे महान व्यक्ति को सर्व सत्ता का अधिकारी नहीं बनाना जो तुम्हारी संस्थाओं को ही भ्रष्ट कर दे।' उन्होंने आगे और एक चेतावनी देते हुए कहा था– 'हिंदुस्तान को विदेशी शासन से मुक्ति मिली थी लेकिन यह अभी भी असमानता और कठोर पदानुक्रम द्वारा शासित हो रहा है।' उन्होंने सामाजिक विषमता तथा समाज में अधिनायकवाद को मिलते समर्थन के बारे में चिंता व्यक्त की थी। समय-समय पर नेताओं की उभरी अधिनायकवादी छवि भारतीय राजनीति में गंभीर रूप

टिप्पणी

धारण कर चुकी है। लोकतंत्र में प्रेस की भूमिका को भी नकारा नहीं जा सकता। वर्तमान समय में इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के टेलीविजन चैनल तथा प्रिंट मीडिया के अनेक समाचारपत्र किसी न किसी राजनीतिक दल की विचारधारा को ही प्रसारित किया करते हैं।

उपर्युक्त विश्लेषणों के आधार पर यदि देखा जाए तो लोकतंत्र के सारे नैतिक पक्ष नकार दिए गए लगते हैं। भारतीय जनता में लोकतंत्र की इस प्रणाली ने रोष उत्पन्न किया है किंतु चुनावों के द्वारा भारतीय लोग अनेक बार सत्ता परिवर्तन कर अपनी परिपक्वता का परिचय देते रहते हैं। इसी के कारण भारतीय लोकतंत्र में अब भी विकास की आशा बची है।

अपनी प्रगति जांचिए

5. किसे सर्वोच्च कार्यपालिका के रूप में मान्य किया गया?

   (क) राज्य को (ख) संसद को

   (ग) जिला को (घ) तहसील को

6. ब्रिटिश सरकार ने बंबई, कलकत्ता, मद्रास, लाहौर, इलाहाबाद और पटना में उच्च न्यायालयों की स्थापना कब की थी?

   (क) 1858 में (ख) 1859 में

   (ग) 1860 में (घ) 1861 में

5.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ग)
2. (ख)
3. (क)
4. (घ)
5. (ख)
6. (घ)

5.6 सारांश

यदि राष्ट्र-राज्य एक आधुनिक कल्पना है तो क्या इससे पहले विश्व में राष्ट्रों का अस्तित्व था या नहीं था..? यदि था तो उसका रूप क्या था? या भारत में इसकी क्या अवस्थाएं रही हैं, इस पर संक्षेप में एक दृष्टि डालना अनिवार्य है। यदि हम सिंधु सभ्यता को एक राजनीतिक इकाई मानें तो इस सभ्यता के उत्खनित स्थलों से प्राप्त अवशेषों के आधार पर स्पष्ट होता है कि इस सभ्यता में नागरिकों की सांस्कृतिक एवं धार्मिक परंपराएं तथा शासनप्रणाली और आर्थिक जीवन में भी कई साझा तत्व विद्यमान थे। ऋग्वेदकालीन भारतीय उपमहाद्वीप को आर्यावर्त, ब्रह्मर्षि प्रदेश या भारतवर्ष जैसी

संज्ञा से जाना जाता था। यह एक या दो गण या जन का क्षेत्र होता था, जिसे इस तरह की संज्ञा दी जाती थी। कालांतर में इन्हीं से जनपदों एवं महाजनपदों का निर्माण होता चला गया, जिन्हें हम मगध के साम्राज्य के रूप में देखते हैं। मौर्य शासकों के अधिपत्य में समूचे महाद्वीप को विशाल प्रशासनिक संगठन के राजकीय नियंत्रण के अधीन लाया गया। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में राज्य के शीर्ष 7 अंगों का उल्लेख किया है– राजा, अमात्य, कोष, दुर्ग, सेना, मित्र व शत्रु। इसे राज्य निर्माण का सप्तांग सिद्धांत (Saptanga Theory of State) कहा जाता है।

राष्ट्र एक सामूहिक जनइच्छा का अविष्कार है। एक राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति इतिहास में भी एक-दूसरे से बंधा होता है तथा वर्तमान काल में इन्हीं ऐतिहासिक धरोहरों से मिली विरासत के साथ ही जीता है। उसी प्रकार वह अन्य व्यक्तियों के साथ वंश के जैविक तथा भाषा, धर्म एवं परंपरा के सांस्कृतिक बंधनों के साथ जुड़ा हुआ होता है। इस तरह की एकता की भावना ही राष्ट्र को जन्म देती है। इस तरह की अस्मिता को समाजचिंतकों के विचारों द्वारा बल मिला। सुधारकों द्वारा आरंभ किए गए आंदोलन से राष्ट्र में सामूहिक चेतना द्वारा राष्ट्रीय जागृति और पुनर्जागरण (Awakening and Reawakening) का प्रयास किया गया। राष्ट्रीय आंदोलन के केंद्र में भाषा, समान साहित्य, इतिहास एवं मातृभूमि जैसे महत्वपूर्ण तत्वों को आधार के रूप में उपयोग किया गया। मिरोस्लान हॉक ने राष्ट्र निर्माण हेतु तीन तत्वों को आवश्यक माना है- समान इतिहास, भाषा और समान सांस्कृतिक विशेषता वाले (धर्म, जाति) जनसमूह।

18वीं तथा 19वीं सदी में भारत की राजनीतिक स्थिति का लाभ उठाकर अंग्रेजों ने समूचे उपमहाद्वीप के विशाल भूभाग पर अपना नियंत्रण जमा लिया था। ब्रिटिश साम्राज्य के प्रशासनिक संगठन एवं अंग्रेजी भाषा की शिक्षा नीति के कारण अनेक धर्म, भिन्न भाषाई समूह, पूर्वोत्तर के सीमांत प्रदेशों के भिन्न मातृभाषी लोगों में राष्ट्रीयता की भावना पनपने लगी। अंग्रेजी ने एक संपर्क भाषा का काम किया जिससे इन प्रादेशिक क्षेत्रों के शिक्षित लोग एक-दूसरे के समीप आए। इस नवशिक्षित वर्ग ने अंग्रेजी को आपसी व्यवहार, विचार-विमर्श एवं राजनीतिक चिंतन की भाषा बनाया। बंगाल, पंजाब, मद्रास और उत्तर भारत के हिंदी भाषी क्षेत्रों के कई नेता भारत के राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़े। आरंभिक राष्ट्रवादियों के ही प्रयासों द्वारा भारत में एक राष्ट्र की अवधारणा तथा राष्ट्रीयता की भावना का जन्म हुआ।

स्वतंत्रता के समय गठित संविधान सभा द्वारा स्वतंत्र भारत के रूप में भारत के संविधान का प्रारूप तैयार किया गया तथा 1950 से उसे लागू कर एक सार्वभौम राष्ट्र के रूप में भारत का निर्माण हुआ। उस समय भारतीय नेताओं एवं राज्यों के समक्ष कई चुनौतियां थीं, क्योंकि भारत ने एक ऐसी शासन व्यवस्था के प्रारूप को अपनाया था जो पश्चिम से उपजे मूल्यों पर आधारित थी। भारतीय जनमानस में राष्ट्र के उन तत्वों को स्थापित करना तथा अनेक धर्म, संस्कृति, संप्रदाय, भाषा, वंश, जातियों के विभिन्न लोगों को एक राष्ट्र व राज्यों के रूप में विकसित करना सबसे बड़ी चुनौती थी।

औपनिवेशिक शासन के अंत के पश्चात स्वाभाविक रूप में भारत की शासनव्यवस्था पर ब्रिटेन के लोकतंत्र की छाप पड़नी अनिवार्य थी। भारत ने ब्रिटेन के संसदीय लोकतंत्र के ढांचे के आधार पर भारत में एक नए राष्ट्रीय समाज के निर्माण का उद्देश्य तय किया।

टिप्पणी

यूरोप के अन्य देशों में पुनर्जागरणकाल के दौरान निर्मित व्यक्तिवादी मूल्य, धर्मनिरपेक्षता, कल्याणकारी राज्य की कल्पना एवं समाजवादी आर्थिक व्यवस्था की नीति को भी अपनाया गया। समाजवाद के माध्यम से लोकतंत्र में अवसर की समानता प्रदान कर योजनाबद्ध तरीके से भारत की बड़ी आबादी की गरीबी तथा उसमें व्याप्त बेरोजगारी जैसी महत्वपूर्ण समस्याओं का समाधान करना ही आरंभिक उद्देश्य माने गए। संविधान सभा द्वारा 3 वर्ष के कठिन परिश्रम से संविधान तैयार किया गया। 395 धाराओं और 8 अनुच्छेदों के साथ भारतीय संविधान दुनिया का सबसे बड़ा लिखित संविधान है। 26 जनवरी, 1950 से यह लागू किया गया। भारत के संविधान में कई देशों के मूल्यों का समावेश किया गया। राष्ट्र को एक कल्याणकारी राज्य के रूप में स्वीकारा गया। रूस के आर्थिक समाजवाद की कल्पना, स्विट्जरलैंड के कैबिनेट मंत्रियों के प्रत्यक्ष जनता द्वारा किए जाने वाले निर्वाचन के तत्वों तथा अमेरिका के संघीय ढांचे के प्रारूप को स्वीकारा गया। इन सभी तत्वों के सम्मिश्रण से भारत के संविधान द्वारा निर्मित राज्यव्यवस्था का ढांचा तैयार हुआ है।

5.7 मुख्य शब्दावली

- **सार्वभौम** : सारी भूमि-संबंधी, विश्वविख्यात।
- **संकल्पना** : संकलप करना, निश्चय करना।
- **अस्तित्व** : सत्ता, हस्ती, विद्यमान होना।
- **विस्तीर्ण** : फैला हुआ, विस्तृत।
- **संपृक्त** : संयुक्त, संबद्ध।
- **मंतव्य** : मानने योग्य, माननीय।

5.8 स्व-मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु-उत्तरीय प्रश्न

1. संयुक्त राष्ट्र संघ ने वर्तमान विश्व में कितने सार्वभौम राष्ट्रों का अस्तित्व मान्य किया है?
2. ग्रीक या खरोष्ठी लिपि में किसके अभिलेख अंकित हैं?
3. पंडित नेहरू ने हिंदू-मुसलिम की साझा संस्कृति को क्या माना है?
4. भौगोलिक एकता का क्या अभिप्राय है?
5. किसकी नीतियों के चलते भारत में एक पंथ निरपेक्ष तथा सौहार्दपूर्ण राजनीतिक दर्शन का निर्माण हुआ।

दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न

1. भारत में राष्ट्र-राज्य के विकास पर प्रकाश डालिए।
2. उपनिवेश शासनकाल से पूर्व के भारत की समीक्षा कीजिए।

3. राष्ट्र निर्माण के लिए आवश्यक तत्वों की विवेचना कीजिए।
4. स्वतंत्र भारत में राज्यों से जुड़ी चुनौतियों की चर्चा कीजिए।
5. भारत की राज्य व्यवस्था में विद्यमान संस्थाओं के स्वरूप में समय-समय पर हुए परिवर्तनों की व्याख्या कीजिए।

5.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1. श्रेण्य युग (आर. सी. मजूमदार)- मोतीलाल बनारसीदास।
2. प्राचीन भारत का इतिहास (शैलेंद्र सेंगर)- अटलांटिक पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स।
3. प्राचीन भारत का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास (धनपति पांडेय, अशोक अनंत)- मोतीलाल बनारसीदास।
4. पूर्वमध्यकालीन भारत (प्रशांत गौरव)- राजकमल प्रकाशन।
5. अशोक (राधा कुमुद मुखर्जी)- मोतीलाल बनारसीदास।
6. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतहास (ओमप्रकाश प्रसाद, प्रशांत गौरव)- राजकमल प्रकाशन।
7. नंद मौर्य युगीन भारत (के ए नीलकंठ शास्त्री)- मोतीलाल बनारसीदास।